

शालदुषाणि

प्राचीमुपेत्य पवनो प्रतिरात्र ह्वाम
तत्सीनपक्षमचिवा ममगाब्धयनाः ॥
प्राज्ञा यमोनिता ब्रिन्दश्च फलवन्तपनाः
पच्छन्न वोषधं विडाप्ये वाते तोकुलाम्भ

| ग्रं. ह्रास संख्या | पृ. | ग्रं. सं. | पृ. |
|---|---|---|---|
| ५ | ३० | २८ | |
| ६ | ३२ | ३० | |
| ७ | ७५ | ३१ | |
| ८ | ७७ | ३२ | |
| ९ | [illegible] | ३३ | |
| १० | ॥ | ३४ | |
| ११ | १०४ | ३५ | |
| १२ | ॥ | ३६ | |
| १३ | १०५ | ३७ | |
| | ॥ | | |
| १४ | १०८ | ३८ | |
| १५ | ११० | ३९ | |
| १६ | | ४० | |
| १७ | १११ | | |
| १८ | ११३ | | |
| १९ | १२४ | | |
| २० | १२८ | | |
| २१ | ॥ | | |
| २२ | | | |
| २३ | १३२ | | |
| २४ | १३५ | | |
| २५ | | | |
| २६ | १३७ | | |
| २७ | ॥ | | |
| [illegible] | | | |

REPRINT FORM THE PANDIT

( श्रीः )

# खण्डनखण्डखाद्यम्

नाम

## अनिर्वचनीयतासर्वस्वम्,

विचक्षणचक्रचूड़ामणिसमर्चितचरणाम्बुजकविताकिंकसार्वभौम-

श्रीयुतश्रीहर्षप्रणीतम् ।

तार्किकशिरोमणिश्रीमच्छङ्करमिश्रप्रणीतव्याख्यासनाथम्,

साधुप्रवरश्रीमन्मोहनलालवेदान्ताचार्योपनिबद्धया

उपवृत्त्या संवलितं च ।

काशीस्थराजकीयसंस्कृतप्रधानपाठशालास्थव्याकरणाचार्यपरीक्षायां

कतिपयखण्डोत्तीर्णेन निगालिये-इत्युपाह्वविठ्ठलशास्त्रिणा संशोधिता

द्वितीयावृत्तिः

तत्र—काश्याम्

बी० ए० श्रेष्ठिवरेण बाबू भगवती प्रसादेन स्वकीये

मेडिकल्-हाल नामकमुद्रालये मुद्रयित्वा प्रकाशितम् ।

सं० १९७३–१९१७ ई० ।

ANIRVACHANÍYATÁSARVASVAM

STYLED

# KHANḌANKHANḌAKHÁḌYAM

OF

## SRI HARSHA

FIRST EDITION (1888) EDITED BY

PANDIT MANMOHAN LAL VEDANTACHARYA.

THIS SECOND EDITION EDITED BY

PANDIT VITTHAL SHASTRI. SCHOLAR, SANSKRIT COLLEGE, BENARES.

PRINTED AND PUBLISHED BY
BHAGAVATI PRASAD, B. A. AT THE MEDICAL HALL
PRESS, BENARES, FOR PROPRIETORS
E. J. LAZARUS & Co., BENARES.

 1917. [*2nd Edition, 1000 C[illegible]*

*Price Rs. 7—8.*] [ मूल्यम् ७॥)

# शुद्धिपत्रम् ।

| पृ० | पं० | अशुद्धम् । | शुद्धम् । |
|---|---|---|---|
| ४७ | २८ | पर्यवस्तस्यति | पर्यवस्यति |
| ४८ | १७ | तच्छून्य | तच्छून्यं |
| ४८ | ६ | जिज्ञासुत्व | जिज्ञासुत्वे |
| ५१ | १५ | योगावार | योगाचार |
| ५४ | २८ | तदभारेण | तद्द्वारेण |
| ५४ | २८ | तदिक्तिश्च | तद्विक्तिश्च |
| ५५ | २ | अनुभूयेते | अनुभूयेत |
| ५५ | १२ | विक्तिशय | विक्तिशत |
| ५६ | १३ | अस्यां | अस्यां |
| ५६ | १४ | प्रकाशत्वैन | प्रकाशत्वेन |
| ५६ | १७ | तदयदाशाय | तद्युदाशाय |
| ५६ | २४ | विज्ञै | विज्ञैः |
| ५६ | २८ | विषयकत्वस्यपि | विषयकत्वस्यापि |
| ५६ | ३० | प्रपयासत्व | प्रत्यासत्या |
| ५७ | १८ | भवन्ति | भवति |
| ५७ | २२ | प्रसासयते | प्रमास्यते |
| ५७ | २३ | त्रय | त्रय |
| ५७ | २४ | द्वयि | द्वयो |
| ५८ | १५ | तद्गीकारे | तद्दूरीकारे |
| ५८ | २१ | तदुरीकारे | तद्दुरीकारे |
| ५८ | २६ | समवायः | समवायः |
| ५८ | २६ | गुणत्यात | गुणत्वात् |
| ५९ | ७ | तद्धर्माण | तद्धर्माणं |
| ५८ | २४ | बुनरग्रे | पुनरग्रे |
| ६० | २१ | ब्रह्मेव | ब्रह्मैव |
| ६१ | २३ | भेदसिद्धो | भेदसिद्धौ |
| ६२ | २० | कारणस्यैव | कारणस्यैव |
| ६२ | २६ | पेक्षेति | पक्षेति |
| ६३ | ३ | काय्यद्दति | कार्य्यमत |
| ६४ | ११ | किञ्चिति | किञ्चेति |
| ६४ | १४ | उपादानस्यति | उपादानस्येति |
| ६४ | १६ | वलात् | वलात् |
| ६४ | २६ | काष्ठ | काष्ठं |
| ६४ | २८ | सत्योग | सत्याग |
| ६५ | १५ | कर्मत्व | कर्मत्वं |
| ६५ | २६ | यपाश्रुतपाट | यथाश्रुतपाठ |
| ६७ | २५ | चत्वारौ | चत्वारो |
| ६७ | २६ | तमसुर्थ | तमसुमर्थ |
| ६८ | ७ | बहुव्रीहिः | बहुव्रीहिः |
| ६८ | ११ | पर्यवसास्यति | पर्यवस्यति |
| ७० | ३ | भ्युयेय | भ्युपेय |
| ७१ | ६ | सतासमवायः | सत्तासमवाय; |
| ७२ | ८ | लक्षकरण | लक्षकर्ण |
| ७२ | १ | स्वाविषयर्येपि | स्वाविषयेपि |
| ७३ | ६ | पर्यवसास्यति | पर्यवस्यति |
| ७५ | १३ | प्रमाणान्तपेक्ष | प्रमाणान्तरपेक्षा |
| ७५ | १६ | स्ववधाय | स्ववधाय |
| ७७ | १८ | दुगण | दूषण |
| ७८ | ७ | ब्रह्मतत्व | ब्रह्मतत्वे |
| ८० | ७ | शाक्यत्वा | शाक्यत्व |
| ८१ | २७ | निर्वाहात् | निर्वाहात् |
| ८१ | २४ | बीजाङ्कुखेद | बीजाङ्कुखद |
| ८२ | ७ | जेष्यामित्यतः | जेष्यामीत्यतः |

| पृ० | पं० | अशुद्धम्। | शुद्धम्। |
|---|---|---|---|
| ८२ | २० | निर्वह्यार्यि: | निर्वाह्यार्यि: |
| ८७ | ७ | तवापीष्टा-त्वत् | तवापीष्टत्वात् |
| ८७ | २४ | तत्वर्येण | तात्पर्येण |
| ८८ | १४ | कल्याभ: | कल्याम: |
| ८८ | १८ | यवलो | यवलो |
| ८८ | २१ | कार्यपराग: | कार्यौपराग: |
| ८८ | २३ | चाद्धिमा | चेद्धिंसा |
| ९० | २४ | नहोति | नहीति |
| ९१ | ३ | स्वभिन्न-त्यापि | स्वभिन्नस्यापि |
| ९१ | २२ | आरोप्या | आरोप्या |
| ९१ | २३ | पूर्वकत्वात | पूर्वकत्वात् |
| ९१ | २३ | फारोप्यरोप | आरोप्यारोप |
| ९३ | २५ | अग्निषोमवि | अग्नीषोमीय |
| ९३ | २५ | परबा | परवा |
| ९३ | २५ | विधिना | विधिना |
| ९४ | १ | महिवय | महिस्य |
| ९४ | २८ | वाकयस्य | वाक्यस्य |
| ९५ | २० | विशेषान | विशेषान् |
| ९५ | २१ | यालीन | यालीन् |
| ९५ | २२ | धर्नोप | धर्मोप |
| ९५ | २२ | प्रकृतेऽप्यभे | प्रकृतेप्यभेद |
| ९६ | २ | तत्प्रमाण्य | तत्प्रामाण्य |
| ९६ | २२ | परितिष्ठन्ती | परिनिष्ठन्ती |
| ९६ | २५ | मुत्पद्य | मुत्पाद्य |
| ९७ | ५ | पर्यवसन्तो | पर्यवस्यन्ती |
| ९७ | २२ | पार्ष्निग्राह | पार्ष्णिग्राह |
| ९७ | २५ | पार्ष्निग्राहै | पार्ष्णिग्राहै |
| ९८ | [illegible] | पार्ष्निग्राह | पार्ष्णिग्राह |
| ९८ | ३ | पद्यपि | यद्यपि |
| ९९ | ३ | व्याप्यव्या-पकौ | व्याप्यव्यापकौ |
| ९९ | ६ | बुड्व्या | बुद्ध्या |
| ९९ | १५ | स्वविषया-द्भेदो | स्वविषयाद्भेदो |
| १०० | १३ | सनुमा | सनुमानम् |
| १०० | १७ | प्रमाणस्येव | प्रमाणस्यैव |
| १०१ | ५ | नसु | ननु |
| १०१ | २८ | घटपटादे | घटपटादे: |
| १०२ | ६ | विषयभ्यो | विषयेभ्यो |
| १०२ | १८ | च्छेदकम | च्छेदकम् |
| १०२ | २२ | श्रुतिम | श्रुतिम् |
| १०३ | १ | व्यतिरेक | व्यतिरेक |
| १०३ | ८ | वीकृते | स्वीकृते |
| १०३ | १० | सर्वाद्वैतं | सर्वाद्वैतं |
| १०३ | १८ | निरस्याये- | निरस्यायो- |
| १०३ | २६ | पर्य्यवस्य-ताति | पर्य्यवस्यतीति |
| १०४ | २२ | पदि | यदि |
| १०४ | २४ | पर्यवसास्यति | पर्यवस्यति |
| १०५ | ४ | विषयब धस्य | विषयबाधस्य |
| १०५ | १९ | पवृत्तेनापि | प्रवृत्तेनापि |
| १०५ | २० | नैाचित्यस्प | नौचित्यस्य |
| १०५ | २० | तद्वैपरीत्य | तद्वैपरीत्य |
| १०५ | २४ | प्राण | प्रमाण |
| १०५ | २५ | प्रत्यक्ष | प्रत्यक्ष |
| १०६ | ३ | प्रवृत्तनापीति | प्रवृत्तेनापीति |
| १०६ | ८ | तत्परत्व | तत्परत्वं |
| १०६ | ९ | संवद्धयं | संवद्धयं |
| १०६ | १० | स्वोक्तावरोध | स्वोक्तविरोध |

| पृ० | पं० | अशुद्धम् । | शुद्धम् |
|---|---|---|---|
| १०६ | १५ | ह्रियमाण-ताया | ह्रियमाण-तायां |
| १०६ | १७ | बहुव्राहिः | बहुव्रीहिः |
| १०६ | १८ | मतिबन्धादे | प्रतिबन्धादे |
| १०६ | ३० | पर्यवसातव्य | पर्यवसातव्य |
| १०७ | १२ | अन्तिम | अन्तिम |
| १०८ | १६ | वाच्य | वाच्यं |
| १०८ | ८ | त्वद्धैचषि | त्वद्धचषि |
| १०८ | १० | भूत | भूत् |
| १०८ | १४ | यद्धौ | यद्धो |
| १११ | ८ | महति | मर्हति |
| १११ | १७ | चतुर्विधो | चतुर्विधौ |
| ११२ | १७ | प्रत्यक्षण | प्रत्यक्षेण |
| ११८ | १४ | स्पर्शमाण | स्पर्शमाण |
| १२१ | २७ | त्रिशकारिका | त्रिंशत्कारिका |
| १२८ | २८ | दोषापित्तरेव | दोषापत्तिरेव |
| १२८ | २८ | पदार्त्तित्वेन | पदातित्वेन |
| १३२ | २२ | औदस्पणे | औदर्पणे |
| १३५ | ४ | निवृत्तो | निवृत्तौ |
| १३६ | ६ | सिद्धि | सिद्धिः |
| १३६ | १४ | नैतरः | नेतरः |
| १३७ | १५ | पुंसा | पुंसां |
| १३७ | २३ | युर्क्ति | व्युक्ति |
| १३७ | २५ | इत्यनेनं | इत्यनेन |
| १३८ | २८ | सपक्षसत्त्वादे | सपक्षसत्त्वादेः |
| १३८ | ३० | अनुमानादिः रूपाः | अनुमानादि-रूपाः |
| १४० | ६ | विश्व | विश्वं |
| १४० | २१ | कथालम्ब्य | कथामालम्ब्य |
| १४१ | २७ | सिद्धताय: | सिद्धतायाः |
| १४५ | १७ | आक्षेयात् | आक्षेपात् |
| १४५ | २६ | साध्यस्येत-रभेभादेः | साध्यस्येतर-भेदादेः |
| १४८ | २८ | क्रियाकारित्व | क्रियाकारित्व |
| १४८ | २८ | खेन | दु;खेन |
| १५० | २४ | अङ्कुरादिक | अङ्कुरादिक |
| १५१ | ८ | रजतत्त्व | रजतत्त्वं |
| १५१ | ८ | शुक्तावतत्त्व | शुक्तावतत्त्वं |
| १५१ | १२ | तदशे | तदंशे |
| १५२ | २० | खण्ड्यते | खण्डयते |
| १५२ | २४ | तत्स्त्रायिनः | तत्स्नायिनः |
| १५२ | २४ | त्रिवेणीस्त्रा-यिनः | त्रिवेणीस्ना-यिनः |
| १५८ | ३ | इदन्तवि-शिष्टो | इदन्तावि-शिष्टो |
| १५८ | ४ | अभिन्नप्रचा-यम | अभिन्नप्रचा-यम् |
| १५८ | ६ | प्रत्येक | प्रत्येकं |
| १६० | ७ | संयोगप्रति-बन्दी | संयोगप्रति-बन्दी |
| १६८ | ११ | संशयखडनं | संशयखण्डनं |
| १७१ | २८ | अन्तरेण | अन्तरेणैव |
| १७४ | २२ | महकारित्व-पक्षे | सहकारित्व-पक्षे |
| १७८ | ६ | संस्कारज-त्वपि | संस्कारज-त्वेपि |
| १८२ | १० | प्रतिवन्दि | प्रतिबन्दि |
| १८४ | २५ | सस्कारोद्बो-धकं | संस्कारोद्बो-धकं |
| १८६ | १६ | तथास्तीति | तथासतीति |
| १८७ | ७ | मानान्तार | मानान्तर |

| पृ० | पं० | अशुद्धम् । | शुद्धम् । |
|---|---|---|---|
| १८७ | ८ | प्रतिवन्दि-माह | प्रतिबन्दिमाह |
| १८७ | १६ | तत्तांशमाष: | तत्तांशमोष: |
| १८७ | १८ | प्रतिवन्दि: | प्रतिबन्दि: |
| १९१ | २८ | बटे | वंटे |
| १९२ | ८ | सार्वद्वयमिद | सार्वद्वयमिदं |
| १९२ | १५ | स्मृतित्व | स्मृतित्वं |
| १९२ | १८ | धूमादनु-मिति | धूमादनु-मितिः |
| १९२ | २२ | अन्वय: | अन्वय: |
| १९८ | २३ | परिरहरति | परिहरति |
| २०० | २ | सवा: | सर्वा: |
| २०१ | ९ | स्मृतात्वपि | स्मृतावपि |
| २०२ | १५ | वविरहो | भावविरहो |
| २०५ | २८ | माभ्युपगम्यते | नाभ्युपगम्यते |
| २०८ | १२ | प्रमाकारणा-भावात | प्रमाकारणा-भावात् |
| २०८ | २० | विरो: स्यात्ध- | विरोध: स्यात् |
| २०८ | २९ | प्रतियोगित्व-नुयोगित्व | प्रतियोगित्वा-नुयोपगित्व |
| २१२ | १९ | अन्येन्याभावो | अन्योन्या-भावो |
| २१२ | २६ | आशङ्कायमाह | आशङ्काया-माह |
| २१५ | ११ | अनवस्थाना-तिदि | अनवस्थाना-दिति |
| २१६ | १५ | घटाभवो | घटाभावो |
| २१७ | २० | जगद्रूपभात्मा | जगद्रूपमात्मा |
| २१९ | १५ | तमासन्ता-भावे | तथासन्ताभावे |
| २२० | ८ | बाणायमाना | बाणायमाना |
| २२० | १४ | तस्माद | तस्मात् |
| २२० | २० | वाण: | बाण: |
| २२० | २० | वारवाण: | वारबाण: |
| २२० | २१ | वारवाणो-ऽस्त्री | वारबाणो-ऽस्त्री |
| २२२ | १५ | प्रतिक्षंपात्म-कतैव | प्रतिक्षेपात्म-कतैव |
| २२३ | २८ | स्मुतित्व | स्मृतित्व |
| २२५ | १६ | कारणादीह | कारणादी इति |
| २२९ | १८ | कारणत्व | कारत्वं |
| २३० | २१ | कार्यतावच्छे-दक | कार्यतावच्छे दकं |
| २३१ | ७ | पत्येक | प्रत्येकं |
| २३२ | १० | कृषीबला | कृषीवला |
| २३३ | ३ | व्यभिचारि-करण | व्यभिचारि-कारण |
| २३४ | १७ | तग्य | तस्य |
| २४२ | १२ | अशबाधमा-त्रेण | अंशबाधमा-त्रेण |
| २४२ | १५ | विषयत्यात् | विषयत्वात् |
| २४४ | ८ | तदहि | तदिह |
| २४५ | २५ | घटोगं | घटोयं |
| २४६ | २७ | वारवाणाय-माना | वारबाणाय-माना |
| २४७ | १४ | प्रामाण्या-प्रमीतो | प्रामाण्या-प्रतीतौ |
| २५१ | २८ | उक्तदूणानि | उक्तदूषणानि |
| २५६ | २७ | भोजनोत्तर | भोजनोत्तरं |
| २५८ | २७ | अप्रमाया | अप्रमायां |
| २६१ | २८ | तयाच | तथाच |
| २६२ | ११ | सत्यात्ता-श्रय: | सत्यात्माश्रय: |

# शुद्धिपत्रम् ।

| पृ० | पं० | अशुद्धम् । | शुद्धम् । |
|---|---|---|---|
| २६४ | ८ | उोमिति | ओमिति |
| २६४ | २८ | उोमित्या-भिधाने | ओमित्यभिधाने |
| २६४ | २८ | भाबः | भावः |
| २६५ | ५ | उोमिति | ओमिति |
| २६५ | ८ | लिङ्गितस्य | लिङ्गितस्य |
| २७१ | ५ | उोम् | ओम् |
| २७२ | १८ | आत्माश्र-यादिति | आत्माश्रया-दिति |
| २७२ | १८ | गुद्धस्य | बद्धस्य |
| २७२ | २८ | अवयादी. | अव्याप्तिः |
| २७२ | २८ | द्रष्टाव्य | द्रष्टव्या |
| २७५ | ८ | व्याप्ता | व्याप्ति |
| २७५ | १० | धूमादि | धूमादि |
| २७७ | २८ | अभवादि | अभावादि |
| २७८ | २१ | प्रतिवन्दि | प्रतिबन्दि |
| २८१ | २५ | अप्ययि | अप्यपि |
| २८२ | ११ | उोम् | ओम् |
| २८२ | १६ | भृत् | मृत् |
| २८८ | २७ | तद्बहुव्रीहिः | तद्बहुव्रीहिः |
| ३२१ | २१ | करणत्वां-ङ्गीकार | करणत्वाङ्गी-कार |
| ३३५ | २३ | दुरुत्तर | दुरुत्तरः |
| ३३४ | २३ | चयवरा-भिन्यौ | चेश्वराभिन्नयौ |
| ३३४ | २७ | भ्रान्तिविद्ध | भ्रान्तिविद्धं |
| ३४८ | २४ | सूचयेत | सूचयेत् |
| ३४८ | २५ | माङ | माङ् |
| ३४८ | १८ | अनुमित्या-दित्रये | अनुमित्या-दित्रये |
| ३४८ | २२ | विशेषणत्व | विशेषणत्वं |
| ३४९ | २० | अनुमान-भिधीयते | अनुमानमभि-धीयते |
| ३४९ | २२ | संपग् | सम्यग् |
| ३५० | २७ | धूमादिकात्र | धूमादिमात्रे |
| ३५२ | २५ | वह्वथिन | बह्वचर्थिनः |
| ३७७ | २४ | तत्रैत्यर्थः | तत्रेत्यर्थः |
| ३८५ | १८ | सिद्ध्या-भावः | सिद्ध्यभावः |
| ३८५ | २८ | दुगन्धानु-मित्या | दुर्गन्धानु-मित्या |
| ३८६ | २४ | बाहुल्य | बाहुल्यं |
| ३९६ | २७ | पृच्छति | पृच्छति |
| ४०१ | २ | यत्वयलो-पादेः | यत्वयलोपादेः |
| ४०१ | २६ | यत्वपलो-पादेः | यत्वयलोपादे |
| ४०४ | २३ | विषयप्रति-निमतः | विषयप्रति-नियतः |
| ४०५ | २७ | प्रकापक्षम-वस्य | प्रमापक्षमव-लम्ब्य |
| ४१८ | २५ | वापिं | वापि |
| ४२० | २८ | प्रत्यक्ष | प्रत्यक्ष |
| ४७७ | २७ | अधिकपदा-र्थावगाहित्व | अधिकपदा-र्थावगाहित्व |
| ४७८ | २४ | विश्रातम् | विश्रान्तं |
| ४८० | २६ | सत्प्रतिंपक्षस्य | सत्प्रतिपक्षस्य |
| ५२८ | ७ | प्रतिवन्दी-करोति | प्रतिबन्दी-करोति |
| ५२८ | १४ | प्रतिवन्द्या | प्रतिबन्द्या |
| ५२८ | १६ | प्रतिवन्द्या | प्रतिबन्द्या |
| ५२८ | २६ | प्रतिवन्दी-करोति | प्रतिबन्दी-करोति |
| ५६० | २६ | व्यत्पानीय | व्युत्पादनीय |
| ५८१ | २६ | प्रहेडिका | प्रहेलिका |

(श्रीशः)

("इदंप्रथमसंभवत्कुमतिजालकूलङ्कषा
मृषामतविषानलज्वलितजीवजीवातवः ।
क्षरन्त्यमृतमक्षरं यतिपुरन्दरस्योक्तय-
श्चिरन्तनसरस्वतीचिकुरबन्धसैरन्ध्रिकाः ॥
कपर्दिमतकर्दमं कपिलकल्पनावागुरां
दुरत्ययमतीत्य तद्द्रुहिणतन्त्रयन्त्रोदरम् ।
कुदृष्टिकुहनामुखे निपततः परब्रह्मणः
करग्रहविचक्षणो जयति लक्ष्मणोऽयं मुनिः" ॥)

## ॥ भूमिका ॥

—:o:—

इह खलु निसर्गत एव प्राणिमात्रमिष्टमभिलाषुकञ्चाऽनिष्टं व्युदसिसिषु च भवतीतीष्टाऽनिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनैदम्पर्येण भगवानाम्नायश्चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यप्रभृतिविभागप्रविभागभक्तान्यभ्युदयसाधनानि समष्टिव्यष्टिफलानि नानाविधानि विदधदभिदधौ निःश्रेयससाधनमपुनर्बोधं प्रत्यगात्मपरमात्मयाथात्म्यावबोधं प्रविरलेभ्योऽपि धीरधौरेयेभ्यः । 'क्रिया हि नाम विकल्पनाऽऽस्पदं भवति, नतु वस्त्वि'त्येवरूपमप्याऽऽत्मयाथात्म्यमतिलौकिकतया च परमतमगहनमूर्त्ततया च, पुरुषबुद्धिवैविध्याच्च भगवल्लीलावैभवमिवेयत्तया चेदृक्तया च दुष्परिच्छेदमापेदे परःशतरूपताम् । तथाहि, आत्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिकमातिष्ठन्ते तार्किकाः ; भोक्तृत्वमेव तस्य, न परं कर्तृत्वमपीति सङ्गिरन्ते कपिलकमलासनाद्यनुगामिनः । आसतां वा तावत्परेषां कथाः ; औपनिषदा एव परस्परविलक्षणनानाविधसिद्धान्तेषु समासते समर्पितसमादराः । न चैतेऽत्राप्येव राद्धान्तावभेदाः, महर्षीणामेव तेषु तेषु विशेषेषु वैशेष्यात्(१) ।

(१) यथा चायमर्थस्तथोदीच्यमीमांसायां भाष्यकारेण व्याख्यात-

तदेवमतितरामगाधं विश्वपारदृश्वनामपि मतिविकल्प-
कल्पनक्षममौपनिषद्धार्दं मीमांसामास निबबन्ध च ब्रह्ममीमां-
सासमाख्यया "अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासे"त्यादिचतुर्लक्षण्या भग-
वतो वासुदेवस्य ज्ञानावतारः खल्वऽज्ञानसन्तमसापसारणविभा-
वसुर्महर्षिव्यूहशिखाशेखरसमासक्तस्वर्गङ्गोदबिन्दुसन्दोहप्रोन्मृ-
ष्टचरणनखरशिखरस्तत्रभवान् भगवान् बादरायणद्वैपायनाऽपर-
पर्यायः कृष्णः पाराशर्यः । भगवान् बोधायनस्तु ब्रह्ममी-
मांसायाश्चोपनिषदां च भगवद्गीतोपनिषदां च परमगहनैद-
म्पर्यमाविश्चिकीर्षन् प्रणिनाय वृत्तिव्यपदेशभाञ्जि भाष्या-
णि । तस्य च महर्षेर्मतं तत्र शाङ्करभाष्ये पूर्वपक्षत्वेनोपन्यस्त-
त्वाद्रामानुजभाष्ये च राद्धान्तविधया भूयःप्रतिष्ठापितत्वात्
समस्ति स्म विशिष्टाद्वैतमिति नो खलु परोक्षमिव परीक्ष-
काणाम् ।

तदेतदाकल्पाऽऽरम्भोद्भूतानवरतप्रतताविच्छिन्नाऽऽर्ष-
संप्रदायपारम्परीपरिप्राप्तौपनिषद्धार्दमेवंस्वभूतं वृत्तिकारमतं
भगवद्भिष्टङ्कद्रमिडगुहदेवादिमुनिभिः प्राचीनाचार्यैराराधितं श्री-
भाष्यकृता च प्रोज्जीवितमद्यापि विद्योतमानमवगाहते यद्यपि
प्रतीपतां निर्विशेषाद्वैतवादस्य,(१) ततोऽपि श्रीमन्तः शङ्करा-
चार्या युक्तिवाचोयुक्तिपथस्य सुदीर्घव्याख्यास्तत्प्रातिकूल्याद्

याद्यधिकरणेषूपनिबद्धो, न वा परोक्षइव नानौपनिषद्दर्शनाकरपरि-
शीलनशीलशालिन मृद्गति नेह दधिमुखलीयतया प्रतायते ।

(१) "तत्त्वमसी"ति सद्विद्यायामुपास्यं ब्रह्म नाम्निरूप्य फलमिति
पूर्वाचार्यैर्व्याख्यातम् । यथोक्तं वाक्यकारेण—"युक्तं तद्गुणकोपासना-
दि"ति । व्याख्यातं च द्रमिडाचार्येण विद्याविकल्पं वदता—"यद्यपि
सद्विद्यानिष्ठः सचित्तो न निर्भुग्नगुणगणं मनसाऽनुधावेत्, तथाप्यन्तर्गुण-
णमेव देवतां भजते, तत्राऽपि सगुणैव देवता प्राप्यत" इति । सञ्चि-
त्तः—सद्विद्यानिष्ठः, न निर्भुग्नगुणगणं दैवतं मनसाऽनुधावेत्—अपहत-
पाप्मत्वादिगुणगणं दैवताद्विभक्तं यद्यपि दहरविद्यानिष्ठइव सञ्चित्तो न
स्मरेत् तथाऽप्यन्तर्गुणगणां देवतां भजते—देवतास्वरूपानुबन्धित्वात् सक-
लकल्याणगुणगणस्य केनचित् परदेवतासाधारणेन निखिलजगत्कारण-
त्वादिना गुणेनोपास्यमानापि देवता वस्तुस्वरूपानुबन्धिसर्वकल्याणगु-

बिभ्यतो बिभ्रतश्च चरमतात्पर्यमपि वितण्डाकथायां (१) निर्विशेषवस्तुपरतयैवाऽलीलपन् (२) निसर्गतोविशुद्धमुग्धमधुरशाश्वतसारस्वतभगवदादेशतन्मीमांसादिकं (३) यथायथम् । अथाऽप्यस्याद्वैतवादस्य युक्तिप्रायग्रहगृहीतविग्रहतया शाङ्करभाष्यादेश्च श्रुतिस्मृतिसूत्रानुसारितयैवावश्यमुपनिबन्धनस्या-

---

णविशिष्टैवोपास्यते । अतः सगुणमेव ब्रह्म तथापि प्राप्यमिति सद्विद्यादहरविद्ययोर्विकल्पइत्यर्थः—इति हि भगवन्तो भाष्यकाराचार्यचरणाः । सुव्यक्तिमिदमेवमादिना निपीतस्फीतौपनिषदहार्दसुधारसानां यथा खल्वनवच्छिन्नः पूर्वौपनिषदाचार्याणां सिद्धान्तः सविशेषब्रह्मवादो निर्विशेषब्रह्मवादस्तु तदीयस्वप्नसंभावनायामप्यनभ्यासमित्यः ( दूरतः परिहार्यः ) इत्यलं राजपथस्य वीथिकोपलक्षणयेति ।

( १ ) "अथ काऽविद्या कस्येति । यस्य दृश्यते तस्यैव । कस्य दृश्यतइत्यत्रोच्यते अविद्या कस्य दृश्यतइति प्रश्नो निरर्थकः । कथम्—दृश्यते चेदविद्या तद्वन्तमपि पश्यसि । न च तद्वत्युपलभ्यमाने सा कस्येति प्रश्नो युक्तः ( भगवद्गीता १३ अ० क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धीत्यस्य शाङ्करभाष्यम् ) इत्यादौ व्यक्तोऽयमर्थो दूरदर्शिनाम् ।

( २ ) यत्र खलु "सूत्राभिप्रायसंवृत्या स्वाभिप्रायप्रकाशनात् । व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तय" इति स्वयमद्वैतवादिनः सन्तोऽपि श्रीभास्कराचार्याः (वेदान्ताचार्याएते न तु ज्योतिषिकाः) व्यक्तमुत्क्रन्दन्तः सन्ति स्वीयमीमांसाभाष्ये । आनन्दमयाद्यधिकरणेषु च 'सूत्राणि त्वेवं व्याख्येयानी' त्यादिना विलक्षणलक्षणादिशरणीकारसरणीसंचारेण व्याचक्षाणानां श्रीमच्छङ्कराचार्याणां सूत्राभिप्रायसंवृत्या स्वाभिप्रायप्रकाशनं यथास्ते, न खलु तत्परोक्षं दीर्घदर्शिनाम् ।

( ३ ) "न द्वैतं नाऽद्वैत" मित्येवञ्जातीया श्रुतिरेव निर्विशेषाद्वैतं प्रतिषेधति, । तथा

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षरएव च,, ।
"यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः,, ॥
"मम साधर्म्यमागता., ।
नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च" ।
असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्" ॥

इत्यादिना भगवानपि; तथा "नाऽभावउपलब्धेः" "हार्दानुगृहीतः शताधिकया" "जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च"

(१)ऽऽनतितत्वाच्च नैतावताऽप्यतीवनिरामयतामागतोऽद्वैतवादः । अयं हि वादः संभावनातिक्रान्तनिर्विशेषाऽद्वयतत्त्वं प्रतिपादयञ्जनानां मनस्सु सहसा स्खलन् विहस्तोऽप्यनिर्वचनीयतावादेनैव दत्तहस्तावलम्बः प्रतितिष्ठति । न चाऽधिवितण्डं निर्भरवतोऽस्याऽनिर्वचनीयतावादस्याऽऽगमप्रधानकथासु सुस्फुटमात्मलाभो भवति संभवी । न चाऽनाद्यविद्योच्छ्वासप्रपञ्चादेः सर्वथाऽनिर्वचनत्वमन्तरेण केवलाद्वैतस्वाराज्यसमासादनं संघटत इति केवलाद्वैतवादवदावदो वितण्डाकथां शरणतया साक्षादेव(२) पुरस्कुर्वाणो निखिलसंव्यवहारमूलभूतप्रमाप्रमाणप्रभृतिपदार्थान् स्वोपयोगिनस्तिलशस्तिलशः कदलीकाण्डखण्डनसुखं खण्डयन् सार्वथाऽनिर्वचनीयतां समष्टिव्यष्टिजगतः प्रतिपादयाम्बभूव खण्डनखण्डखाद्याख्येऽस्मिन् निबन्धे श्रीमान् श्रीहर्षः कवितार्किकशिरोमणिः ।

अयं खल्वनिर्वचनीयतावादो मिथ्यावादिनां बौद्धानां सिद्धान्तसर्वस्वभूतस्तदीयग्रन्थेषु पुरा भृशमभ्युज्जृम्भते स्म । समनन्तरं बुद्धिमद्भिर्वृन्महेन्द्रश्रीशबरस्वामिकुमारिलभट्टाद्यर्वाचीनमीमांसकधुरीणैः शत वा विज्ञानवादिमते युक्तिकलापैर्नि-

---

“एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः” इत्यादिना शास्त्रकारश्च ॥

(१) “नाऽभाव उपलब्धेः” रित्याद्यधिकरणेषु शास्त्रेऽयमर्थो यथा, तथा दार्शनिकशिरोमणीनां सुव्यक्त एव ।

(२) “न च सौत्रादिलक्षणप्रमाणखण्डनेऽपसिद्धान्तापत्तिः, तादृश्याः सूत्रादिव्याख्यायाः खण्ड्यमानत्वात् । न च वाच्यं लक्षणविशेष—वस्तुव्यवस्थापकप्रमाणविशेषखण्डनपरत्वेन लक्षणान्तरं प्रमाणान्तरं व्याख्यान्तरञ्च प्रसज्यते भवतोऽपीति ; वितण्डाकथामालम्ब्य खण्डनानां वक्तव्यत्वात्” इति स्वयमयं ग्रन्थकारः । “उपपादनञ्च स्वपक्षसाधनपरपक्षनिराकरणाभ्यां भवतीति तदुभयं वादजल्पवितण्डानामन्यतमां कथामाश्रित्य संपादनीयम्” इत्यद्वैतसिद्धिकृदपि वैतण्डिकतां स्वस्य रोचयते । एतेनाऽदृष्टाऽश्रुततदीयरहस्यानामृजुकाणां केषाञ्चित् “वेदान्तिनस्ते कथं स्युर्वैतण्डिकाः । नास्तिकाः खलु वैतण्डिका भवन्ति नाऽऽस्तिकाः” इत्यभिधानं लब्धोत्तरम् ।

रस्ते, संजातायां च तदीयविरलतायां तदीयेष्वेव पुस्तकेषु यत्र कुत्रचिदुपलभ्यते स्म । अथ समतिक्रामति चिरकालेऽयं खलु महामनीषी स्वोपयोगिनं त विज्ञाय तदीयपुस्तकेभ्यः प्रायः सकलयां चकार । यथाऽत्र भारते बौद्धानां मनोज्ञम्भणमासीत्तरां, तथा विदुरैवैतिहासिकाः, पुराणेष्वपि च पठ्यते, यथ-बुद्धोऽवतीर्य विज्ञानवादेन जगति जनमनस्सु मोहं कलौ कल-यिष्यतीति ।

आसीच्चायं खण्डनकृत कान्यकुब्जाधीश्वरस्य विद्वद्गोष्ठ्यां समधिकप्रतिष्ठो वरिष्ठस्तदस्य समयस्तात्रदुपरिष्टादष्टशत्या अन्तश्च नवमशताब्द्या इतः पुरस्ताद् भवितुमर्हति । तथाहि- "ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरा"दिति त्वयं स्वयमेव विलिखति; तदीदं ह्यस्य विलेखनं स्पष्टमाचष्टे कान्य-कुब्जाधीश्वरात्ताम्बूलद्वयाद्युपलम्भस्य परमतमवैदुष्यप्रतिष्ठा-हेतुताम्; सेयञ्च तस्य कान्यकुब्जाधीश्वरीयसाम्राज्यमन्तरा न संघटते; यदि हि कान्यकुब्जाधीश्वरो राजान्तरसाधा-रणएवाऽभविष्य, त्ततो हि यथैव राजान्तराणि, तथैवैकः कान्य-कुब्जाधीश्वरोऽपीति ततस्तदुपलम्भः किमिव नाम चमत्कार-कोऽभविष्यत्; कथं नाम पारीक्ष्यदीदृशस्य लोकोत्तरकवेः प्रत्यभिज्ञाबहुमानवाचोयुक्तिपदवीम्; तथात्वेऽपि चैवंविलेख-नमस्य विद्वन्मणेर्व्यक्तं स्थले जलकबीजारोपणं स्यात । तत्सिद्धं स कान्यकुब्जाधीश्वरस्सम्राडासीत। न च कान्यकुब्जाधीश्वराणां साम्राज्यमितोऽष्टशत्याः, परं, पुरस्तादेवाऽस्तीत्यस्याऽपि सिद्धा तत्कालीनता ॥ किञ्च. नैषधीयचरितेऽस्ति लिखितं खलु-

"काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिर्महा ।
काव्ये तद्भुवि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत् षोडशः" ॥

इति; कश्मीरे महीयांसो विद्वांसो ऽष्टशत्याः पूर्वपूर्वा-मेवाभूवन्नितोऽपि तत् तथा ।

अपिच, काश्मीरदेशीयलब्ध(१) वर्णेष्वेतदीयप्रबन्धानां

(१) विद्वज्जनेषु ।

अयं च कान्यकुब्जब्राह्मणस्य श्रीहीरविपश्चितस्तनूभवोऽभवत् । यच्च केचन मैथिलाः श्रीहर्षमिश्र इति व्याहरन्तो मिश्रपदव्याभिश्रनामव्यवहारमात्रात्तदीयां मैथिलतां साधयितुं समीहन्ते; न तन्मिश्रोपपदत्वं समस्तप्रामाणिकजनसुविश्रुतकान्यकुब्जतां(१) प्रत्यावर्त्तयितुमीष्टेतमाम् । मिश्रोपपदत्वं च मिश्राऽऽस्पदकान्यकुब्जत्वेन प्रथते जगत्प्रख्याते चैतदर्थे नैव कृतात्मनो मुधा मुधा शङ्कन्तइति न पुनर्विशिष्य तद्धेतूपन्यासादिना वस्तरयामः ।

भवति चाख्यायिकाऽस्य विद्वन्मणेश्चरिते यथा—"अयमसौ दैववशाद्बाल्यएव भवन् पितृवियोगभाग्जनन्यैव केवलं चिराल्लब्धएकलोयमपत्यं मे सन्तानतन्तुरित्याकलयन्त्या पत्याऽपि चरमसमयेऽपत्यसंरक्षणएव सर्वथाऽऽदिष्टया भर्तृवियोगेन दग्धारण्यप्रायं जगत् प्रतियत्याऽपि पालितश्च लालितश्चाऽऽस्त कुलक्रमाऽऽगतविद्वत्तामाहात्म्यात् स्वपितृव्यादिकोटिकजनान्तिके किञ्चित्किञ्चिद(२)धीयन् । एव पञ्चषवर्षदेशीयएव च जातु प्रसक्तानुप्रसक्ततया क्वचन लोकैरुपकथ्यमानं केनचित्पण्डितेन मुधाकृतं स्वपितुः शास्त्रविमर्शे ऽवमाननाकर्ण्य विदीर्णहृदयस्तत्क्षणमेव सुजैत्रमुत्साहं यवैदुष्यकाम्यया देवतामुपासितुमध्यवसौ ।

ततोऽनतिचिरस्य सरस्वतीं देवीमुपासितुमुद्युक्तोऽय बालस्याल्पसत्वतया यथावद्विधेरनिर्वहण सम्भावयन्त्या-

क्वचित्तत्पुस्तकनिरुक्तरूपतत्तद्देशदर्शननिर्देशप्रधानाश्च क्वचित्सन्तीति तेष्विदं मदीयमल्पकं चेतो न खलु समश्नुतेऽध्यवसायमिति तानत्र नोपन्यास्यं प्रमाणतया । एवं वासवदत्ताभूमिकायां तत्तदीयस्वतन्त्रपुस्तकेष्वप्येतद्विषयकेषु च बहु गवेषितं दृष्टञ्च. परं नेदं ज्ञानलवदुर्विदग्धं मामकं चेतः प्रापल्लघिमानमित्यनापत्त्या यत्किञ्चित्स्वतन्त्राभिमानात्र विषये चेष्टितमनेन, तत्क्षाम्यन्तु दयविद्वत्तोदन्वन्तस्ते सन्तः ।

(१) कान्यकुब्जनगरे भूरयो गृहाः संसन्त्या,ऽऽवीक्षते च ते एतत्संतानप्रतानरूपतामात्मनः । एतेन काश्मीरत्वमस्योत्पश्यन्तएकछ्रा जना जातोत्तराः संजाताः ।

(२) विशेषे शता ।

जनन्या प्रथमं निवार्यमाणोऽपि च न विकृताशयोऽभूत्, एतदै-न्तमहासरवतया प्रसीदन्त्याऽनुमोदितश्चारेभे तच्चिन्तामणि-मन्त्रतद्यन्त्रजपार्चनादिना प्रसादयितुं वागधिदेवताम् । तदेवं यथाशास्त्रमनुतिष्ठतोऽल्पवयसोऽप्यस्य कयाचन काल-कलया प्रतिबभूवऽव्याहता प्रतिभा । निश्चक्राय चायं, यथा सुप्रसन्ना देवता, जातञ्च नः समीहितामिति । ततोऽयं सकृदीषन्मात्रगुरूपदेशेन सुबहुप्रतिभातशास्त्रार्थो नाति-चिरेणैव कालेनाऽचकलतमां चतुर्दश विद्याश्चोपविद्याश्चापि नास्तिकतन्त्राणि । अथाऽयं कान्यकुब्जाधीश्वरस्य परिषदि व्यजेष्ट तं, यो ऽस्ति स्मास्य पितुरमन्तृचरः ।

राजेश्वरेण च सबहुमानं कान्यकुब्जनगरमेव स्वराज-धानीमधिवासितोऽभूतत्तमां तमेवाऽऽश्रितः । यदा यदा च महीमहेन्द्रसंसदभगा, तदाऽधिकार्होऽऽसनमविन्दत ताम्बूले च, विद्वदुत्तराणि चैकैकमेवाऽविदन्त"—इत्यादिर्बहीयसी विद्वज्जन-प्रसिद्धा । भवेदपि यथार्थैव । अथाऽपि नास्ति ग्रन्थोपनिबद्धेति सर्वसमष्ट्या तस्यास्तथात्वे प्रामाणिकबहुज्ञविद्वज्जना एव प्रमा-णम् । नचाऽत्रासंभूतत्वाऽस्ति कश्चिदर्थ इति वयमपीत्थ-मिदमिति मन्यामहे ।

देवताऽऽराधनजन्यपरमतमवैदुष्यादिषु तु तेष्वर्थेषु नास्त्येवतरां कथमपि कस्य चिदपि बुद्धिमतो विशयो नाम । भवति चात्र प्रमाणं नैषधीयचरितम् । तथाहि, तस्य प्रथमस-र्गान्तिमश्लोके "श्रीहर्षमि"त्यादिश्च चतुर्दशे च सर्गे "अवामा वामे" त्यादिः संदर्भ(१) "तव च तत्र वृत्ते कवयितुः" "भवद्-वृत्तस्तोतुर्मदुपहितकण्ठस्य कवितुरि" त्येवमादिना स्पष्टमाचष्टे देवताप्रसादलब्धामस्य कवयितुर्विद्वत्ताम् ॥

(१) (८५-८८) स सन्दर्भः प्रतीक्यतएव, नत्वशेषतयोपन्यस्यते विस्तरभयात् । अवामावामेत्यादेः पद्यस्य यथा मन्त्रात्मकत्वं, तथा कस्यां चिदप्येकस्यामेतद्व्याख्यायामवलोकनीयम् । तव वृत्तौ कव-यितुरित्येवं जातीयकेन वाङ्मयेनात्मानमभिसंदधाति ग्रन्थितेत्यवदधतु सुधियः ।

नैषधीयचरित, अर्णववर्णन, शिवशक्तिसिद्धि, साहसाङ्कचम्पू, छन्दप्रशस्ति, विजयप्रशस्ति, गौडोर्वीशकुलप्रशस्ती: काव्यनिबन्धान्; ईश्वराभिसन्धि, खण्डनखण्डखाद्य, स्थैर्यविचारणप्रकरणानि च शास्त्रीयसन्दर्भान् सोऽयं धीरधौरेयोनेकधाऽतिधिषणस्तदानीमप्रतिसंख्येयमङ्ख्यावान् वाराशिमिव भगवान् कुम्भसम्भवश्चुलकयन् तत्सारस्वतसर्वस्वं न्यभान्त्सीत् पीयूषवर्षिणो दीर्घदर्शिहर्षिणो लोकोत्तरानितराऽतिदुष्करान्; येषां सुधाम्भोनिधीनामगाधहार्दानामप्रतिमयुक्तिरत्नैकभुवां महाप्रमाणसत्वानां परमरमणीयानामप्यतिविभीषणविवर्त्तभाजां संपर्केण ऋजवोऽपि जनाः कणानणुमात्रानप्यासाद्य सपद्यन्ते गीर्वाणायमानाः ।

तत्र नैषधीयचरितं जगति को वा पण्डितमानी न वेद । अन्येषान्तु ग्रन्थानां पुस्तकानि प्रायो नास्मादृशां भवन्ति दृग्गोचराः, स्तथापि तन्नामान्येव सन्तु साक्षिणो वर्ण्येषु; ।

यथा–अर्णववर्णनं नाम समुद्रमन्थनवर्णनं स्यात् । शिवशक्तिसिद्धिरिति शिवनाम्नो नृपस्य शक्तिप्रकाशकतच्चरितवर्णनमयं स्यात्; गौरीगिरिश(१)माहात्म्यवर्णनस्वरूपन्तु न स्यादित्यपि कोवेद । साहसाङ्कनाम्नो महाराजस्य चरितमयी खलु साहसाङ्कचम्पूर्नाम(२) छन्दप्रशस्तिरहितच्छन्दनाम्नो राज्ञः कीर्त्तिसंकीर्तनम् । विजयप्रशस्तिः कस्यचन महाराजस्य शत्रुसङ्ग्रामाङ्गणे विजयप्राप्तिवर्णनम् । गौड़ोर्वीशकुलप्रशस्तिश्च गौड़देशाधीश्वरराजवंशवर्णनं रघुवंशादिकल्पमिति ।

ईश्वराभिसन्धिस्तु मायिकत्वेऽपि जगतो यथेश्वराज्जन्मस्थेमभङ्गभाक्त्वं, तथाभावनिरूपणं बौद्धमतनिराकरणं प्रतिमावो

(१) परं, स्त्रीयसमर्पकपदानां पुंसमर्पकपदेभ्यः प्राक्प्रयोगस्य दर्पतिकुन्द्धस्थलेऽत्यावश्यकतया प्रकृते च तदसत्वात्तु पुनर्नेदं सुष्ठु । यद्यपि नेदं पाणिनीयानुशासनानुशिष्टमथापि बालानां प्राथमिकदिग्दर्शनं तदिति ध्येयम् । गिरिशमाहात्म्यवर्णनमयत्वे वा पूर्ववत्षष्ठीतत्पुरुषेण स्यादपि ।

(२) "केऽभूवन्नाऽऽढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः ।
काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिनः" इति ॥

भवति । अभिसन्ध्यन्तरञ्च श्रीहर्षं यत्किञ्चन श्रूयते, तदीश्वराभिसन्धेः प्रकरणमिति भूयसा विभावयामः । स्वोत्पत्त्यव्यवच्छेदकीभूतक्षण [ऽव्यवहितोत्तरक्षणा] वच्छिन्नध्वंसप्रतियोगित्वरूपमाध्यमिकयोगाचारवैभाषिकसौत्रान्तिकात्मकचतुर्विधबौद्धमतसिद्धक्षणिकत्वनिराकरणपरं स्थैर्यविचारणप्रकरणमिति विदाङ्कुर्वन्तु कोविदाः ।

तेषु खण्डनखण्डखाद्यमीश्वराभिसन्धेः पुरस्तात्पुस्तकान्तराणां च परस्तान्निरमायीति श्रीगुरुचरणाः । नैषधचरिते 'खण्डनखण्डतोऽपि सहजे' इति, खण्डनखण्डखाद्ये च 'तथाहममकथय नैषधचरितस्य परमपुरुषस्तुतौ सर्गे' इत्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्यलेखादुभयोः समसमयसन्दृब्धत्वमिति तु पुनर्मदीयं मनो

---

श्रीबालवृद्धाऽऽपामरपण्डितजन-जगज्जातकर्णपूरीभवत्कीर्त्तिपूरः श्रीमन्महाराजाधिराजो भोजराजः सरस्वतीकण्ठाभरणस्य द्वितीयपरिच्छेदे । तट्टीकायाञ्च रत्नेश्वरमिश्रः—"आढ्यराजः शालिवाहनः । साहसाङ्को विक्रमादित्यः । ग्रन्थकृत्पूर्वज-तया श्रीपदम्" इति । श्रीमन्महाराजाधिराजराजिकिरीटकोटिविटङ्कोट्टङ्कितमणिमरीचिमञ्जुलमञ्जरीजरीजृम्भ्यमाणचरणनखद्युतिसम्राट्सार्वभौमपरमेश्वरस्य तावत्तस्य परःसहस्रप्रतिपादितसाहसचरितयशोविसरा व्यश्नुवते जगन्ति; यथा, व्याकरणाऽद्वैतवैदुष्यविचक्षणचक्रचूडामणिं योगपरिशीलनशीलशालिनं निजानुजं भर्तृहरिं नाम नियुज्य पृथिवीप्रजापरिपालनाधिकारे, परिवर्त्य वेषमेकाकी विचचार जगतीतलम्, सपत्नभेषूपनस्यौ विपक्षपक्षमन्त्रादीन् शुश्राव, निशीथाद्यवसरेऽरातिध्वजिनीर्निध्यातुमवजगाहे, करकलितशस्त्रमात्रसहायो निजनामाऽऽततायिनीः परचमूश्चिच्छेद, परान् स्वपरेभ्यो बिभेद, तमिस्रातारुदयेषु श्मशानोद्देशेषु निःशङ्कातङ्कं परिचक्रामेति । तदेव कस्य साहसप्रधानलक्षणत्वं साहसाङ्क इति नाम जगति पप्रथे । श्रीमद्विद्वन्मुकुटमणिवराहमिहिराचार्यकालिदासकविसार्वभौमप्रभृतिनवरत्नशालित्वादिरूपगमकविशेषैः समुपपद्यते खल्वेतदीयसमयस्य संस्कृतमयत्वमिति वयमपि मिश्रशासनमित्यविरति शिरसा बिभृमहे, परं नैषधे "नवसाहसाङ्कचरिते चम्पूकृत" इति ग्रन्थकृल्लेखात्", नवो यः साहसाङ्कोपनामराज"स्तादिनारायणविवरणोक्त नवत्वविशेषणस्वारस्यान्यथानुपपत्त्या कान्यकुब्जेश्वरसाहसाङ्कस्य वर्ण-विशीयं चम्पूर्न तु श्रीमद्विक्रमार्कपरमेश्वरस्येति भूम्ना विभावयति मे चेतः ॥

मन्यते । वैदुषस्य परमपरिपाकाऽवस्थायामस्य ग्रन्थनमासीदित्येतावत्त्वाह स्मास्माकं प्रियसुहृत्खण्डनरत्नाकरचन्द्रः श्रीमान्मोहनलालविपश्चिच्चूडामणिः ।

ग्रन्थस्य चास्य खण्डनखण्डखाद्यम्, खण्डनखण्डम्, खण्डनखाद्यम्, खाद्यखण्डनम्, खण्डनञ्चेति नामानि प्रथन्ते । तत्र खण्डनखण्डखाद्यमिति पूर्णं नाम । भामा, मत्येत्यादिव "नामैकदेशग्रहे पर्णग्रह" इतिन्यायेन सुखभाषणकाम्यया लघूकृतानि तु नामधेयान्तराणि । खण्डनस्य=लक्षणप्रमाणादिशास्त्रीयपदार्थनिर्वचनप्रतिद्वन्द्विभूतखण्डनस्यैव खण्डस्यैक्षवद्रवखोद्रस्य खाद्यनाद्यं स्वाद्यमिति यावत्, यत्तत्खण्डनखण्डखाद्यमित्येकोऽर्थः । खण्डनेनोक्तलक्षणेन खण्डाः खण्डिताः खमाद्या येषां ते खाद्या गगनादय(१)पदार्था येन यस्मिन्वा तत्खण्डनखण्डखाद्यमिति तु द्वितीयः । वैद्यकमतानुसारेण पुनरयमर्थः' यथाऽऽमयखण्डने खण्डखाद्याख्यः पाकस्तथाऽशेषमतखण्डनेऽयमपि प्रगल्भते प्रबन्धः । खण्डखाद्यं चोक्तं हारीते—

"शतावरी छिन्नरुहा वृषो मुण्डितिका(२) बला ।
तालमूली च गायत्री त्रिफलायास्त्वचस्तथा ॥
भार्ङ्गी(३)पुष्करमूलं च पृथक् पंच पलानि च ।
जलद्रोणे विपक्तव्यमष्टभागावशेषितम् ॥
दिव्यौषधिहतस्यापि माक्षिकेण हतस्य वा ।
पलद्वादशकं देयं रुक्मलोहस्य(४)चूर्णितम् ॥
खण्डतुल्यं घृतं देयं पलषोडशकं बुधैः ।
पचेत्ताम्रमये पात्रे गुडपाको मतो यथा ॥

(१) यद्यपि गगनादिपदार्था नात्र खण्ड्यन्तेऽपि तु प्रमाप्रमाणाद्या, स्तथापि गगनादीनामात्मप्रतिलम्भका ये प्रमाप्रमाणादयस्तेषां खण्डने कृते सति सुखण्डिताएवैतइति ध्येयम् ।

(२) मुण्डतिकेति पुस्तकान्तरपाठः ।

(३) भार्गीति पु० ।

(४) रुक्मलौहस्येति पु० ।

प्रस्थार्द्धं मधुनो देयं शुभाश्म जतुकत्वचम्(१) ।
शृङ्गी विडङ्गं कृष्णा च शुण्ठी जाजी पलं(२)पलम् ।
त्रिफला धान्यकं पत्रं व्यक्षं मरिच-केसरम् ।
चूर्णं दत्वा सुमथितं(३)स्निग्धभाण्डे निधापयेत् ॥
यथाकालं प्रयुञ्जीत बिडालपदमात्रकम् ।
गव्यक्षीरानुपानं च सेव्यं मांसरसः पयः(४) ॥
गुरुवृष्यान्नपानानि(५)स्निग्धमांसादिबृंहणम् ।
रक्तपित्तं क्षयं कासं परिणामशूलं विशेषतः ॥
वातरक्तं प्रमेहं च शीतपित्तं वमिं क्लमम्(६) ।
श्वयथुं पाण्डुरोगं च कुष्ठं प्लीहोदरं तथा ॥
आनाहं मूत्रसंस्रावमम्लपित्तं निहन्ति च ।
चक्षुष्यं बृंहणं वृष्यं माङ्गल्यं प्रीतिवर्द्धनम्(७) ॥
श्रीकरं लाघवकरं खण्डखाद्यं प्रकीर्तितम्''(८)-इति ॥

तत्र प्रथमोऽर्थो ग्राम्यो, द्वितीयतृतीयावेव तु साधू इति श्रीगुरुचरणाः ॥

तदेतत् खण्डनखण्डखाद्यं व्याख्यच्छङ्करमिश्रः । अयं हि मैथिलब्राह्मणो भवनाथविदुषः पुत्रः प्रशस्यपाण्डित्यो विभूतास्तार्किकोऽभूत्; दीधितिकारस्य शिष्यो रघुनाथस्तर्कवागीशो,

(१) जतुकं त्वमिति पु०

(२) जातीफलं पलमिति पुस्तकान्तरपाठस्तु न साधीयान् प्रतिभाति ।

(३) सुमथितमित्यस्य स्थाने समुत्थाप्येति पाठान्तरम् ।

(४) सेव्यं मांसरसं पयइति पु० ।

(५) गुरुवृष्यानुपानानीति पाठान्तरन्तु 'गव्यक्षीरानुपानं चे'त्यनुपानस्योक्तत्वान्न साधीय इति विभावयामि ।

(६) शीतपित्तवमिं क्लममिति पुस्तकान्तरं तु न बहुमन्ये ।

(७) आरोग्यं पुत्रदं श्रेष्ठं कायाग्निबलवर्द्धनमित्यर्द्धमधिकं पुस्तकान्तरे ।

(८) ( खण्डकाद्यं प्रकीर्त्तितम् इति पु० ) । पूर्वोक्तलौहान्तरवत्पथ्यमत्रापि प्रयोजयेदिति च शेषः ॥

यदीया माथुरीति व्याप्तत्त्वचिन्तामणेश्चतुर्ष्वपि खण्डेषु व्याख्या विख्याताऽस्ति; यामन्तरेणेदानीन्तना जना आगदाधरीगादाधर्यावधीयाना अपि नतरां भवन्ति परिपचेलिमपाण्डित्यास्तर्कतत्त्वसमष्ट्याम् । एवं हि विद्वज्जनकिंवदन्ती—"कदाऽपि मथुरानाथमहाशयमेकस्याः कस्याश्चनातिव्याप्तेः परिहारं विभावयन्तं स्वयमाससाद कश्चनाऽपरिपक्विमो योगी, सम्मितल-प्रचालिशेयीन्तमबोधयत् ।

"तर्ककर्कशविचारचातुरी का तुरीयवयसा विभाव्यते ।

चातुरी भवति यत्र मानस"मिति त्रिपादीम् । तदीयमसौ पपाठ "चातुरी चिरतमपाकरोति क" इति । ततः सोऽपि लोकातिगं शास्त्राङ्कुरमभिलक्ष्य तुष्टः सन् यथागतं ययौ । तस्य च शिष्यो रघुदेवभट्टाचार्यः, यं हि तदीयशिष्याः कणादश्चेति व्यवहारापुरित्यभिनवकणाद इति प्रथते स्म । तस्य च शिष्यः शङ्करमिश्रः । यथैतदीयवैशेषिकसूत्रोपस्कारे—

"याभ्यां वैशेषिके तन्त्रे सम्यग्व्युत्पादितोऽस्म्यहम् ।
कणादभवनाथाभ्यां ताभ्यां मम नमः सदे"ति ॥

यद्यपि खण्डनखण्डखाद्येऽस्मिन् सन्त्यन्या अपि विद्यासागरीया(१)दयोऽनेका व्याख्यास्तथाऽप्यतिगहनार्थानां पराधीनतया जगदतिगविषयतया च खण्डनाक्षराणां ततोऽप्यल्पैरेवाक्षरैर्व्यक्त भावार्थप्रकाशनेन, स्थाने स्थाने खण्डनमुद्धृत्य स्वानुभवाद्यभिधानेन चाऽस्यां शाङ्करीमतितरां रञ्जयन्ति सन्तः । यथाऽद्वैतसिद्ध्यादिः शिष्याणामद्वैतावबोधस्य परमभीष्टे, तथेदं खण्डनखण्डखाद्यं प्रतिवादिविजयस्य सर्वथा । यथात्रैव—

"शब्दार्थनिर्वचनखण्डनया नयन्तः
सर्वत्र निर्वचनभावमखर्वगर्वान् ।

(१) नामधेयत्वेन वृद्धत्वाभावः । सार्वजनीनाः सागरीत्यादयस्तु व्यवहाराः 'कैकयी' त्यादयइव पुंयोगलक्षणङीषा जन्यजनकभावरूपपुंयोगवत्त्वाभिर्वाच्याः ।

धीरा यथोक्तमपि कीरवदेतदुक्त्वा
लोकेषु दिग्विजयकौतुकमातनुध्वम्" ॥

चित्सुखीयादिषु न्यायमतखण्डनादिकमस्यैव विस्तीर्णविवर्त्तभूतमास्ते ।

तदेतद्ग्रन्थरत्नं विद्वज्जनानामकारणमित्त्रेण विद्यापरमेण संस्कृतसभृतसमादरेण श्रीमता A. Venis, M. A. महाशयेन प्रोत्साहितः खलु प्रयुङ्क्तु । टीकोट्टङ्कितेष्वपि दुरवगाहेष्वन्तराऽऽन्तरास्थलविशेषेषु स्वयमुपनिबध्यमानया गर्तप्रदर्शिन्या नामोपवृत्त्या ( टिप्पण्या ) संप्रकाशयन् सुसंस्कुर्वन् व्यञ्जयंश्च चिह्नविशेषैः प्रकाशयितुमारब्ध श्रीमान्मोहनलालवेदान्ताचार्यः । अथ दुर्दैवोपनिपातप्रभावादन्तरैव स्मृतिमात्रतां सम्पन्ने चात्र भवति मोहनलालेऽत्यावश्यकमुद्धसंस्कृत्रिममुद्रितस्यास्य ग्रन्थरत्नस्य संस्करणमुद्रणयोः परिसमाप्तिरिति विभावयद्भिः श्रीशास्त्रिवर्यैः पूर्वसंस्कर्तृसुसमानपाण्डित्यशाली सांख्ययोगवेदान्तोपाध्यायः श्रीमान् कुलयशस्विशास्त्री खल्वत्र संस्करणकार्ये स्म प्रवर्त्तितः । मुद्रयित्रा च भारतश्वःश्रेयसानुध्यायिना दीनदयार्द्रहृदयेन सौजन्यधन्येन दुष्प्रापशास्त्रीयग्रन्थाङ्कनोज्जीवनगृहीतदीक्षाकङ्कणेन श्रीयुत Dr. E. J. Lazarus, महाशयेन 'शुभस्य शीघ्र'मिति मन्वानेन तथाऽऽवेदितोऽयं शीघ्रतया प्रायो निष्टिप्पणीकमेव संस्कर्तुं प्रावृतत् परिसमापि यच्च तत अशुद्धस्थलचैतद्विषयविशेषान्सूचीमुद्रयाऽसूचयाऽऽपाततः सञ्जाताः किलाऽशुद्धीः । तदेतत्समाप्तमखण्डस्यास्य खण्डनखण्डखाद्यस्य मुद्रणम् ॥

प्राक्किल कालिकापत्तनेऽ(कलकत्ता)स्य द्विस्समवृतन्मुद्रणं, यया व्याख्यासंस्कृतिविरहन्तत्राऽऽलोक्य दोषज्ञानां चेतएव नोदसहताऽध्येतुमध्यापयितुं वा । तच्चिरात्राय समभिलष्यमाणं सांप्रतं व्याख्यासनाथमद्धुमाऽऽत्रोपवृत्तिसमलङ्कृतं सुसंस्कृतं सुव्यञ्जितमुद्रितं ससूचीपत्त्रमखण्डं तदेतत्खण्डनखण्डखाद्यं समास्वादयन्तु संपादयन्तु च तदध्ययनाध्यापनादिपारस्परीं पण्डिताऽऽखण्डला, मण्डयन्तु च तत्र भवतो वशीकृतसारस्वतसमृद्धि-

विभूम्नः खण्डनकृतश्च, तत्सनाभवैदुष्यप्राग्भारभूमस्तद्व्याख्याकृतश्च, तदनुटिप्पणीकृतश्च समग्रोदग्रप्रत्यग्रजाग्रत्कीर्त्तिविमलैर्जगन्ति । अथ शास्त्रलतापलाननिर्वघ्नोपघ्नफलनमहीरुहा भारतभूविभूषणभूताऽस्मदीयविपश्चिच्चूडामणयश्चेत्प्रमत्स्यन्ति, हन्त तर्हि प्रथमपर्यायमुद्रितेष्वप्यैतेषु पुस्तकेषूपयुक्तेषु न चिरादेवैतद्ग्रन्थरत्नमाद्यन्ततः सुपर्याप्तोपवृत्तिसमलङ्कृतमतीवतरां संस्कृतं च भूयोऽपि मुद्रणां लम्भयिष्यतइतिसंभावयामि -

१९४४ तमवैक्रमाब्दे
माघशुक्लपक्षती

कश्चिदाऽऽवसत्यद्यास्पदकान्यकुब्जो,
ब्रह्मामृतवर्षिणीसभास्तारः, साहित्य-
धर्मशास्त्रसांख्ययोगवेदान्ताचार्यो,
रा० भागवताचार्यः ।

---

( श्रीशः )

( ॐ नमः प्रातःस्मरणीयेभ्यो भगवद्रामानुजाचार्यचरणेभ्यः )

श्रीमदुदासीनसाधुप्रवरमोहनलालवेदान्तादिविविधशास्त्राचार्यस्य ।

# जीवनवृत्तान्तः ।

श्रीमान् मोहनलालवेदान्ताचार्यः खलु दुर्लभगुणमयमूर्त्तिरित्यत्र किमिव बहु ब्रूमो, नन्वेतावदेव पर्याप्तं नाम, यदिह प्रायः सङ्गीतादिगुणगणभाजो जना नो खलु जायन्ते विपश्चितां चित्तासेचनकवैदुष्यशालिनः । अथ शतेषु सहस्रेषु वा कश्चित्कदाचिद्भवत्येवंविधो, दुर्विधो दरीदृश्यते विनयसम्पदाम् । अथास्तु क्वचित् कदाचित्कश्चिल्लक्षेषु लक्ष्यस्तथा च, तथा च, तथा च; तथाऽपि दुष्प्रापः खलु जगति जन, स्तथाविधो यो भगवद्भक्तिसुधानिष्णातो नाम । वर्णसौभगयोगः खल्वयं, यो जगति जनस्य दुर्लभगुणगणोपबृंहितस्य पुरुषार्थचतुष्टयप्रतिभूभूतभगवद्भक्तियोगो नाम । अयन्तु पुनर्वेणुवीणावीणार्द्ध (=सितार) मृदङ्गजलतरङ्ग प्रभृतिवाद्यप्रयोगेष्वनवद्यविद्योतमानयशा, गानेष्वविगानकौशलो, विचक्षणः परस्सहस्राणां भगवद्भक्तिसुधासमुद्रसमुद्रिक्तप्रेमकल्लोलपरीवाहवेलायितमानसवृत्तिश्रीमत्सूरदासप्रमुखमहामहानुभावप्रणीतगीतिकादीनां, स्वयं च तद्य(१)मकानां तेषां संप्रणेता, मृदुमञ्जुलकाव्यान्तरनिर्माणनिपुणश्चेति साङ्गोपाङ्गसङ्गीतसम्पत्सङ्गीतकीर्त्तिः, एष तथाविधानाञ्च ग्रन्थानां निबद्धा बालगोतरः ( खत्री ) सन्नि, त्येतावतैव नन्वनुमेयविद्यासमृद्धिश्च, तथा 'शत्रुतया गृह्यमाणेष्वपि मित्रायमाणस्य यस्य पुरस्ताच्छत्रवोऽपि मित्रायन्ते स्मे'ति तु न ता-

(१) मन्दराद्रिणा यथा मथ्यमानात्क्षीरोदन्वतो निरगादमृतम्, तच्च प्राप्याऽस्वप्नाः (देवाः) कृतकृत्याः समवृतन्यथा, तथा वयं यद्द-याद्दृया विबुधाःस्मः, वः–इति ।

यत्तद्विषये वक्तुमस्माकमवसरः; युधिष्ठिरस्येव यस्याजातशत्रो' शत्रुरिति धीरेव नासीदित्यकम्पविनयसंपत्सनाथसौजन्यसम्पन्नश्च संस्तुतनादृग्भगवद्भक्तिसुधाचषकायितचेताश्चेति चमत्कारकरमिदं किमपि। इदञ्चास्य प्रातःस्मरणीयवस्तुजातमासीत् ॥

"मुकुन्दभक्त्यम्बुधिमन्दरः श्रीमुकुन्ददासो दयतां सदा नः ।
यः श्रीहरेर्भक्तिरसामृतेनाऽस्माकं निरास्यन्ननु मोहनिद्राम्(१)॥१॥
किमेष गीर्वाणगुरुः किमेष पुंभाववाग्दैवतमित्यजस्रम् ।
दोलायितः सम्प्रति सत्प्रतिष्ठो हृद्यस्तु मे श्रीगुरुराममिश्रः(२)॥२॥
श्रीरामसदनो नाम ज्यायान्मे जयति ध्रुवम् ।
यदन्तःकरणं शश्वच्छ्रीरामसदनायते ॥ ३ ॥
गोपाङ्गनाऽपाङ्गचकोरचन्द्रः कंसादिविध्वंसनधूमकेतुः ।
संसारपारोत्तरणैकसेतुः कृष्णः सदा स्यात्प्रमदस्य हेतुः ॥ ४ ॥
'सच्चित्सुखैकमूर्त्तिः प्रमातृसुखकल्पनाश्रयश्चैकम् ।
अविकल्पवित्तिगम्यं कूटस्थं ब्रह्म यत्तदहमस्मि' ॥ ५ ॥

अयं खलु मोहनलालमहानुभावः पञ्चनदजनपदेषु गुरुदासपुरानामकमण्डले ( बाला नामक का ) डेहरा—इत्याख्याविख्याताधिष्ठाने प्रादुरासीन्नानकवंशप्रदीपः । अत्र वंशानुपूर्वीश्लोकाः—

"श्रीमन्महान्नानकनामधेयो द्योभूसुराणां खलु सद्विधेयः ।
बभूव नित्यं हरिभक्तिशूरः सौजन्यजन्योज्ज्वलकीर्तिपूरः ॥
तस्मादासील्लब्धजन्मा सुजन्मा लक्ष्मीचन्द्रश्चन्द्रवर्चा गुणाढ्याः ।
संसक्तोऽभूद्यो हि सत्यं जगत्यां हारे(३)भावे, न त्वहो लोकचारे॥
धरचन्द्रो(४)ऽधरचन्द्रः कान्त्या कीर्त्या कलाभिश्च ।

---

(१) बृहस्पतित्वेन पुंरूपमवतीर्णसरस्वतीत्वेन च भूयोभूयो विभाव्यमानः श्रीमद्राममिश्रशास्त्रिवर्यो विद्यागुरुर्मम हृदये संनिधत्तामिति स्फुटार्थः ।

(२) हारो हरिसम्बन्धी, भावः प्रेमा, " तदेव हारं वद मन्यसे चेदि" ति श्रीमद्भागवतानुसारीति हार्दम् ।

(४) पचाद्यजन्तश्चन्दशब्दोऽपि चन्द्रवचनः । धरायाश्चन्द्रो धरचन्द्र इति 'ज्यापोः सञ्ज्ञाछन्दसोर्बहुलमि"ति ह्रस्वोऽनुसन्धेयः ।

नाणकचन्दस्तस्मादभवन्माणिक्यमस्य वंशस्य ।
लोकेऽववाप्तमानो मानविहीनश्च यः स्वयकम् ॥
दातारचन्दनामा तस्मादजनिष्ट शिष्टलोकानाम् ।
सम्भृतगुणश्च निपुणो हरिचरणस्मरणनिष्ठायाम् ॥
उद(१)यादिचन्दनामा तस्मादभवत्समुज्ज्वलद्धामा ।

रामाराधनपरमो यः कामाराधनोपरमः ॥
तस्मात्सुजानराये, तिप्रथितः पृथुलसत्कीर्त्तिः ।
कमनीयगुणगणाढ्यस्सज्जनसंरञ्जनाऽभिज्ञः ॥
तस्माद् बभूव च सदासदाऽऽश्रयाच्छ्रीसदाज्योतिः ।
यः सर्वदाऽभ्र(२)रुचिरं चिरन्तनं ध्यातवाञ्ज्योतिः ॥
तस्मात्सकलकलानां केतनमभवत्कलासिंहः ।
कीर्त्या कलानिधेर्यः प्रतिनिधिरिव लक्ष्यते स्म संसारे ॥
तस्माच्चन्द्रसिंहाह्वयो बभूव लोके समुन्नतस्थितिकः ।
अन्वर्थीकृतनामा सिंहसदृक्षोऽसदृक्षगुणः ॥
लक्ष्मीचन्दादभवल्लक्ष्मीपतिपादपद्मरोलम्बः ॥
नानकवंशेत्यभिधो नानकवंशोचितस्ततो जातः ।
दददपि नाणकराशिं दिनं दिनं यः कपर्दिनं(३)भेजे ॥
तस्माद्बभूव नाम्नाऽसौ पूरसिंहइति श्रुतः ।
दोषि(४)दन्तावले नित्यं पूर्णसिंह इति श्रुतः ॥
तदात्मजोऽयं शुचिमार्गगामिनां सुसंमतः पात्रगुणोपकल्पिमान् ।
गभीरसुस्वच्छसुशीलताशयो रसोत्तरो मोहनलालनामकः”(५) ॥

तदित्थमयं श्रीमन्नानकात्त्रयोदशोत्तरपुरुषः । जन्मतः-

---

(१) उदयचन्द इत्यर्थः ।

(२) घनाघनच्छटामेचकच्छवि शाश्वतिकं तेजो, वैष्णवं धामाऽऽदिपुरुषं पुरुषोत्तममिति यावत् ।

(३) कपर्दः शैवीजटाजूट, वराटिकाश्चैव ।

(४) दोषरूपे गजे इति व्यस्तरूपकं द्वैपद्ये, अय च दोषाणामिदन्तावलं सर्वंजनसंवेदनसिद्धाऽऽकर्षकताबलं, तच्चेत्यैकपद्यकोटिः । कोटिद्वये-ऽनयोर्भिदा तु तयोरैक्यस्य कविसंप्रदायसिद्धत्वादेतादृशोऽवसरेऽकिञ्चित्करी ।

प्रभृत्येवास्य चेतो लौकिकविषयाणामस्ति स्म वैदेशिकम्(१) स्तनन्धयोऽपि(२) यो हरिभक्तेः स्तनन्धय(३) एवासीत् । यथा यथा च वर्द्धते स्म, तथा तथा हरिभक्तिरसास्वादादहृष्यदपुष्यदतुष्यच्च । तदेवमयं समानशीलेन ज्यायसा सोदर्येण श्रीराममदनाभिधेन सह कौमारादेवारभ्य वर्तमान आस्वादयन्भक्तिरस, मधीयन्परिशीलयँश्च ब्रह्मवादानासीत् पञ्चनदविषयेष्वेव । अथ स्वैरं स्वैरं पवित्रक्षेत्राणि समीक्षमाणो, नानाजनपदान्गाहमानः, पुण्यसरित्स्ववगाहमानो, भगवदर्चाश्चार्चय, न्भूदेवांश्च प्रणमन्, गाश्च प्रदक्षिणीकुर्वन् वेदान्तादिविचारैर्विदुषश्च सन्तोषय, न्दयानन्दसरस्वतीप्रमुखांश्च प्रच्छन्नान्नास्तिकान् अयमायातोऽयमायात इति जनतातः स्वीयतद्दिगागमनश्रुतिमात्रेण कान्दिशीकाँश्च विदध, द्दधच्च सनातनवैदिकधर्मकर्मप्रतिष्ठां जनमनस्वा,ऽऽसादयामास(४) वाराणसीम् । तत्र च तदीयरामणीयकापहृतहृदयोऽधिकं वासमरोचयत् । निवसँश्च 'वाराणसीं साम्प्रतं परमं विद्याक्षेत्रमि'ति के केऽत्र कीदृशाश्च विपश्चितइति ताँस्तानाकर्णयन्निर्वर्णयँश्च कदाचन श्रीयुतसाहित्याचार्याम्बिकादत्तव्यासेन समगच्छताऽपृच्छच्च तमसौ कथानुकथनपारम्परीसम्प्रवृत्तौ—"अप्यस्ति तादृशोऽत्र कश्चिदवश्यदर्शनीयो, योऽसौ विपश्चितामपश्चिमः स्याद्दर्शनेषु, निपुणानां

(१) विशिष्टशिष्टाचाराऽलंकर्मीणजनानां बहुमतो ज्ञानविज्ञानशौजन्यकलाकलापादिसद्गुणसंपन्नो गम्भीर, मायामात्सर्यादिदोषजातानुपहतप्रशान्तचित्तवृत्तिः श्रीकृष्णलोकाविलासदर्शनाऽऽदरइति प्रकृतकोटिः । भीष्मग्रीष्मपथिकामभीष्टो भवति किल कलसिकाडेरिकाद्युपहितो गम्भीरतया सर्वथा अनाविलसुखशीतलसुरसजलपरिपूर्णः कूपइत्यप्रस्तुतकोटिः । एवं च निरुक्तरूपकूपत्वासावित्युपमा पर्यवस्यति । तेन च परोपकारसंभारसंपादनमात्रप्रयोजनसंभृतशरीरत्वादिलक्षणो वचर्यगतो विशेषः परिस्फुरतीति विदांकुर्वन्तु हृदयालवः ।

(२) तेभ्यो विरक्तम् ।

(३) शिशुस्तदेकवृत्तिश्च ।

(४) "आङः षद गत्यर्थे" ।

मूर्द्धाभिषिक्तस्स्याच्चातुरेषु, आचार्याणामग्रणीः स्यात् पवित्रा-
चारेषु, सभास्ताराणां(१)प्राग्रहरः स्याद्व्यवहारेषु, भागवता-
नां च परमः स्याद्भगवद्भक्तिप्रपत्तिप्रमुखमोक्षोपाये, ह्यनुक्तेष्वप्ये-
वंजातीयकेषु लोकदुर्लभगुणेषु गरीया,न्वरीयांश्च स्याद् ब्रह्मवि-
द्यातर्कविद्ययोः”। आकर्ण्य चेदं विस्मेरहृदयः स व्यासवरः
सुस्मेरवदनमेवमुत्तरं तरङ्गयति स्म “अयि कौतुकिनां शिरोम-
णे, कुतोऽद्य श्वो जगति जायन्ते भवदुपगणितगुणानां समष्टयो
नामैवंविधा विशिष्टाः शिष्टाः। प्रायो दृष्टा एव च भवेयुरत्र भव-
ता तत्तद्गुणशालिनस्ते ते लब्धवर्णाश्च, भवद्भक्ताश्च, संन्य-
स्ताश्च, विदग्धाश्चान्ये च गुणिनः। परं विलक्षणगुणसमष्टि-
र्भवानन्विष्यति खलु तादृशीं समष्टिमेव। नूनं साधूक्तमभि-
युक्तैः “यो यादृशः, स तादृशेऽभिरमत” इति। भवत्प्रश्नवाचो-
युक्तिरेव च व्यनक्ति, यथाऽद्यावधि नो खलु लोचनगोचरीक-
रोति स्म भवानत्र भवन्तं श्रीराममिश्रशास्त्रिवर्यम्। तदुत्तिष्ठाप-
नय चेदं कौतूहलं, मा विलम्बस्व, सफलयाद्यैव चक्षुषी, पश्याद्य
वाराणस्याः समस्तभारतस्यैव वा सारवत्ताम्—इत्यभिदधद्देवो-
दस्यात्। अथैतौ ग्रीष्मर्तुसायाह्नेऽस्ताचलचूडामणीभवति भग-
वति भास्वति दशाश्वमेधगङ्गाघट्टमगाताम्। तत्र च सान्ध्यं
विधिमनुष्ठाय द्वित्रैः प्रियच्छात्रैः समं समासीनं शास्त्रिवर्यं भ-
गवत्या भागीरथ्यास्तटवट्टके दूरादा दर्शताम्। अथ व्यासवरो
‘ऽयमेवासावत्र भवानास्ते, तदहं भवन्तमावेदयामि तावत्तत्र
भवते शास्त्रिवर्याये’त्युक्त्वा, गत्वा, नत्वाचा, वेद्य, तेनाभ्यनुज्ञा-
तश्च प्रापय्य मोहनलालमदीदृशत्। मोहनलालस्तु सहजवि-
नयव्यानम्रस्तदुदारमूर्त्तिदर्शनाच्च सुदूरमारोपितश्चमत्कारेण,
वंयच्छास्त्रिवर्यम्। शास्त्रिवर्यस्तु ‘आगम्यतामास्यतामिहे’त्यु-
भावप्युभावप्युपवेष्टुमादिदेश। अथ शास्त्रिवर्यो व्यासवरम-
न्वयुङ्क्त—‘क इमे, कुतः समायान्ति, किं वोद्दिश्येत्यशेषमाख्या-
यताम्’ इति। व्यासवरस्तु—‘जन्मजगतीतः पश्चिमाप्ययेते ता

(१) प्राग्रहरः श्रेष्ठः।

वद्पश्चिमा महात्मानो वाराणस्यामायाता निवसन्तश्चात्र कियतोऽपि कालात्, अद्य भवद्दर्शनार्थितयैवेह मया सह समायाताः'—इत्यचकथत् । शास्त्रिवर्यस्तु परमतुष्यन्मोहनलालस्य शान्त्या च, गाम्भीर्येण च, विनयेन च, वोचच्च 'भद्रं, यथावकाशं भूयोऽपि कदा चिदागन्तव्यमि'ति उक्त्वा चोदतिष्ठत् ।

एतावपि च नमस्कृत्य शास्त्रिवर्यं यथागतं गतौ । अथ गच्छतोरेनयोः प्रावृतदालापः—'अहो धन्या वाराणसी, यत्रैतादृशो विद्वद्वृन्दारको द्रष्टुं प्राप्यते, अहो संपन्नमद्य गीर्वाणगुरोर्दर्शनम् । यदि शास्त्रिवर्योऽनुगृह्णीयादस्मादधीयीयेति स्पृहयते मे चेतः' ।

एवं भविष्यतीति चाह स्म व्यासवरः । अथापरेद्युरयं व्यासवरेण सहैवोपससाद सदनं शास्त्रिवर्यस्य, वेदयामास च व्यासवरमुखेन स्वं मनोरथम् । शास्त्रिवर्योऽप्येतस्य तादृशीं सुशीलतां शुभंयुहार्दतां(१) चालक्ष्यान्वमोदत तम् । अथ प्रारब्धः मोहनलालोऽध्येतुम् । षड्भिर्वत्सरैरनवच्छिन्नमधीयन्करक्रोडीकृतवान् स्वावश्यकाध्येतव्यं वेदान्तसांख्ययोगादिग्रन्थजातम् । अणायं स्वयमनिच्छन्नपि पुरस्कृत्य गौरवीमाज्ञां संस्कृतसाम्राजविद्यामन्दिरे वेदान्ते सांख्ययोगयोश्च वितीर्याचार्यपरीक्षां तेष्वर्जिजदाचार्यतामाम्रेडिताम् । तदनु च पुनः संस्कृताङ्ग्लप्रबन्धे प्रतिष्ठाप्यमाने परीक्षावदेव प्रावर्तिष्ट शिक्षितुं समासाद्याऽऽङ्ग्लीविज्ञानं तदुपनिबद्धान्भौतिककलाग्रन्थान्यद्यावातारयिष्यमार्याया, (हिन्दी) सुधाकरिष्यन्तर्हि स्वदेशबन्धुजनतायाइत्येव समीहमानः । अथास्य धिषणाञ्च मेधाञ्च प्रतिभाञ्च तत्त्वाऽऽकलनाञ्च प्रेक्ष्य प्रसद्य च प्राह स्म शास्त्रिवर्यः 'अयि भवन् ! भवान्क्षमतेऽद्याऽपूर्वमुपनिबन्धुम् । तद्ग्रथ्नतु काँश्चिन्निबन्धान् । क्षममाणे ह्यकिञ्चित्कुर्वाणो गीर्वाणोऽपि न खलु बहु मन्यते जनैः । कुर्वाणश्चैवमुपकुर्वाणो भविता भवाञ्जनतायाश्च बुद्धिमत्तायाश्च । तदेवमभिहितो हितोपदेष्ट्रा गुरुणा करुणावरुणालयेन मोहनलालोऽपि गुरुणा विनयेनाब्रवीत्, 'गुरुचरणानां करुणा स-

(१) शुभतात्पर्यवत्ताम् ।

रणिमण्डपमध्यासीनस्याजानानस्यापि जनस्य किमिव दुष्प्रापन्नामे'ति(१) । अथासौ प्राणैषीन्निबन्धान् । ते यथा, दोषदूषकतामूलनिर्णयः, महामोहमोहविद्रावणम्, वेदान्तसिद्धान्तादर्शः, खण्डनंगतंप्रदर्शिनीत्याद्याः संस्कृतस्य; शिल्पचमत्कारचिन्तामणिः, प्रतिबिम्बचित्रचिन्तामणिश्चाऽऽर्यायाः ( हिन्दी ) । आर्यामयं निश्चलदासकृतवृत्तिप्रभाकरं च संस्कृतभाषाया पद्यैरवातीतरत् । अथैकदा दयानन्दः काश्यामागत्यावृतत् । तांस्तांश्च तदीयान्प्रच्छन्नम्लेच्छवादाङ्कनमुखेभ्यः श्रावं श्रावमयं बहिर्विहारार्थं विनिर्गतः कस्मिँश्चिदुद्याने दयानन्देन दृष्टो 'ऽयमेवामावित्यजानता च 'प्रतारयिष्यामी'त्यभिप्रयता च दापितासनः समुपाविशत्, अन्येऽपि चैतत्सहचराः । ततोऽन्यबुद्ध्या प्रतारयितुं प्रलाप्यमाने कुहनाकाषायेऽयं शास्त्रीयं शस्त्राशस्त्रि किमपि तथा प्रावीवृत,—यथा स कुहकः क्षणमात्रं 'क्वाऽयमापतितः खलु मत्पा(२)खण्डनमः खण्डनप्रचण्डमार्तण्ड' इति सविलक्षं चिन्तयित्वा यदैतदीयसारस्वतप्रवाहस्य प्रतिरोधे न किञ्चिदपि शास्त्रीयमध्यगच्छत्, तदाऽशोचदार्ययाऽऽर्याँस्तटस्थान्—"भवन्तस्तु वदन्तु किमेतैरिदमुक्तम्, भवन्तः संस्कृतं न जानन्तीति कृत्वा युष्माकं पुरस्तादेतावदेतैर्व्यर्थमुद्घोषितम्' इति । तां तु तस्य मायां दृष्ट्वा विहस्याऽऽर्ययैव तेषां सर्वेषां प्रबोधनार्थं कोहलमालएकैकं मायाभिक्षोर्मतमखण्डयत्; यच्च किञ्चिद्धौर्त्यं वचोभिः प्रकटीकुरुते स्म स मायिक, एतत्सर्वं सर्वेषा

(१) जनस्येत्यत्र "न लोकाऽव्ययनिष्ठे" त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधेऽपि 'कोषदण्डसमग्राणां किमेषां खलु दुष्कर' मित्यादाविव कविकुलसुवर्णत्वेन गुणत्वाच्छैषिकी षष्ठी । अतएव "इदं हि शास्त्रमाहात्म्यदर्शनाऽलसचेतसाम् । अपभाषणवज्जाति न च सौभाग्यमुज्झती" त्याहुर्हृदयज्ञुषः । एवमेव 'भवन् !' इत्यादावपि तत्र तत्र समीक्षितव्यं सूरिभिः ।

(२) पाखण्डशब्दं धर्मिमात्रवचनं केचिदाहुः । वयं पुनर्मत्सरादिपदवदस्य धर्मिधर्मोभयाभिधायितां मन्यामहे ।

पुरो निरास्यत् । तदेवं सूर्यास्तमयसमयात्संप्रवृत्तेऽस्मिन्प्रच्छन्न-नास्तिकमतखण्डने निशीथसमये च संप्राप्ते प्रस्विन्नगात्रो मूकप्राय: कपटभिक्षुः प्राणपरित्राणस्य प्रकारान्तरमपश्यन्नचकथत्, 'भद्रं दिवसान्तरे पुनर्विचारं करिष्ये, अद्य समाप्यतामि'ति । तत्रस्थास्ते सर्वे लोका भृशं कपटकाषायमुपाहसन्नवदंश्च "किमद्य भवद्भ्यः कथमखण्डितं श्रीमता मोहनलालमहानुभावेनाऽवशिष्टं, यस्य कृते पुनरागमिष्यति भवान्'इति । मोहनलालस्तु तं तथाभूतं दृष्ट्वा स्वयमेव तस्यापमानेन खिन्नइवावोचत्—"अहो भवन्, भवतः सनातनवैदिकधर्मविलोपवानाकर्ण्य यत्किंचिद्र भसाद्विनिर्गतं मन्मुखात्, तत्सर्वेतेषां धर्मसंसयापनोदनायैव नत्वन्योद्देशेन । तन्माभूद्भूयोऽपि वो मुखाद्धर्मावधीरणेत्युक्त्वा सर्वैः सभ्यैः सह तत उदचलत् । मध्येमार्गं चाथ तै रक्षप्रेक्षकैर्धर्मसंशयविनिर्मुक्तचित्तैः सुप्रन्नैः सबहुमानं प्रार्थितः—"अयि श्रीमन्, इदं पाखण्डमतखण्डनसर्वस्वं भवान्कृपया संकलय्य संप्रकाशयेच्चेत्पुस्तकमेकं, सर्वथा सनातनधर्मः पुनरुज्जीवितस्यादि"ति । एवमेव भविष्यतीति चोक्त्वाऽयं व्यसर्जयत्तान् । भूयोऽपि च यदाऽश्रौषीदयं कपटभिक्षोरनभिज्ञजनताप्रतारणापवादांस्तदाऽयमकरोच्चेतसि—"अद्य श्वो भारतभुवि भूयशोऽव्यक्ताश्चाव्यक्ताश्च पिचण्डभाण्डभरणार्थिनः सनातनधर्मं लुपयितुं सन्ति प्रवृत्ताः तदेते कुक्षिम्भरयो निर्लज्जानिर्मर्यादाश्च यद्यपि शतकृत्वोऽपि पराजीयेरंस्तथापि न निवर्त्स्यन्ति, कथंकारं वा निवर्त्तेरंस्तेवराकाः, नो खलवकल्पते नाम ह्यन्यथाकारमनायासरमणीय पिचण्डकुण्डिकाऽऽवपनं पूर्वार्जितभस्मकचस्मरतया विस्मरतां स्वीकर्त्तव्यतामकिञ्चित्कराणामकिञ्चनानामीदृग्जनानाम् ; तथाप्यनभिज्ञानामार्यजनानामार्यजनानां मा भून्महामोहेनानार्यतेत्यावश्यकं पुनः पाखण्डमतखण्डनग्रन्थग्रन्थनम्" इति । आकलय्य चैवं निरमिमीत निब-

स्यमनभिज्ञजनमहामोहविद्रावणन्नाम(१) । अथायमेकदा आमयावी संवृत्तः पक्षमात्रमिवा, तिमात्रं विरक्तचेताश्च लौकिककृत्येषु सशोकं तत्तच्चिन्तयन् अनुल्लाघएव स्वानुभवोद्रेकं नाम जग्रन्थ ग्रन्थम् । अहो महात्मानां क्लेशोऽप्यत्रकल्पतरूपकृतयएव लोकानाम् । ननु शोकोऽपि परमर्षेर्भगवतो वल्मीकजन्मनः सुरगणस्येव(२)प्रतिपेदे श्लोकतां, सकलजगदुल्लासैकहेतोर्महेश्वरशिरःसत्कृतस्य विशङ्कटविकटमीमांसानक्रचक्राक्रान्ताऽपारास्नायपयःपारावारसाररामायणसुधादीधितेश्च निदानताञ्चेति तस्यैव निदर्शनभूतमिवास्याप्येतदालोकयामः ।

अथैकदा संस्कृतविद्यारसिकशिरोमणिर्भूयस्तदुज्जीवनजीवातुसमीहितो वारणसेयसाम्राजसंस्कृतविद्यामन्दिराध्यक्षः श्रीमान् G. Thibaut, Ph. D. महोदयः शास्त्रिवर्यं ब्रवीति स्म प्रसक्तानुप्रसक्त्या—"अद्यत्वे खलु प्रायोऽन्यादृशमेव किञ्चित्पङ्कुपाण्डित्यमालोक्यते । भूम्ना हि भारतरत्नाकरः पुरस्तात्तैस्तैस्तादृग्निदर्शनचिरत्नमहारत्नैः प्रतिभाप्रभाभास्वरस्वरूपैरसमानतदभिमानोन्नतचित्तवृत्तानां सुसमृद्धबुद्धिविभवानामभिरूपमूर्द्धाभिषिक्तार्याणां शिरोधार्यैराहार्यैर्वाभाति स्म यथा, न तथा

(१) यदेतत्तावदार्यभाषया रूपकरूपेणावतार्याऽऽभाणकादिनोपबृंहितं निरूपितमास्ते श्रीमता विजयानन्दपण्डितेन महामोहविद्रावणमेव नामतो, वस्तुतश्च यत्र खलु सा वैदिकधर्म्मशर्म्मोदयरूपाऽऽर्यमहोत्सवमाकलय्याऽऽर्य्यभाषा कमनीयसुप्रसन्नभास्वररूपा स्मितोन्मुखी नरीनर्त्ति च मञ्जुलमञ्जुलैः पदन्यासैः, गूढार्थभावाविष्कारैः सहृदयहृदयेषु वर्षति च चमत्कारसारं, परोक्षमपि वस्तु समक्षमिव कुर्वती साधारणजनानप्यावर्जयति च, जयति च सर्वथा प्रौढिमोद्गारिमनोहारिभिः सर्वैरेवाङ्गैः ॥

(२) कदाऽपि त्रैलोक्यं दौर्वाससशापोपहतं निःश्रीकमसारञ्च संवृत्तमिति तदा महेन्द्रादयो देवास्तापोपहता भूयो जगत्सत्त्वाऽऽप्यायनं संपिपादयिषवो भगवता विश्वम्भरेण ते स्म समुद्रं मन्थितुं प्रवर्त्तिताः । निर्वृत्ते च तस्मिन्नारम्भे चन्द्रः समुदपादीत्यादिस्तत्कीर्त्तिकथेतिहासेऽनुसन्धीयताम् ।

( श्रीशः )

( ॐ नमो भगवद्भ्यः श्रीभाष्यकारचरणेभ्यः )

# अनिर्वचनीयतावाद-विज्ञानस्वप्रकाशतावाद-स्वरूपदिक्प्रदर्शनम् ॥

इहास्ति खलु विज्ञानविज्ञेयात्मकतया प्रथमाने जगति विज्ञानं सत्, तदितरत्त्वसत्। अनिर्वचनीयं हि नभोनभस्वदादिरूपमेतद्विज्ञेयं न तावत्सदस्तीति शक्यते वक्तुम्, तथाहि— "लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धि"रिति हि प्रमेयसत्तावादिनां वादाहवदुन्दुभिध्वानः। न च लक्षणानि दूषणचक्रनक्रमुखेभ्यः शक्नुवन्ति निस्तरीतुम्। लक्षणानां चैवंगतौ 'लक्षणाधीना लक्ष्यव्यवस्थितिरि'ति सुदूरनिरस्ता तपस्विनो लक्ष्यव्यवस्थितेरात्मलाभप्रत्याशा। प्रमाणेषु च विपुलं वादिनां विविधविप्रतिपत्तिमद्भावादवतरति लक्षणापेक्षेति परीक्षायां तेषां स्वयमपि लक्ष्यतया न नाम लब्धपदत्वम्। प्रमाणाधीनश्च प्रमेयाङ्गीकारइति कुतस्तरां प्रमेयाणां सिद्धिः।

नन्वेतेषां पदार्थानां लोकसिद्धत्वादेवाङ्गीक्रियतां सत्त्वं, किमनया विडम्बनयेति चेत्, लोकसिद्धत्वादेवाङ्गीकारे युष्माकमपि परस्परं विप्रतिपत्तेरनवकाशः। किञ्च, 'लोकसिद्धत्वादि'ति तावन्निरूपणमर्हति। किन्नाम लोकसिद्धत्वं, सत्त्वेन प्रतीयमानत्व, माहोस्वित्सत्त्वेन प्रमाणसिद्धत्वम्। तत्राद्ये, मरुमरीचिकोदकादीनां सत्त्वस्य को वा वारयिता स्यात्। ननु सर्वैस्तथाप्रतीयमानत्वमुच्यते, न च मरुमरीचिकोदकादीनां सर्वः प्रत्येति तथात्व,मपि तु कश्चिदेवेति चे,न्न हि भो घटादिकमपि सर्वः प्रत्येति। अथोच्येता,स्ति तत्र सर्वेषां तथाप्रत्ययस्य स्वरूपयोग्यता, न तु मरीचिकादाविति चेत्। निरूप्यतां सा योग्यता, कथंकारं चाधिगता तत्रेत्यादिपर्यनुयोगपरम्परां न खलु विश्रमयितुं पारयिष्यसि। किञ्चैवं सति शरीरात्मतादात्म्याङ्गीकारिभिर्लौकायतिकैरेवोर्जितं जितं, हंहो आस्तिक्यं

साधु संरक्षितं धीधनैः । अयि भोः, पश्चाद्बाध्यतया तत्तथा नाङ्गीक्रियत इति चेत्, तर्हि एतेषाम्न खलु पश्चात्तनबाधबाध्यते-त्यत्रार्थे कस्ते देशिकः ।

अथास्तु द्वितीयइति चेत् (सत्त्वेन प्रमाणसिद्धत्वं), तद्धि परीक्षामधिकरोति । न हि परीक्षामन्तरा सत्त्वेन वाऽसत्त्वेन वा प्रमाणतः सिद्धाइति संभवति परिच्छित्तिः । न चैते प्रमेयाः सन्ति विज्ञानमिव स्वप्रकाशाः, येन न स्यात्साधकापेक्षा ।

## (विज्ञानस्वप्रकाशतावादः)

विज्ञानं हि स्वप्रकाशं स्वतःसिद्धस्वरूपम् । तद्धि नो परतः सेद्धुमर्हति । तथाहि—यत्र यत्र हि जिज्ञासितस्य(१)संशयविपर्ययव्यतिरेकप्रमायाश्च यावदभावकूटं वर्त्तते, तत्र तत्र जिज्ञासितस्य प्रमितत्वमि'त्यय नियमस्तार्किकसत्तावादिनैव निर्धारितः ! जायते च विज्ञाने न तावत्कस्यचिदपि कदाचिदपि 'जानामि, न वे'त्याकारकः संशयो, न वा विपर्ययो 'न जानामी'त्याकारकः न जानामीत्याकारा विज्ञानव्यतिरेकावगाहिनी प्रमा तु वराकी दूरापास्ता । तत्सद्भावे तदभावावगाहिग्रहस्य भ्रमत्वनियतेः । विज्ञानमस्वप्रकाशं चेदभविष्य-त्तर्हि विज्ञाने सत्यपि जिज्ञासायां सत्यां ज्ञानाभावविषयकं ज्ञानं संशयो वा विपर्ययो वा व्यतिरेकप्रमैव वा निरर्गलमभविष्यत् 'यत्र हि प्रमितत्वाभाव,—स्तत्र तत्र सत्यां जिज्ञासायां प्रमितत्वाभावावगाहि ज्ञानं जायत' इति प्रतिनियमात् । तदित्थं विज्ञानस्य परानपेक्षप्रमितत्वमेव स्वतःसिद्धत्वस्वप्रकाशत्वादिपदव्यपदेशभाक् ।

---

(१) यद्यपीच्छाया असिद्धवस्तुविषयकत्वस्वाभाव्यप्रतिनियमेन जानीयामित्येवं स्वप्रकाशस्वरूपे भाने न तावत्प्रभवत्यवतरीतुञ्जिज्ञासेति जिज्ञासास्वप्रकाशतयोः परस्परप्रत्यर्थिस्वरूपता न संघटते जिज्ञासया लिङ्गभेदनं, तथापि न खलु स्वप्रकाशतायां लैङ्गिकभानगोचरत्वमभ्याभिप्रयते, तथा सति हि परिपन्थिनी परप्रकाशतैव भवति रूढपदेति व्याख्युपदर्शनस्य तात्पर्यं विभावनीयम् ।

व्यवसायानन्तरमनुव्यवसायो भवतीति न व्यवसाये संशयादिरिति चेत्, अत्रैव गत्वा ज्ञानस्य ज्ञानं नाभ्युपगंस्यते, तत्र तज्ज्ञानव्यक्तेः संशयादिर्दुर्वार इति प्राथमिकविज्ञानविषयपर्यन्तविशयादिः प्रसरिष्यतीति व्यवहारोच्छेद एव पर्यवस्यति । विषयिसंशयादेर्विषयसंशयादिजनकताध्रौव्यात् । अथ व्यवसायानुव्यवसायतदनुव्यवसायपुनस्तदनुव्यवसायपारम्पर्येऽविश्रान्तैव मंस्यत इति चेत्, तर्हि यत्किञ्चिदेकमात्रविषयविषयकविज्ञानधाराया अविच्छिन्नप्रवाहतया जन्मशतकेनाऽपि विषयान्तरसञ्चारो दुर्लभ आपद्येत, ऽऽपद्येरंश्च मूर्च्छासुषुप्तिमरणमोक्षाः शशविषाणायिताः । मूर्च्छादौ हि तत्तद्विषयावगाहियावज्ज्ञानाभावः सर्ववादिसंप्रतिपन्नः । न चैतज्ज्ञानधारायाः संतनत्वे संघटते । ननु ज्ञानप्रामाण्यसंशयाधीनः संशयस्तत्राऽपि (वैज्ञानिकस्य) विषयपर्यन्तो निरर्गल एवेति चेन्नैतत्; ज्ञानस्वकाशतानये हि मानमेयभावव्यवस्थाया अभावादेव तदाश्रया दोषाः सन्ति निरवकाशाः । यदि तु भेदेन विषयविषयिभावो भवेत्, तर्हि ज्ञानस्वरूपमेव न सिद्ध्येत् । विज्ञानस्य परमुखनिरीक्षकत्वे ह्यापतति पूर्वोपदर्शितविधया मूलक्षयकरी खल्वनवस्था दुरवस्था । अथोच्येत, अवश्यज्ञेयतां ज्ञानस्य नाभ्युपेमः, स्वार्थसंव्यवहारस्तु ज्ञानस्य स्वरूपसत्तयैव निर्वहतीति ब्रूमह इति, न तदपि विचारचारु, यतः स्वरूपसत्तायां प्रमाणाप्रवृत्तौ स्वरूपसत्तेत्येव कुतः समायातम्, येन व्यवहारः समासादयेदात्मानम् । कुतोऽवसितमिदं सती सा वित्तिरिति, असत्येव कुतो न स्यात् । तदिदमुच्यते "अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यती"ति ।

घटपटादेः सत्तां व्यवहरन् हि प्रामाणिकस्तत्र प्रमाणसद्भाव वक्तुमर्हति, न हि प्रमाणमनुपन्यस्य परीक्षकेण तत्सत्ता शक्यतेऽङ्गीकर्तुम् । प्रमाणमव्यापारयतो वाङ्मात्रेण चेद्वस्तुसद्भावः सिध्येत्, तर्हि नास्तितावाङ्मयमात्रेणाऽसद्भाव एव किमिति न स्यात् तदवश्यं तेन घटसत्तायां व्यवस्थाप्यायां व्यवस्थापकप्रमाणसत्तोपन्यास्या । सापि च प्रमेयसत्तान्यायेन स्वावगाहिप्रमाणसत्तामपेक्षते । यदि हि प्रमाणसत्तान्तरमन्तरेणैव तत्प्रमा-

णसत्तां परोऽङ्गीकुर्याद्धन्त तर्हि प्रथमतएव विनैव प्रमाणसत्तया घटसत्तामेव किमिति नाङ्गीकरोति 'अन्तेरण्डाविवाहश्चेदादावेव कुतो नही'ति न्यायात् । तत्रास्ति चेत्प्रमाणसत्तान्तरं, तर्हि तत्राऽप्येवं, ततउत्तरत्राप्येवमेवेत्यनवस्थाडाकिनी न मुञ्चति पृष्ठम् । अथ नास्ति तत्र यत्किञ्चित्प्रमाणसद्भाव,स्तर्हि प्राथमिकी प्रमाणसत्तैव नात्मानमासादयति, कुतस्तरां तु वराकी प्रमेयसत्ता । अन्यथा कस्कः शशविषाणादिर्न सिध्येत् । तदित्थं तत्र यस्य कस्यचिदपि प्रमाणस्याऽप्रवृत्तौ प्रथमप्रमाणसत्ताया असद्भावः समायाति, यावत्प्रमाणसत्ताविनिवृत्तिर्हि स्वप्रमेयविनिवृत्तिप्रतिनियता खलु भवति । प्रमाणस्य चासद्भावे तदुच्छिष्टपुष्टस्य तस्य तस्य खलु विषयसत्त्वस्य स दूरपराहतो नामात्मलाभः । अथोच्येत, न तावद्व्यवहितपूर्वपरवित्तितद्वित्तिपारम्परीमभ्युपगच्छामः, ( येन व्यवहारानिष्पत्त्यापत्तिरियं स्यात ) किन्तु यदा कदाचित् कयाचिद्वित्तिव्यक्त्या कादाचित्की काचिद्वित्तिव्यक्तिः प्रमीयते इति । इत्थं च सर्वाऽपि वित्तिः प्रमाणसिद्धैव भवतीति चे'त्स्यात खल्विदं तदा, यदि नाम 'अयं घटः' 'घटमहं जानामी'त्यतोऽधिका काचित्कदाचिद्वित्तिरस्मदादेरुत्पद्यमानानुभूयेत, या स्याद्घटवित्तितद्वित्तिवित्तिप्रवाहं गोचरयन्ती तादृग्विषयशतभारोद्वहनमन्थरा । अथ मन्येता ऽस्मदादेरेतज्जन्मावच्छेदे वैवंविधा वित्तिरभवन्त्यपि योगिप्रभृतिविलक्षणजन्मावच्छेदेन स्यादिति संभवतीति, तर्हि यस्या वित्तेस्तावद्विषयगर्भिता धीर्विषयः, साऽप्यन्यया कयाचिद्वित्तिव्यक्त्या क्रोडीकरणीयेत्यमुष्मिन्नर्थे प्रमाणाभावो नाम, न नाम च तथा सति संभवति मोक्षः । उपदर्शितमुद्रया हि वित्तितद्वित्तिधाराप्रवाहप्रवृत्तौ कथंकारं यावद्विशेषगुणोच्छेदलक्षणो मोक्षः स्याल्लब्धपदः नापि च स्वात्मना सह तं तादृग्वित्तिप्रवाहं काचिद्वित्तिव्यक्तिरवगाढुमीष्टे, तथा भावे तत्रैव स्वप्रकाशता पदं निदधाति । निदधात्विति चेद्धन्त भोः, एतावद्धि भवतः प्रयासजातं जातमरण्यरुदितं नाम, प्रथमतएवास्माभिरुपदिष्टं तत्कुतो नाङ्गीकृतम् । एतेन 'अन्योन्यवित्तिगोचराऽन्योन्यवित्तिरि'त्यपि निरस्तम् ।

चरमा हि वित्तिव्यक्तिः स्वावगाहिनीमुपान्त्यां वित्तिव्यक्तिं गोचरयन्ती स्वात्मानं विषयीकुर्यादेव । एवमेवोपान्त्या वित्तिव्यक्तिरन्तिमां स्वावगाहिनीं विषयीकुर्वतीं स्वात्मानमपि गोचरयेदेवेति भविषयकान्योन्यग्रहे स्वप्रकाशतापत्तिः । ननु चरमा वित्तिव्यक्तिः पुरुषान्तरेण प्रमास्यते इत्यस्त्येव सा प्रमितेति न तद्वत्तदभावः सेद्धुमर्हतीति चेद्, त्रापि प्रमाणविशेषस्य त्वया दातुमशक्यतया कुतस्तदस्तितासिद्धिः । तद्दाने वा भूयो भूयः प्रमाणपरम्पराप्रधावनमित्यावेदितैवानवस्था । ननु ज्ञानसिद्ध्यन्यथानुपपत्तिरेव पर्यवस्यन्ती ज्ञानपरम्परामाक्षिपेत्, अन्यथा तु घटकादाचित्कत्वान्यथानुपपत्तिर्घटसामग्रीपरम्परामपि नाक्षिपेत् इति चेतन्न, यदि हि घटसामग्रीविच्छेदः स्यात्, तर्हि घटस्य कादाचित्कत्वं न स्यात् । ततश्च स्यादेव वा घटो, न स्यादेव वे,त्यनयोरन्यतरत् प्रसजेत् । अकारणकानां हि पदार्थानामुभय्येव विधा, ऐकान्तिकं सत्त्वमसत्त्वं वा यथा आत्मनः कदाचिदपि नाऽसत्त्वम्, शशशृङ्गस्य तु कदाचिदपि न सत्त्वम् । तच्चेदमुभयं घटस्य प्रत्यक्षक्षपितमिति घटस्य कादाचित्कत्वान्यथानुपपत्त्या घटसामग्रीतत्सामग्रीतत्सामग्रीसामग्रीधारा निराबाधा समापततीत्येवं घटसामग्रीपरम्पराङ्गीकारेऽनवस्थामात्रम् । तच्च तत्कादाचित्कत्वान्यथानुपपत्तिरूपप्रमाणपरिकल्पितत्वान्न खलु दोषइतीयं घटकोटिः । ज्ञानकोटौ तु ज्ञानसिद्धिरस्वस्मादपि भवन्ती न प्रभवति ज्ञानपरम्परामाक्षेप्तुम् इत्यन्यथोपपत्तिरेव, तत्कुतोऽन्यथानुपपत्तिः । ज्ञानस्थले तु यदि ज्ञानसिद्ध्यन्यथानुपपत्तिर्ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वाक्षेपिका भवे, त्तर्हि एवं ज्ञानपरम्पराङ्गीकारे सुदूरं ज्ञानधारां धावयित्वा ऽन्तिमज्ञानस्वरूपस्यापि तद्विषयकुक्षौ निक्षेपश्चेदुच्येत, तर्हि शरणीकृतैव स्वप्रकाशतेत्येतावद्धावनस्याऽप्रेक्षावच्चेष्टितत्वमेव तत्त्वं पर्यवस्यति । तत्कुक्ष्यऽनिक्षेपे वाऽनवस्थापिशाची न मुञ्चति पृष्ठम् । अथ तत्कुक्षावनिक्षिप्यैव स्वरूपं, चेद्विश्रम्यते, तर्ह्यन्तिमस्य तस्याऽसिद्धपदत्वे तदायत्तानां पूर्वपूर्वेषां ज्ञानानामसिद्ध्यापत्त्या सिकताकूपविशरणन्यायो दत्त-

पदो भवतीत्येवं ज्ञानपरम्परा नाम दुरुत्तरव्यसनपरम्परैव हन्त कीता ज्ञानपरप्रकाशतावादिभिः । न चैतैर्दोषैर्नास्त्येव ज्ञानमिति साधु, स्वतएव सर्वसिद्धस्य तस्य दुरपह्नवत्वात् ।

तदेवं सति भेदो ऽयं बौद्धानां ब्रह्मवादिनाम् ।
यदाहुरेके ऽनिर्वाच्यं कृत्स्नं ब्रह्मेतरत् परे ॥

तदुक्तं बुद्धेन लङ्कावतारे ( ग्रन्थविशेषे )

"बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते ।
अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः" ॥

## ( अथाऽनिर्वचनीयता )

इति । विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सदसद्भ्यां विलक्षणमिति यथाऽस्ति, दिशं दर्शयामस्तथा । तथाहि—

नेदं सद्भवितुमर्हति वक्ष्यमाणदूषणगणग्रस्तत्वात् । नाप्यसदेव, तथासति लौकिकविचारकाणां सर्वव्यवहारव्याहत्यापत्तेः ।

अथेयमनिर्वचनीयता वस्तुतोऽस्ति, नास्ति वेति चेत्, तदिदमगृहीतवाग्व्यभिसन्धेः प्रतिवादिनः प्रत्यवस्थानम्; यो हि नाम वस्तुमात्रं सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यामनिर्वचनीयमातिष्ठते, स तावत्प्रपञ्चाऽनिर्वचनीयतां तु पुनः सतीं ब्रूयादित्यहो दुराशापाशो मुग्धमनसाम् । इयमपि खलु जगदन्तःपातिन्येवेति, 'सर्वमनिर्वचनीय'मिति वदता जगन्मात्राभिधायिसर्वपदेनाऽनिर्वचनीयताप्यऽभिहितैव । न चाऽनिर्वचनीयतास्थापनेन भवतो द्वैतमापतितमिति वाच्यम्, यतो नो खलु वयं तां व्यवस्थापयामो,ऽपि प्रतिवादिमतानुसारेणैवेदं व्यवतिष्ठते, तेन जगन्निर्वक्तुं नो पार्यत इति तस्य अनिर्वचनीयत्वं पर्यवस्यतीति । विधिनिषेधयोरेकतरनिरासस्तदन्यपर्यवसायीति हि तैरभ्युपगम्यते । नन्वनिर्वचनीयत्वं पर्यवस्यतीत्यभ्युपगच्छतोऽपि भवतो भवत्येव द्वैतापत्तिरिति चेत् । न, तथा वयमभ्युपगच्छामो,ऽपि तु युष्मन्मतानुसारेणैवेदमायातीति केवलं युष्मान्प्रबोधयामः, वस्तुगत्या तु वयं सर्वप्रपञ्चसत्त्वासत्त्वव्यवस्थापनविनिवृत्ताः स्वतःसिद्धस्वरूपे विज्ञानात्मके ब्रह्मतत्त्वे केवले निर्भरजुषः कृतकृत्याः

सुखमास्महे । तु स्वपरिकल्पितां साधनबाधनव्यवस्थां पुरस्कृत्य विचारमवतारयन्ति तत्त्वं विनिश्चिकीषन्तः, तान् प्रति ब्रूमो वयम्, न खलु लाघवीयं भवतां विचारव्यवस्था भवत्कल्पितव्यवस्थयैव व्याहतत्वात् । अतएवास्मदुपन्यस्यमानदूषणस्थितिविषयाः पर्यनुयोगा निरवकाशाः ॥ युष्मद्व्यवस्थयैव युष्मद्व्यवस्थाया व्याहत्युपन्यासात् । न च विचारे एव व्याघातोपन्यासो भवता कर्त्तव्यस्स च तयोः सत्त्वमङ्गीकृत्यैवेति तयोः सत्त्वमभ्युपगतमिति द्वैतापत्तिरिति वाच्यम्, तदीयसत्त्वासत्त्वोपगमोदासीनैरेवास्माभिर्विचार्यमित्येतावन्मात्रमुद्दिश्य विचारप्रवर्त्तनायाः सुकरत्वात् । यदि तु विचारस्य सत्त्वमनभ्युपेत्य नैवं विचारयितुं शक्यमित्युच्यते, हन्त तर्हि प्रमाणमव्यापार्यं न तदीयसत्त्वाभ्युपगमोऽपि कर्त्तुं शक्यो,ऽन्यथा महमरसादेरपि सत्त्वाभ्युपगमः प्रसजेत् । ततश्च प्रथमतएव विचारस्यापि विचार्यताङ्गीकारे विचारविषयकविचारसाधनानामपि पुनरुक्तमुद्रया विचार्यत्वापत्तिरित्यऽनवस्थादौस्थ्येन चिकीर्षितविचारएव न तावदात्मानमासादयेत् । न च पूर्वपूर्वसिद्धत्वाद्विचारस्य तत्र विचारान्तरं नावश्यकमिति वाच्यम्, यतः, यदि विचारः पूर्वसिद्धस्तर्हि विचारस्य विचार्याऽविनाभूतत्वाद्विचार्यमपि पूर्वसिद्धमिति विचारस्य पुनरनारम्भएव सांप्रतम् । अथ विचार्यविशेषस्य पूर्वमसिद्धत्वादस्त्यावश्यकः साम्प्रतं विचारारम्भइति चेत्तर्हि तद्विषयकविचारविशेषस्याऽपि पूर्वमसिद्धिरेवेति सिद्धं तस्य विचार्यत्वमित्यनवस्थादौस्थ्येन विचारारम्भएवाशक्यः स्यादिति विरामएव रमणीयो लोहचणकचर्वणस्य ।

तत्र "व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्" इत्याऽऽचक्षते तावल्लाक्षणिकाः । व्यावृत्तिर्नामेतरभेदानुमितिः व्यवहारस्तु शब्दप्रयोगो हानादानादिरूपो वा । तत्र लक्षणाधीना, 'पृथिवी तदितरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वादि, त्यादिव्यावृत्तेः प्रक्रिया, 'यद्गन्धवत्,—तत्पृथिवीत्वेन व्यवहर्त्तव्यं हातव्यमादातव्यं वे'ति व्यवहारस्य । न चैतत्संभवि । तथाहि, लक्षणेन गन्धवत्त्वादिना ज्ञातायामेव पृथिव्यां व्योमभिन्नत्वेन व्यावृत्तिरूपं

व्यवहाररूपं वा साध्यं साधनीयं स्यात् । लक्षणज्ञानं च लक्ष्यान्तरसाधारण्येन भवदप्यकिञ्चित्करमित्यवश्यं लक्ष्यान्तरव्यावृत्ततयैव लक्षणस्य ज्ञानमङ्गीकार्यम् । तदेवं स्थिते, लक्षणस्य गन्धत्वादेर्व्यावृत्तिः पृथिव्यादिलक्ष्याधीनैव चेत्, तर्हि अन्योन्याश्रयः । गन्धवत्त्वेन हि पृथिवी जलादिभ्यो व्यावर्तनीया । गन्धवत्त्वं च जलादिसाधारणतया गृहीतं जलादिभ्यो व्यावर्तयितुं न खलु प्रभवतीति जलादिव्यावृत्ततया गृहीतं गन्धवत्त्वं पृथिव्याजलादिभ्यो व्यावृत्तिः पृथिवीस्वरूपेण क्रियतइति पृथिवीरूपलक्ष्यव्यावृत्तिर्गन्धवत्त्वरूपलक्षणव्यावृत्त्यधीना, अथ गन्धवत्त्वरूपलक्षणव्यावृत्तिः पृथिवीरूपलक्ष्यव्यावृत्त्यधीनेत्यनयोरेकतरस्य व्यावृत्तिरन्यतरव्यावृत्तिमपेक्षते परस्परमित्यन्योन्यव्यावृत्तिमुखनिरीक्षकत्वादन्योन्यव्यावृत्तेर्भवत्यन्योन्याश्रयः । अथ लक्षणान्तरमस्य लक्षणस्य व्यावर्तकं, तच्च लक्षणं लक्ष्येण व्यावृत्तम् इति चेत्, चक्रकम् । अथ लक्षणे लक्षणान्तरं तत्रापि लक्षणान्तरमेव व्यावर्तकमिति चेत्, देवमुपरिष्टादारोहणेऽपरावृत्तावनवस्था । एवं जलादिसाधारण्येन ज्ञातायां पृथिव्यामितरभेदसाधनमकिञ्चित्करमिति व्यावृत्तायां तस्यां तत्साधनं वाच्यम् । तद्व्यावृत्तिर्यदि प्रकृतलक्षणाधीना, तदान्योन्याश्रयः । लक्षणान्तरेण चेत्, प्रकृतलक्षणानुपयोगः । तदपि लक्षणं व्यावृत्तायामेव पृथिव्यां, सापि व्यावृत्तिर्लक्षणान्तरेणेत्येवमनवस्था ।

एवम्, त्रेदं प्रमाणमित्युपन्यस्ते वादिना, प्रष्टव्यम् 'किमिदं प्रमाणं नाम'? प्रमाकरणं प्रमाणमित्यत्र केयं प्रमा नाम । तत्त्वानुभूतिः प्रमेति चेत्, तस्य भावस्तत्त्वम् । प्रकृतश्च तच्छब्दार्थः । न चात्र प्रकृतं किञ्चित्, यत्तच्छब्देन परामर्शनीयं स्यात् । अथानुभूतिः स्वसम्बन्धिविषयमाक्षेपेण बुद्धिस्थीकरोति, सएव तच्छब्देन परामृश्यते, तदादिसर्वनाम्नां प्रकृतपरामर्शकत्वात्, वक्तृश्रोतृबुद्धिस्थतायां च प्रकरणपदार्थस्य विश्रामात् । एवं यथार्थस्य यो भावः, स तस्य तत्त्वमुच्यते इतिचेन्न, रजतादेरपि रजताद्यात्मनाऽनुभवविषयातासद्भावादसत्यानुभूत्यव्यवच्छेदात् । उक्तविधया तत्त्वशब्दस्य धर्मवाचकत्वा-

द्रूपर्यवाचकतया धर्मिप्रमाया विशिष्टवस्तुविषयकप्रमायाश्चाऽप्रमात्वापाताच्च । अथोच्यते चेत्, अवयवार्थपुरस्कारेण यदिदं दूषणाभिधानं तदकिञ्चित्करं, यतोऽयं तत्त्वशब्दो वस्तुस्वरूपमात्रवाचकइति, तदप्यापातरमणीयम्, यतः स्वरूपत्वस्य जातिरूपस्यो,पाधिरूपस्य वा यदि स्वस्मिन् वर्त्तमानत्वमङ्गीक्रियते, तर्ह्यात्माश्रयः । नो चे,त्तर्हि स्वरूपत्वप्रमायास्तत्त्वानुभूतित्वविरहान्न स्यात्प्रमात्वम् । न च स्वरूपशब्दार्थः कश्चिदनुगतइति तत्र तत्र तस्य तस्य स्वरूपशब्देन घर्त्तव्यतया लक्षणस्याऽव्यापकत्वम् । किञ्च, अत्र तत्त्वशब्देन विपर्ययादेर्निरासो भवतामभिप्रेतः, स च कथं स्यात् । तथा हि, शुक्तौ योऽयं रजतत्वप्रत्ययः, सोऽपि स्वरूपबुद्धिर्भवत्येव । न हि शुक्तिर्वा रजतत्वं वा न स्वरूपम् । न च तयोः प्रतिभासमानो यः सम्बन्ध,स्स न स्वरूपमिति वाच्यम् । यतः समवायो हि तयोर्भासमानः सम्बन्धः, स च स्वरूपमेव । सत्यम् । समवायस्वरूपम् । शुक्तिव्यक्तौ तु स रजतत्वस्य नास्तीति चेन्माभूत्तत्र, नहि तावता स्वरूपता व्यपैति । न हि गेहे चैत्रो नास्तीत्येतावता स्वरूपं न स्यात्, स्वरूपमात्रं च लक्षणघटकमुक्तमस्ति भवताम् । अथ न स्वरूपमात्रं तत्त्वमुच्यते, किन्तु यद्देशकालसम्बन्धि यस्य यत्स्वरूपं प्रतीतं, तस्य तद्देशकालसम्बन्धि तत्स्वरूपं तत्त्वमित्युच्यतइति चेन्मैवम्, देशकालयोर्देशकालसम्बन्धोऽस्ति । तयोः केवलस्वरूपमेव तत्त्वशब्दार्थइति चेत्, एवं सति तत्त्वशब्दस्यानेकार्थत्वेन तत्त्वेत्यादि, प्रमालक्षणस्याऽव्यापकतापत्तिः । अथोच्यते चेत्, ज्ञानोल्लिखितप्रकारवत्त्वं खलु विषयस्य तत्त्वम् । एवं च देशस्वरूप, कालरूप देशकालसम्बद्धस्वरूपाणामनुगमोऽस्त्विति, तदपि फल्गु, भावित्रक्तिम्नो घटस्य प्राग्यत्र रक्तपित्तादिदोषवशाद्रक्तिमपुरस्कारेण ज्ञानं जातम् । तज्ज्ञानमप्येवं सति प्रमा स्यात् । ज्ञानकाले ज्ञानोल्लिखितप्रकारवत्त्वमित्येवं यदातनत्वतदातनत्वविशेषणप्रक्षेपे कालावगाहिप्रमायाअप्रमात्वापातः । न हि खलु काले कालवैशिष्ट्यम् । अथ दिवसस्य प्रहर,श्चतुष्प्रहरो

दिवसो, यामवती यामिनीत्यादिसर्वजनीनप्रतीत्या कालेऽप्यस्तु कालसम्बन्ध इति चेत्तर्हि दण्ड्यपि देवदत्तः कुण्डलिनं स्वसम्बन्धारोहतु । उपाधिभेदेऽप्युपधेयस्यैकत्वादनिवृत्तेर्नोक्तापत्तिरिति चेद्धन्त निपुणोऽसि स्वयमेव दत्तोत्तरः न हि कालोपाध्यन्तरस्याऽपरकालोपाधिवृत्तावपि कालस्य कालवृत्तित्वं सिद्धं भवति ।

किंचेदमनुभूतित्वं नाम? ज्ञानत्वावान्तरजातिविशेष एवानुभूतित्वमिति चेत् कस्मादनुभूतित्वं जातिरभ्युपगम्यते । अनुभवत्यनुभवतीत्याकारानुगतप्रतीत्यन्यथानुपपत्तिमाहात्म्यात्, न, हि विषयागममन्तरा प्रतीतेरनुगमः संभवी । कथमन्यथा नीलपीतादिघटव्यक्त्यवगाहिप्रतीतेरिव पटावगाहिप्रतीतेरपि 'घटो घट' इत्याकारता नेति चेन्न तन्नाम, माघमासीयनिशावसाने सितासितसरित्संभेदस्नायिनः सत्यपि शब्दबलाद्भाविस्वकीयस्वर्गसुखसंप्रत्यये सुखमनुभवामीतिप्रतीत्यनुदयात्, प्रत्युत शीतसंभेदसम्भूतवेदनासंवेदनादेव । यदि तु शब्दोपदर्शितव्याप्तिज्ञानाऽनुमितिरनुभव एव स्यात्तर्हि सुखमनुभवामीति वा प्रत्ययः स्यात्तस्य । अथ मन्यसे, साक्षात्काररूपं खल्वनुभवशब्दार्थं मत्वानुभवामीति तस्य प्रत्ययव्यवहारौ न भवतः, शब्दज्ञानानुमानापेक्षौ तु तौ परीक्षकस्य भवेतामेव । सत्यप्यनुभवत्वे व्यवहारार्थं साक्षात्त्वमवश्यापेक्षणीयं चेत्किमनुभवत्वेन, परीक्षकस्य तु साक्षात्त्वमन्तरेणाप्यनुमादौ तद्व्यवहाराभ्युपगमेऽननुगम एव । अथ स्मृतिव्यावृत्तेन रूपेण यः प्रत्यक्षादिष्वनुभव इत्यनुगतावगमः, स साक्षात्कारित्वादनुपपन्नः । ततश्च साक्षात्कार्यसाक्षात्कारिविशेषेषु साधारणमनुभूतित्वमन्यदेवेष्टव्यम् इति चेत्, तदपि न, पदार्थान्तरव्यावृत्तेन रूपेण यस्तदितरेष्वनुगतः प्रत्ययस्तत्र तदेवरूपं निमित्तं, न तु जातिः काचित्तदनुरोधात्कल्पनीया, तथा सत्यऽक्षपदार्थेभ्यो घटादिभ्यो व्यावृत्तेन रूपेण विभीतकादिभ्यो व्यावृत्तेन रूपेण विभीतकादिषु साम्यावगमादक्षत्वजातिकल्पनापि प्रसजेत् ॥

तदेवं प्रमितेरनिरुक्त्या प्रमाकरणं प्रमाणमित्यप्यनिरुक्तम् । अनया खलु प्रमाणत्वनिरुक्तिखण्डनदिशाऽपरेषामपि पदार्थानां निरुक्तिः खण्डनं सम्प्रत्येतव्यम् ।

"समस्तलोकशास्त्रैकमत्यमाश्रित्य नृत्यतोः ।
का तदस्तु गतिस्तत्तद्वस्तुधीव्यवहारयोः ॥
उपपादयितुं तैस्तैर्मतैरशकनीययोः ।
अनिर्वक्तव्यतावादपादसेवागतिस्तयोः" ॥

इति सर्वं चतुरस्रम् ॥

"यदि च त्वद्दर्शनरीत्याभिधीयमानमस्माभिर्बाधं बाधसे, तदा स्वाभ्युपगतरीतिबाधविधायितैव ते स्यात् । अस्माभिर्निर्वाच्यमानस्य त्वया खण्डनयुक्त्यैव बाधेऽस्माकमेव जैत्रता, खण्डनयुक्तयो बाधिका, निर्वाच्यपक्षश्च बाध्यइत्यस्मदुक्तपक्षस्य त्वयैव निर्वाहात् । तस्मात्त्वयानिर्वाच्यमप्यस्माभिस्तु खण्डनीयमितीदृश्यामेव परं कथायां त्वन्निर्वाच्यनिर्वाहे तव जयो, नान्यथेती"दं प्रतिवादिनं प्रति तत्कर्त्तव्यताप्रबोधनं खण्डनकृतः ।

अयं चास्य ग्रन्थकर्त्तुरुपदेशः—"एवं प्रकारासु खलु खण्डनयुक्तिषु कामपि स्थानान्तरस्थां केनाऽपि प्रकारेणानीय, तत्सदृशीमन्यां वा स्वयमूहित्वा परैर्विविच्यमानान्यपि पदार्थान्तराणि बुद्धिमता बाधनीयानि । अत्र चास्माभिर्दूषयितुं शङ्कितेभ्यः पक्षप्रकारेभ्यो यदि प्रकारान्तरं कोऽपि स्वयमूहेतोक्तानां बाधकानां मध्ये क्वचित्स्वप्रज्ञया समादध्यात्, तत्र च खण्डनवादिनः प्रस्तुता प्रतिक्रिया न स्फुरेत्, तदा परेण प्रयुज्यमाने वाक्ये बहुपदात्मके कस्यचित्पदस्यार्थं खण्डयितुं खण्डनान्तरमवतारणीयम् । एवं तत्राऽपि परेण प्रज्ञाशोषणे पुनस्तथैव शाखान्तरेषु संक्रमणीयमिति खण्डनमहे चक्रे सम्यगवधेयम्" इति ।

"तत्तुल्योह, स्तदीयं च योजनं विषयान्तरे,
शङ्कला तस्य शोधे च, त्रिधा भवति मत्क्रिया।" ॥

इति च स्वकीयकर्त्तव्यतोत्कीर्त्तनम् ।

इति ।

एवं तावदिदं संवित्स्वप्रकाशतावादाऽनिर्वचनीयतावाद-स्वरूपं दिङ्मुद्रया प्रादीदृशं संकलय्य ग्रन्थयुक्तीरितस्ततस्त्या स्तेषां कृते, ये खलु खण्डनपद्धतावपरिशीलितसंनिवेशाः सहसा संचारे भवन्त्यातङ्कभाजः । तदत्र क्षाम्यन्तु ये ते खण्डनरत्नाकरे मन्दरसोदराः करकलितसमस्तयुक्तिकलापा हृदयालवो दयालवो, दयलवोऽपि तु तैः कर्त्तव्योऽस्मिञ्जने । अरण्यानीकान्तार-तारणोपायो हि साधारणस्य कृते कृतो भवति, न तु हुताशनस्य पवनस्य वा; पारावारपारावाप्तौ हि तरीरितस्य जनस्योपयुज्यते, न तु पावमानेर्वैदेहीजानेर्वा; शिखरिशिखरसमारोहे एकपद्याऽऽवश्यकी संजायते नवपान्थस्य, न तु पञ्चास्यस्य वैनतेयस्य वेति साञ्जलिबन्धमभ्यर्थयते—

१९४४ वैक्रमाब्दे
माघशुक्लपक्षतौ } रा० भागवताचार्यः ।

श्रीमत्यजस्रं जयति प्रकामं राजाधिराज्ञी जयिनी जगत्याम् ।
यद्राज्यसाम्राज्यगतौ नितान्तं नास्तं गतौ स्तस्तपनप्रतापौ ॥
तत्संप्रतिष्ठापितकाशिकैतद्विद्यामहामन्दिरकल्पवृक्षः ।
आमोदमुल्लासयतादजस्रमाचन्द्रमावारिधि चैवमेव ॥
दुर्दान्तताद्दृग्यवनेशदृप्यन्मतङ्गजे दुर्गतिमागतोऽत्र ।
अविघ्नमास्ते यदुपघ्ननिघ्नः प्रागार्यविद्याव्रततिप्रतानः ॥
विजृम्भितः पल्लवितः प्रकामं सुपुष्पितश्चाथ फलैग्रहिश्च ।
यत्संश्रयाद्वाऽप्रतिमोपकारसंभारलाभोऽस्य जनस्य जातः ॥

——:o:——

## अथ खण्डनखण्डखाद्योक्तमुख्यविषयाणां

## सूचीपत्रम्।


| विषयाः। | पृष्ठम् | पं० | विषयाः। | पृष्ठम् | पं० |
|---|---|---|---|---|---|
| मूलकृन्मङ्गलाचरणम्। | १ | १ | स्मृतिलक्षणखण्डनम्। | १५६ | २० |
| टीकाकारस्य मङ्गलाचरणम्। | १ | २ | पुनः प्रक्रान्तानुभूतिखण्डनम्। | १७८ | ५ |
| विजिगीषूणां ग्रन्थप्रवृत्तौ प्रयोजनकथनम्। | ४ | १५ | प्रमुष्टतत्ताकस्मरणखण्डनम्। | १८० | १६ |
| कथायाः प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमनैयत्यनिराकरणम्। | ५ | ३ | दोषत्वखण्डनम्। | १८८ | १० |
| असतः कारणत्वोपपादनम्। | २४ | १८ | अन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेदखण्डनम्। | २०२ | २१ |
| सतः कारणत्वखण्डनम्। | ३० | २ | यथार्थेत्यादिप्रमालक्षणखण्डनम्। | २३८ | ५ |
| ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वोपपादनम्। | ४७ | १८ | सम्यक्परिच्छित्तीत्यादिप्रमालक्षणखण्डनम्। | २४४ | ४ |
| विषयविषयिभावविरोधखण्डनम्। | ६८ | १ | करणत्वानिरुक्त्या प्रमाकरणप्रमाणखण्डनम्। | २५८ | १० |
| अद्वैते किं मानमिति प्रश्नस्य खण्डनोत्तरे। | ८२ | १५ | व्यापारखण्डनम्। | २७५ | ३ |
| प्रत्यक्षादेरद्वैतश्रुतिबाधकत्वखण्डनम्। | ८८ | १३ | प्रत्यक्षप्रमाणखण्डनम्। | २८३ | १ |
| स्वरूपभेदादिखण्डनम्। | १११ | ११ | सपरिकरानुमानखण्डनम्। | ३४७ | ३ |
| युक्तीनां कथावयवेऽवतारः। | १३८ | १५ | उपमानखण्डनम्। | ३८६ | ८ |
| प्रमालक्षणखण्डनम्। | १४५ | १३ | शब्दप्रमाणखण्डनम्। | ३९६ | ८ |
| अनुभूतिखण्डनम्। | १५२ | १६ | पदत्वखण्डनम्। | ३९८ | ६ |
| प्रत्यभिज्ञाखण्डनम्। | १५६ | ४ | अर्थापत्तिप्रमाणखण्डनम्। | ४०२ | ६ |
| | | | अनुपलब्धिप्रमाणखण्डनम्। | ४०८ | ४ |

| विषयाः | पृष्ठम् | पं० |
|---|---|---|
| असिद्धखण्डनम् । | ४१५ | १५ |
| विरुद्धखण्डनम् । | ४३६ | १४ |
| अनैकान्तिकखण्डनम् । | ४५३ | १४ |
| साधारणादिखण्डनम् । | ४५१ | ८ |
| सत्प्रतिपक्षखण्डनम् । | ४६६ | २२ |
| कालात्ययापदिष्टखण्डनम् । | ४९४ | १ |
| इति प्रथमः परिच्छेदः । | | |
| प्रतिज्ञाहानिखण्डनम् । | ५११ | ३ |
| प्रतिज्ञान्तरखण्डनम् । | ५१४ | १८ |
| प्रतिज्ञाविरोधखण्डनम् । | ५१९ | २५ |
| प्रतिबन्दिखण्डनम् । | ५२४ | १९ |
| अपसिद्धान्तखण्डनम् । | ५३२ | १ |
| इति द्वितीयः परिच्छेदः । | ५३२ | |
| ईश्वरसद्भावे किं प्रमाणमित्यदो किमादिसर्वनामखण्डनेन प्रश्नस्यैव खण्डनम् । | ५५३ | ३ |
| इति तृतीयः परिच्छेदः । | | |
| भावत्वखण्डनम् । | ५६२ | ३ |
| अभावत्वखण्डनम् । | ५६८ | २१ |
| विशिष्टत्वखण्डनम् । | ५७१ | ५ |
| द्रव्यलक्षणखण्डनम् । | ५७८ | २ |
| गुणलक्षणखण्डनम् । | ५७९ | ७ |
| सामान्यखण्डनम् । | ५८३ | १० |
| नित्यत्वखण्डनम् । | ५८५ | १५ |
| विशेषखण्डनम् । | ५८७ | २६ |
| सम्बन्धखण्डनम् । | ५८९ | १३ |
| आधारत्वखण्डनम् । | ५९४ | ७ |
| ऊर्द्ध्वाधः पदार्थखण्डनम् । | ५९७ | ८ |
| विषयविषयिभावसम्बन्धखण्डनम् । | ६०२ | ११ |
| पुनर्भेदखण्डनम् । | ६१६ | ८ |
| कारणत्वखण्डनम् । | ६५[illegible] | १३ |
| कालखण्डनम् । | ६७० | २१ |
| प्रागभावप्रध्वंसाभावयोः खण्डनम् । | ६७३ | ९ |
| संशयलक्षणखण्डनम् । | ६७८ | १३ |
| भावाभावयोर्विरोधखण्डनम् । | ६८७ | ७ |
| तर्कखण्डनम् । | ६९४ | २१ |
| इति चतुर्थः परिच्छेदः । | | |

# अकारादिवर्णानुक्रमेण

# सूचीपत्रम् ।


| विषयाः | पृष्ठम् | पं० |
|---|---|---|
| अ । | | |
| असतः कारणत्वोपपादनम् । | २४ | ८ |
| अद्वैते किं मानमिति प्रश्नस्य खण्डनोत्तरे । | ८२ | १५ |
| अनुभूतिखण्डनम् । | १५२ | १ |
| अन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेदखण्डनम् । | २०२ | २ |
| अर्थापत्तिखण्डनम् । | ४०२ | ६ |
| अनुपलब्धिखण्डनम् । | ४०८ | ४ |
| असिद्धखण्डनम् । | ४१५ | १४ |
| अनैकान्तिकखण्डनम् । | ४४३ | १४ |
| अपसिद्धान्तखण्डनम् । | ५३२ | १ |
| अभावत्वखण्डनम् । | ५६८ | २१ |
| आधारत्वखण्डनम् । | ५८४ | ७ |
| अनुमानस्य सपरिकरस्य खण्डनम् । | ३४७ | ३ |
| ई । | | |
| ईश्वरसद्भावे किं प्रमाणमित्यादौ किमादिनर्व. नामखण्डनेन प्रश्नस्यैवखण्डनम् । | ५५३ | ३ |
| उ । | | |
| उपमानखण्डनम् । | ३८६ | ८ |
| ऊर्द्ध्वाधःपदार्थखण्डनम् । | ५८० | ८ |
| क । | | |
| करणत्वानिरुक्त्या प्रमाकरणप्रमाणखण्डनम् । | २५८ | १० |
| कालात्ययापदिष्टखण्डनम् । | ४८४ | १ |
| कारणत्वखण्डनम् । | ६५० | १३ |
| कालखण्डनम् । | ६७० | २१ |
| ज्ञ । | | |
| ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वोपपादनम् । | ५७ | १८ |
| त । | | |
| तर्कखण्डनम् । | ६८४ | २१ |
| द । | | |
| दोषत्वखण्डनम् । | १८८ | १० |
| द्रव्यत्वखण्डनम् । | ५७८ | २ |
| प । | | |
| प्रमाणादिस्वाभ्युपगमखण्डनम् । | ५ | ३ |
| प्रत्यक्षादेरद्वैतश्रुतिबाधकत्वखण्डनम् । | ८८ | १३ |
| प्रमालक्षणखण्डनम् । | १४५ | १३ |

| विषयाः। | पृष्ठम् | पं० |
|---|---|---|
| प्रत्यभिज्ञाखण्डनम्। | १५९ | ४ |
| प्रमुष्टतत्ताकस्मरणखण्डनम्। | १८० | १६ |
| प्रतिज्ञाहानीखण्डनम्। | ५११ | ३ |
| प्रतिज्ञान्तरखण्डनम्। | ५१४ | १८ |
| प्रतिबन्दीखण्डनम्। | ५२४ | १९ |
| प्रागभावप्रध्वंसाभावयोः खण्डनम्। | ६७३ | ९ |
| भ। | | |
| भावत्वखण्डनम्। | ५६२ | ३ |
| भावाभावयोर्विरोधखण्डनम्। | ६८७ | ७ |
| य। | | |
| युक्तीनां कथात्रयेऽव- | | १३ |
| तारः। | १३९ | ५ |
| यथार्थत्वादिप्रमालक्षणखण्डनम्। | २३८ | ५ |
| व। | | |
| विरुद्धखण्डनम्। | ४३६ | १४ |
| विशिष्टत्वखण्डनम्। | ४७१ | ५ |
| विशेषखण्डनम्। | ५८७ | २६ |
| विषयविषयिभावसम्बन्धखण्डनम्। | ६०२ | ११ |
| विषयविषयिभावविरोधखण्डनम्। | ६८ | १ |
| श। | | |
| शब्दप्रमाणखण्डनम्। | ३९६ | ८ |
| स। | | |
| सतःकारणत्वोपपादनम्। | ३० | २ |
| स्वरूपभेदादिखण्डनम्। | १११ | ११ |
| स्मृतिलक्षणखण्डनम्। | १४६ | २० |
| सम्यक्परिच्छित्तीत्यादिप्रमालक्षणखण्डनम्। | २४४ | ४ |
| साधारणादिखण्डनम्। | ४५१ | १८ |
| सत्प्रतिपक्षखण्डनम्। | ४६६ | १२ |
| सामान्यखण्डनम्। | ५८३ | १० |
| सम्बन्धखण्डनम्। | ५८९ | १३ |
| संशयलक्षणखण्डनम्। | ६७८ | १३ |




## ॥ संस्कर्तुः स्वसङ्केतसूचनम् ॥

आद्यन्तयोः * अस्य चिह्नस्य ( सीमापुष्पस्य ) दर्शनेन शङ्काया आद्यन्तयोरवधिरुन्नेयः, न चेत्यस्य वाच्यमित्याद्यग्रिमेणाऽन्वयसूचनार्थमपि चाद्यन्तयोस्तदेव चिह्नमुपन्यस्तम्, यत्र च नचेत्यस्यान्ते वाच्यमित्यादिपदं न दृश्यते तत्राप्यन्ते निरुक्तचिह्नदर्शनेनैव वाच्यमित्यादिपदमध्याहृत्यार्थ उपवर्णनीयः, शङ्कान्ते च प्रायः सर्वत्र? एतत् प्रश्नचिह्नमुपन्यस्तं, परत्र चौत्थानिकशङ्काद्यन्तयोरायासबाहुल्यं सम्भाव्य प्रायः शङ्काद्यन्तसूचकम् * एतच्चिह्न ( सीमापुष्पम् ) उपैक्षिषि, अन्ते शङ्काद्योतकम् ? एतत्प्रश्नचिह्नमपि चोपैक्षिषि । पौर्विकाग्रिमयोः शब्दयोः (क्वचिदर्थयोरपि) चाङ्गुलीनिर्देशपुरस्सरं प्रदर्शनार्थं सर्वत्र–एतत् (निर्देशचिह्नं) प्रयुक्तम् । अपि च मूलप्रतीकस्य सद्योलाभार्थं मूलव्याख्यानयोः a, , c, इत्यादिक्रम उपन्यस्तः, यत्र चार्थान्तरव्याचिख्यासया व्याख्यायां पुनः प्रतीकधारणं तत्र a, b, c. इत्यादिक्रम उपक्षितः, गर्तप्रदर्शिन्यां च मूलव्याख्यानयोः सद्यः, प्रतीकलाभार्थं a, c, इत्यादिचिह्नस्थाने (१) (२) (३) इत्याद्यङ्कक्रम उपन्यस्तः, यत्र चैक एव विषयोऽनेकत्र सुसूचयिषितस्तत्र (१) (२) (३) इत्याद्यङ्कस्थाने † ‡ इति त्रिशूलषट्शूलादिचिह्नमुपन्यस्तम्, यथा ११२ पृष्ठे, क्वचिच्च गर्तप्रदर्शिन्यां समाप्तिद्योतकपद्येऽपि, यथा पृष्ठे । परोक्तेरुपक्रमे "एतद्, अन्ते च" एतद् (अन्योक्तिचिह्नं) प्रतिष्ठापितम् । गर्तप्रदर्शिन्यां च प्रायः प्रतीकाद्यन्तयोरस्य विशेषोपयोगमनालक्ष्य त्यक्तमेतद्, क्वाप्यङ्गुल्या निर्दिष्टयोः पूर्वाग्रिमयोः शब्दयोरर्थयोर्वाऽऽद्यन्तसीमाबन्धनार्थमादौ 'एतद्, अन्ते च' एतत् (सीमाबन्धं) प्रायुक्षि । अपि च यत्र, एतद् (लघुविरामचिह्नं) भवेत्तत्र किञ्चिदेव स्थातव्यं, यत्र च ; एतद् (अर्धविरामचिह्नं) तत्र ततो द्विगुणो विरामः कर्तव्यः; पूर्णो विरामश्च । एतत्पूर्णविरामचिह्नस्थले । परन्तु व्याख्याय

प्रतीकाद्यन्तयोः पूर्णविराममन्तरापि निरुक्तचिह्नमुपन्यस्तम्, त्यक्तं च तद्गर्तप्रदर्शिन्यां विशेषोपयोगमनालोच्य । यत्र तु प्रतीके किञ्चित्पुनर्वक्तव्यं नावशिष्यते तत्र शाङ्करव्यायां एतद् ( विश्लेषचिह्नम् ) उपन्यास्थम् । पूर्वापरशब्दयोरेकार्थताद्योतकं व्याख्यानव्याख्येयभावद्योतकं वा =एतद् ( एकार्थताचिह्नम् ) । यत्र च किञ्चिद् वाग्धाराप्रवाहे मध्यतो वक्तव्यं भवति तत्र मध्येक्तिसीमाद्योतनार्थमाद्यन्तयोरनुलोमार्द्धचन्द्राकारम् ( ) एतत् (मध्योक्तिचिन्हं) व्यवातिष्ठिपम् । अपिच, यत्र गर्तप्रदर्शनावसरेऽन्वयोपयोगीन्यधिकानि कानि कानिचिदक्षराणि प्रयुक्तानि तत्सीमाद्योतनार्थमप्याद्यन्तयोर्निरुक्तचिह्नमनुसन्धेयम् । क्वचिद्बहूनि नामान्यालक्ष्य विभागशो नाम्नां प्रदर्शनार्थमपि मध्येमध्ये नाम्नाम्–एतद् (योजकचिन्हं) प्रातिष्ठिपं, यथा पञ्चमपृष्ठे गर्तप्रदर्शन्यां "प्रमाण–प्रमेय–संशय–प्रयोजन–दृष्टान्तेत्यादि । पङ्क्त्यन्तेऽपरिसमाप्तपदे चैतद्योजकचिह्नमुपन्यस्तम् । मूलव्याख्यानयोश्च मुख्यप्रकरणावान्तरप्रकरणयोः समाप्तिसूचनार्थं——एतत् ( समाप्तिनिर्द्देशचिह्नम् ), तस्यैव प्रतिसूचनार्थं च गर्तप्रदर्शिन्यां { } एतन्मध्योक्तिचिह्नद्वयान्तराले पद्यान्यप्युपनिबद्धायुजमिति ।

## ॥ सर्वाणि चिह्नानि ॥

| | |
|---|---|
| ! सम्बोधनचिह्नम् । | । पूर्णविरामः । |
| * सीमापुष्पम् । | ॥ विश्लेषः । |
| " " अन्योक्तिचिह्नम् । | – योजकम् । |
| ( ) सीमाबन्धः । | ( ) मध्योक्तिचिह्नम् । |
| – निर्देशः । | —— समाप्तिनिर्द्देशः । |
| ? प्रश्नचिह्नम् । | † त्रिशूलम् । |
| , लघुविरामः । | ‡ षट्शूलम् । |
| ; अर्धविरामः । | |

॥ ओं श्रीगणेशाय नमः ॥

# ॥ खण्डनखण्डखाद्यम् ॥

## अथ प्रथमः परिच्छेदः ।

—◦—

### मू० अविकल्पविषय एकः, स्थाणुः—

हरिशङ्करयोः (१) सितासितं, भुजगारातिभुजङ्गलाञ्छनम् ।
वपुरस्तु मुदे विरुद्धयोरपि संसर्गि न भिन्नतां गतम् ॥ १ ॥
विरुद्धधर्मद्वयसन्निपातेऽप्यभेद एवेति विभावयन्तम् ।
पुनातु भेदप्रतिभासशून्यं स्त्रीपुंसरूपं शिवयोः(२) शरीरम् ॥ २ ॥
भवनाथ (३)सूक्तिगुम्फनमिह खण्डनखाद्यटीकायाम् ।
श्रीशङ्करेण विदुषा, विदुषामानन्दवर्द्धनं क्रियते ॥ ३ ॥

प्रारिप्सितप्रतिबन्धकृद्दुरितनिवारणकारणेष्टदेवतानमस्काररूपं मङ्गलं कुर्वन्नेव प्रेक्षा(४) वत्प्रवृत्त्यङ्गप्रयोजनाभिधेयसम्बन्धप्रतिपादनपरः परमतनिराकरणचिकीर्षया स्वमतं ब्रह्माद्वैतमास्थायुको (५) वैतण्डिकोऽपि स्वप्रौढिप्रकटनाय (६) सूचयन्नाह—। "अविकल्प"—इति ॥ "एकः पुरुष" इति । 'अद्वितीयं ब्रह्मे(७)त्यर्थः, श्रुतिषु तथा श्रुतत्वात्, यद्यथा श्रुतिषु श्रुतं, तत्तथा,

---

(१) विरुद्धयोरपि हरिशङ्करयोः संसर्गि वपुर्मुदेऽस्त्वित्यन्वयः । संसर्गीत्यस्यैव विवरणं—न भिन्नतां गतमिति, तदुक्तं "स ब्रह्मा स शिवः स हरिः" "शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः" इति । उक्तं विरोधमेव स्फुटयति सितेत्यादिना; सितः=श्वेतः शङ्करः, असितः=कृष्णवर्णो हरिः ; भुजगारातिर्गरुडस्तल्लाञ्छनः=तद्वाहनो हरिः, भुजङ्गलाञ्छनः=भुजङ्गभूषितस्तु शङ्कर इति विवेकः ।

(२) शिवा, शिवश्च शिवौ ; तयोः शिवयोः गौरीशङ्करयोरित्यर्थः ।

(३) भवनाथस्य मत्पितुर्याः सूक्तयः=सुव्याख्यानानि तासां गुम्फनमित्यर्थः ।

(४) हेयोपादेयगोचराबुद्धिः प्रेक्षा, तद्वन्तः प्रेक्षावन्तः ।

(५) अत्र "लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशॄभ्य उकञ्" (अ० ३ पा० २ सू० १५४) इति पाणिनीयसूत्रेण "आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु" (अ० ३ पा० २ सू० १३४) इति तत्साधुकारित्वेऽर्थे उकञ्प्रत्ययस्तथा च "ब्रह्माद्वैतमास्थायुक" इत्यस्य ब्रह्माद्वैतव्यवस्थापनसाधुकारीत्यर्थः । अनौत्सर्गिकषष्ठीविरहस्तु "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थ तृनाम्" (अ० २ । पा० ३ । सू० ६९) इति पाणिनीय सूत्रेण । ब्रह्माद्वैतमास्थापकः" इतिपुस्तकान्तरे प्रायिकः पाठस्तु प्रामादिकः, प्रकृतानुपयुक्तार्थाभिधायित्वात्, प्राचीनपुस्तकविरुद्धत्वात्, द्वितीयाया असम्भवाच्च ।

(६) वैतण्डिकस्यापि मङ्गलाचरणं स्वमतस्य च व्यवस्थापनं स्वप्रौढिप्रकटनम् । स्वमतं सूचयन्नित्यन्वयः ।

(७) 'प्रसिद्धोद्देशेनाऽप्रसिद्धं विधीयते' इति न्यायेन ब्रह्माद्वितीयमित्यन्वयः

यथा ब्रह्मण आनन्दमयत्वं, तथा चाऽद्वितीयं ब्रह्म' इति स्थापनसूचना। तमीश्वरं वन्दे यः अविकल्पविषयः, विकल्पः=संशयस्तदऽविषय इत्यर्थः। विरुद्धनानाप्रकारकं हि ज्ञानं संशयः स चाद्वैते न संभवति न वा सर्वसिद्धे संशयावकाश इति भावः। यद्वा विकल्पः=विशिष्टज्ञानं, तदविषय इत्यर्थः, अद्वैते प्रकाराभावात् सप्रकारकज्ञानानुत्पत्तेरिति भावः। यद्वा अविकल्पः=निर्विकल्पकं, तद्विषयः तन्मात्रविषय इत्यर्थः। अद्वैते प्रकाराभावेन सविकल्पत्वाऽभावादिति भावः। यद्वा विकल्पस्य=कल्प(१)नायाः अविषयः पारमार्थिकत्वात्। यद्वा अविकल्पः=निर्विल्पकज्ञानं(२), तद् विषयो यस्येति बहुव्रीहिः, ब्रह्मणः स्वप्रकाशचिद्रूपत्वात्। एकः, अद्वितीय इत्यर्थः॥ "स्थाणुरि"ति। स्थिर इत्यर्थः, कूटस्थनित्यत्वात्। यद्वा स्थाणुरिव स्थाणुः सुखदुःखाद्युपाधिसम्भेदरहित इत्यर्थः॥

**मू० पुरुषः श्रुतोऽस्ति यः श्रुतिषु। ईश्वरमुमया न परं वन्दे नु मयापि तमधिगतम्॥ १॥**

टी० पुरुषः=क्षेत्रज्ञः, तेन क्षेत्रज्ञाऽभेदो ध्वनितः॥ सर्वत्र प्रमाणमाह—"श्रुत"इति। 'श्रुतिषु'—इति(३)सर्वाः श्रुतीराह, तथा च कर्मकाण्डस्यापि ब्रह्मपरत्वमिति ध्वनितम्। 'अस्ति'—इति स्वसाक्षिकविद्यमानैकरूपतामाह॥ उमाया इव स्वस्यापि भगवदेकतानतामाह—उमया परमधिगतमेव न, किन्नाम श्रवणादनु=पश्चान्मयापि=श्रीहर्षेणाप्यधिगतमेवेति। नु—शब्दः सम्बन्धने(४)वा। अधिगमस्त्वत्र मननमेव। उमाऽनुमे=विद्याविद्ये वा। ताभ्यां स्वर्गसंसारदशाविशेषेणाधिगतत्वा(५)द्विषयी-

(१) कल्पनायाः=मिथ्याज्ञानस्येत्यर्थः।

(२) ब्रह्मात्मकं ज्ञानं ब्रह्माकारं वा।

(३) 'बहुवचनम्' इति शेषः पूरणीयः।

(४) न केवलमुमयैवाधिगतं, परं मयाप्यधिगतमित्युभयोरप्यधिगमस्य सम्बन्धने=समुच्चये. नु शब्द इत्यर्थः। 'सम्बोधने,' इति त्वपपाठः. सम्बोध्यस्य देवदत्तादेरनुपलभ्यमानत्वात्।

(५) विद्यया=उपासनया स्वर्गदशाविशेषेणाधिगतत्वादविद्यया च संसारदशाविशेषेणाधिगतत्वादिति विभागः। यद्वा ब्रह्मात्मैकत्वप्रतिपत्तिरेव मुख्यो विद्यापदार्थः; एतत्पक्षे स्वर्गपदेन सुखरूप आत्मैव ग्राह्यः। अत्र यद्यपि स्वर्गसंसारदशावि-

कृतत्वात् । यद्वा उमया=गौर्या, मया=च लक्ष्म्या, अधिगतम्=आश्लिष्टं । तेन विष्णुगौरीश्वराभेद उक्तः "मा मातरि च माने च, मा च लक्ष्मीः प्रकीर्तिता" इति कोशात् । विरोधाभासश्चालङ्कारोऽयं, तथाहि—'एकः, स्थाणुः पुरुषश्च'इति विरुद्धं; स्थाणुः पुरुषः, संशयाविषयश्च'इति विरुद्धं; 'श्रुतिषु श्रुतश्च, विशिष्टज्ञानाऽविषयश्च'इति विरुद्धम्; उमयाऽधिगतस्याऽनुमाधिगतत्वं च विरुद्धम्; यथाच न विरोधस्तथा व्याख्यातमेव । अत्र पुरुषसमभिव्याहृतस्यैकपदस्य कैवल्यार्थकतया पुरुषकैवल्यं परमप्रयोजनमुक्तं, सङ्ख्यार्थतया(१)पुरुषस्य ब्रह्मणा एकत्वमद्वैतमभिधेयमुक्तम्, अवान्तरप्रयोजनं चाऽनुमया=मननेनाधिगतत्वमुक्तं वेदितव्यम् ॥ १ ॥

सू० मानाः(२)ऽपनोदनविनोदनते गिरीशे
भासेव सङ्कुचितयोरुचितं तदिन्दोः ।
भेत्तुं भवाऽनिशचितं दुरितं भवानि
नम्रीभवानि घनमङ्घ्रिसरोजयोस्ते ॥ २ ॥

टी० शिवं नत्वा शक्तिं नमस्यति—। "मानापनोदन"—इति । हे भवानि!=भवस्य पत्नि!, घनं=निरन्तरं यथा स्यादेवं, तवाङ्घ्रिसरोजयोश्चरणकमलयोर्नम्रीभवानि=अवनतः स्याम् । किंविशिष्टयोरङ्घ्रिसरोजयोः? गिरीशे=महेशे, मानापनोदनविनोदनते=मनस्वितानिराकरणक्रीडानम्रे, तदिन्दोः=तन्मौलिचन्द्रस्य, भासेव=ज्योत्स्नयेव, उचितं यथा स्यादेवं सङ्कुचितयोः=उपजातसङ्कोचयोः । भर्त्तरि प्रणिपातायोद्यते लज्जया चरणसङ्कोचस्तावदुचितः

शेषेणेत्येव बहुषु पुस्तकेषु पाठ उपलभ्यते तथापि पाठसारूप्यानुरोधेन स्वर्गिसंसारिदशाविशेषेण इति, स्वर्गसंसारदशाविशेषेणेत्येव वा पाठ उचितः ।

(१) यद्यपि "आदशतः सङ्ख्याः सङ्ख्येये" इत्यनुशासनेनैकशब्दस्य सङ्ख्येयार्थकतया सङ्ख्यार्थकताऽऽख्यानमप्राप्तं तथापि द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने"इत्यादाविव भावप्रधाननिर्द्देशत्वेन सङ्ख्यार्थकतयेत्युक्तम् । "सङ्ख्ययार्थकतया" इति क्वाचित्कः पाठस्तु केवलं भ्रमविजृम्भितः; अन्यथा 'ब्रह्मणा एकत्वमुक्तम्' इत्यपिमग्रन्थस्य स्थाने "एकं ब्रह्मेत्युक्तम्" इत्येव परिपठितं स्यात् ।

(२) भवानीमनादृत्य भवेन सपत्न्या गङ्गायाः कपर्द्दे धारणं भवान्या मानजनकं बोद्धव्यम् ॥

तत्र तदिन्दोर्भासेवेत्युत्प्रेक्षा । दवीय(१)स्यपि चन्द्रमसि सरोजसङ्कोचो नेदीय(२)सि सुतरामित्युत्प्रेक्षोद्दीपनम् । किं कर्तुं ? भवानिशचितं दुरितं भेत्तुं; संसा (३) राविश्रान्तसञ्चितकल्मषनिरासायेत्यर्थः । यद्वा हे भवानि! अहं त्वच्चरणयोर्नम्रीभवानि, त्वं पुनरनिशचितं दुरितं भेत्तुं भव=प्रभवेत्यर्थः । एतेन जगद्वन्दनीयस्यापि गिरीशस्य वन्दनीययोर्भवानीचरणकमलयोरत्यन्तवन्द्यत्वमुक्तम् । अथवा (४) "हे ब्रह्माद्वैतोपदेशक! त्वं ममानिशचितं दुरितं भेत्तुं भव=प्रभव, अहं तवाङ्घ्रिसरोजयोर्नम्रीभवानि" इति गिरीशे=वादिनि (५) मानापनोदनविनोदनते,=वादित्वाभिमानखण्डनक्रीडानम्रे सति, अहं भवानि, अर्थादनुगतवादिदुरितभेत्ता भवानि=भविष्यामि; तथा तत्त्वमुपदिशानि यथाऽनुगतवादिनो दुरितं भङ्क्ष्यती-(६)ति ग्रन्थकृतः स्वंप्रत्याशंसा । तदिन्दोर्भासा सङ्कुचितयोः, स चासाविन्दुश्चेति तदिन्दुर्वादी पराजयकलङ्कवानित्यर्थः; तस्य भासा=जितत्वेन मन्दया प्रभयेत्यर्थः, भवति हि स्वव्यवसायेन भङ्गिनं वादिनं दृष्ट्वा साधोः सङ्कोचः "विप्रं निर्जित्य वादत" इत्यादिनिन्दाश्रवणात् ॥ २ ॥

**मू० शब्दार्थनिर्वचनखण्डनया नयन्तः**
**सर्वत्र निर्वचनभावमखर्वगर्वान् ।**

---

(१) दवीयसि=अतिदूरस्थे ।

(२) नेदीयसि=अतिसमीपस्थे ।

(३) संसारेऽविश्रान्तं=निरन्तरं सञ्चितानि=उपार्जितानि यानि कल्मषाणि तन्निरासायेत्यर्थः ।

(४) बहुर्थप्रदर्शनेन स्वप्रौढिविख्यापयिषया प्रदर्शितोऽयमर्थो जेतृजितवाद्यन्यतरोक्तरीत्याङ्घ्रिसरोजयोर्विशेषणत्वेन तदिन्दोर्भासा सङ्कुचितयोरित्येतदुपादाय स्वरसतो योजयितुमशक्यत्वेनाऽस्वारसिकोऽपि कथञ्चिदङ्घ्रिसरोजयोरित्येतत्पदान्तरं प्रकल्प्य जेतृकर्तृत्वेनैत्यमुपपादनीयः—तदिन्दोर्भासोत्तरोत्तरं सङ्कुचितयोर्मदङ्घ्रिसरोजयोः "तवाङ्घ्रिसरोजयोर्नम्रीभवानि" इति गिरीशे मानापनोदनविनोदनते सति तदीयं दुरितं भेत्तुमहं भवानीति ।

(५) गिरि- ईशः गिरीश, इति व्युत्पत्त्या गिरीशो वादी ।

(६) "भञ्जो आमर्दने" इति स्मरणात् मर्दितं विनाशितं भविष्यतीत्यर्थः ।

धीराः यथोक्तमपि कीरवदेतदुवक्त्वा
लोकेषु दिग्विजयकौतुकमातनुध्वम् ॥ ३ ॥

अथ कथायां वादिनो नियममेतादृशं मन्यन्ते—'प्रमाणादयः(१) सर्वतन्त्रसिद्धान्ततया सिद्धाः पदार्थाः सन्तीति कथकाभ्यामभ्युपेयम्' तद्(२)अपरे न क्षमन्ते, तथाहि—प्रमाणादीनां सत्त्वं यदभ्युपेयं कथकेन, तत्कस्य हेतोः ?

टी० वीतरागाणामेतद्ग्रन्थप्रवृत्त्योपयिकं मननलक्षणं प्रयोजनं दर्शयित्वा रागिणामपि विजिगीषूणां विजयलक्षणं प्रयोजनमाह—। "शब्दार्थ"—इति । हे धीराः! कीरवदेतद्=अस्मदुक्तं खण्डनमुक्त्वा, लोकेषु=भुवनेषु, दिग्विजयकौतुकमातनुध्वं=विस्तारयत; किं कुर्वाणाः ? सर्वत्र विवादपदेषु शब्दार्थयोः=शब्दतदर्थयोर्निर्वचनं=निरुक्तिस्तत्खण्डनया=तदनुपपन्नत्वव्यवस्थापनेन, निर्वचनभावं=मूकत्वम्, अखर्वगर्वान्=प्रौढाहङ्कारान्, नयन्तः=प्रापयन्तः सन्त इत्यर्थः । मदुक्तस्य खण्डनस्य सर्ववादिविजयः फलमिति ध्वनितम् ॥ नन्वद्वैतव्यवस्थापनं विजयो वा यत्फलद्वयमुक्तं तत् कथासाध्यं, कथायां च न वैतण्डिकस्य प्रवेशः, तस्याः (३)प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमाधीनत्वात्, तस्य (४) च प्रमाणाद्यनभ्युपगन्तृत्वात्, प्रमाणाद्यभ्युपगमे च नाद्वैतव्यवस्थापनं, न चाऽद्वैतलक्षणस्वपक्षरक्षणाधीनो विजयः ? इति प्रमाणाद्यभ्युपगमाधीनत्वं कथायाः खण्डयितुमुपक्रमते—। "अथे"ति । अथेति मङ्गलम्, "ओङ्कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा, कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ।" इति स्मरणात् । कथायां कर्त्तव्यायां तत्पूर्वं 'प्रमाणादीनि सन्ति'—इति द्वाभ्यामपि वादि-

(१) आदिपदेन "प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" इति न्यायदर्शनोक्तप्रमेयादयो ग्राह्याः ।

(२) 'तद् अपरे न क्षमन्ते' इति मूलग्रन्थस्य 'अपरे, क्षमन्ते' इति पदयोरर्थकथनपूर्वकं प्रतीकमुपगृह्येदानीं तच्छब्दार्थं वर्णयति=तर्दति ।

(३) तस्याः=कथायाः । (४) तस्य=खाण्डनिकस्य ।

भ्यामवश्यमभ्युपगन्तव्यमिति भेदवादिनो मन्यन्ते, तद् अपरे=ऽभेदवादिनो न सहन्ते इति, तत् इत्यवश्याभ्युपगन्तृत्वमर्थलभ्यं परामृशति। कथकेनेत्येकवचनं खाण्डनिकाभिप्रायेण, तदितरस्य प्रमाणाद्यभ्युपगन्तृत्वसिद्धेः (१)।

मू० किं तदनभ्युपगच्छद्भ्यां वादिप्रतिवादिभ्यां तदभ्युपगमसाहित्यनियतस्य वाग्व्यवहारस्य प्रवर्तयितुमशक्यत्वात्? १, उत कथकाभ्यां प्रवर्तनीयवाग्व्यवहारं प्रति हेतुत्वात्? २, उत लोकसिद्धत्वात्? ३, अथ वा तदनभ्युपगमस्य तत्त्वनिर्णयविजयफलातिप्रसञ्जकत्वात्? ४। न तावदाद्यः, तदनभ्युपगच्छतोपि चार्वाकमाध्यमिकादेर्वाग्विस्तराणां प्रतीयमानत्वात्; तस्यैव (२) वा ऽनिष्पत्तौ भवतस्तन्निरासप्रयासानुपपत्तेः। सोयमपूर्वः प्रमाणादिसत्तानभ्युपगमात्मवाकूस्तम्भनमन्त्रो भवताऽभ्यूहितो—

टी० यो यः कथकः स प्रमाणाद्यभ्युपगन्ता ? या या कथा स प्रमाणाद्यभ्युपगन्तृकर्त्तृका ? यत्र वा कथकत्वं तत्र प्रमाणाद्यभ्युपगम इति प्रथमविकल्पार्थः। प्रमाणादीनामभ्युपगमः कथाकारणम् ? इति द्वितीयविकल्पार्थः। "प्रमाणादीनामेव कथाकारणत्वं विकल्पितं न तदभ्युपगमस्यापि" इति केषाञ्चिदाक्षेपोऽसङ्गतः द्वितीयविकल्पदूषणावसरे प्रमाणाद्यभ्युपगमस्यैव कथाकारणत्वखण्डनात्। लोकाः प्रमाणाद्यभ्युपगच्छन्तीति कथकाभ्यामभ्युपगन्तव्यम्? इति तृतीयविकल्पार्थः अनतिप्रसक्ततत्त्वनिर्णयविजयफलाकाङ्क्षया कथकाभ्यां प्रमाणादिसत्त्वमवश्या(३)भ्युपगन्तव्यमिति चतुर्थविकल्पार्थः॥ "चार्वाक"—इति। यद्यपि

(१) प्रमाणाद्यभ्युपगन्तृत्वसिद्धेः=प्रमाणाद्यभ्युपगन्तृत्वस्य प्रथमत एव सिद्धत्वात्।

(२) चार्वाकादिवाग्व्यवहारस्यैवेत्यर्थः।

(३) यदि प्रमाणादिसत्त्वानभ्युपगन्तॄणामपि तत्त्वनिर्णयविजयौ स्तस्तदा पामराणामपि तौ स्यातामित्यतिप्रसञ्जनभीत्या ऽनतिप्रसक्ततत्त्वनिर्णयविजयफलाकाङ्क्षया प्रमाणादिसत्त्वमवश्यमभ्युपगन्तव्यमित्यर्थः।

चार्वाकस्य प्रत्यक्षाभ्युपगमोऽस्ति तथाप्यनुमानैकगम्यतत्प्रामाण्यस्यानुमानानभ्युपगमेऽनभ्युपगम इत्यभिप्रेत्य तद्वाग्व्यवहारे व्यभिचारो दर्शितः । अथवा यत्किञ्चित्प्रमाणाभ्युपगमः सकलप्रमाणाभ्युपगमो वा कथाव्यापकः ? आद्ये माध्यमिककथायां व्यभिचारोऽन्त्ये चार्वाककथायाम् । यद्वा प्रमाणादीत्यादिपदेन तर्कादेः परिग्रहः, तथाच—चार्वाकस्य प्रमाणाऽभ्युपगमेऽपि तर्काभ्युपगमो नास्तीति व्यभिचारः । चार्वाकैकदेशी वा चार्वाकः ॥ ननु चार्वाकादेर्वाग्व्यवहार एव नास्ति कुत्र व्यभिचारः ? इत्यत आह—"तस्यैवे"ति । त्वद्दर्शने तदुक्तयुक्तिनिराकरणान्यथानुपपत्तिरेव तद्वाग्व्यवहारे प्रमाणमित्यर्थः ॥ सोपहासमाह— "सोऽयमि"ति ।

**मू॰ नूनं, यस्य प्रभावाद्भगवता सुरगुरुणा लोकायतकानि सूत्राणि न प्रणीतानि; तथागतेन वा मध्यमागमा नोपदिष्टाः; भगवत्पादेन वा बादरायणीयेषु सूत्रेषु भाष्यं नाभाषि । *प्रमाणाद्यनभ्युपगम्यापि प्रवर्तयन्तु नाम ते वाचोभङ्गीः, (१) तास्तु साधनबाधनक्षमा न भवन्ति तावता (२) इति ब्रूमः* ? इति चेन्न, प्रमाणाद्यनभ्युपगमस्य प्रवर्तितत्वं तदीयसाधनबाधनाक्षमतायां न नियामकं, किन्तु सद्वचनाभासलक्षणयोगित्वमित्यवश्याभ्युपेयं भवता,**

टी॰ तथागतेन=बुद्धेन, मध्यमलक्षणा आगमा=मध्यमागमा यदध्ययनान्माध्यमिक इत्युच्यते, भगवत्पादेन=शङ्कराचार्यपादेन, (३) बादरायणो=व्यासः, अत्र सर्वत्र त्वदुक्तव्याप्तेर्व्यभिचार इति भावः ॥ ननु चार्वा-

(१) वाचोभङ्गीः = वाक्प्रकारानित्यर्थः । ताः = वाचोभङ्ग्यः ।

(२) वाग्व्यवहारत्वमात्रेणेत्यर्थः ।

(३) अद्वितीयब्रह्मवादित्वाच्छङ्कराचार्यस्यापि न तात्त्विकप्रमाणाद्यभ्युपगन्तृत्वम् । यच्च प्रत्यक्षादि प्रमाणानां तद्ग्रन्थे स्थाने स्थाने प्रतिपादनं, तद्व्यावहारिकप्रामाण्याभिप्रायेणैव ।

कादिव्यवहारो रथ्यापुरुषवाग्व्यवहारवदनुपादेय एव, प्रमाणाद्यभ्युपगमस्तु साधनबाधनक्षमवाग्व्यवहारव्यापकत्वेन मयोपन्यस्तस्तत्र च न व्यभिचारः? इत्याह–। "प्रमाणादी"ति । साधनबाधनयोः फलत ऐक्येपि(१)लोकप्रसिद्धिमनुरुद्ध्य भेदेनोपन्यासः । एवमपि माध्यमिकादिवाग्व्यवहारे एव व्यभिचारस्तस्यापि साधनबाधनक्षमत्वात् । * न च "माध्यमिकादिवाग्व्यवहारः साधनबाधनाक्षमः, प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य कृतत्वात्, रथ्यापुरुषवाग्व्यवहारवदि"त्यनुमानान्माध्यमिकादिवाग्व्यवहारस्य साधनबाधनाक्षमत्वसिद्धिः * । तस्य सद्वचनाभासलक्षणयोगित्वोपाधिकवलितत्वादित्याह–। "प्रमाणादी"ति । सद्वचनाभासः=स्फुटावभासो व्यभिचारादिस्तल्लक्षणं साध्याऽत्यन्ताभावसामानाधिकरण्यादि, तद्योगित्वमित्यर्थः, तथाच–वाग्व्यवहारसाधनबाधनाक्षमत्वे साधनाभासत्वं दूषणाभासत्वं तन्त्रं, न तु प्रमाणाद्यनभ्युपगन्तृप्रणीतत्वमिति भावः । सद्वचनाभासं निग्रहस्थानं, तल्लक्षणं कथाङ्ग(२)तत्त्वज्ञानाभावलिङ्गं, तद्योगित्वमित्यन्ये ॥

मू० येना(३)भ्युपगम्यापि प्रमाणादीनि प्रवर्तिता मतान्तरानुसारिभिर्व्यवहारा अभ्युपगतप्रमाणादिसत्त्वैर्मतान्तरव्यवहारिभिरपरैरतथाभूता(४)इति कथ्यन्ते । यदि त्वसद्वचसि सद्वचनाभासलक्षणं न भवान् दर्शयितुमीष्टे, तदा 'ऽनभ्युपगम्य प्रमाणादीनि भवता प्रवर्तितोऽयं व्यवहार' इति शतकृत्वस्त्वयोच्यमानेपि नास्माकमादरः । अन्यथा(५)भ्युपगम्य प्रमाणा-

(१) यदेव विजयादिलक्षणं फलं स्वोद्भावितहेतौ सद्धेतुत्वव्यवस्थापनेन भवति तदेव तत्र परोद्भावितदोषस्य बाधनेनापि भवत्यतः साधनबाधनयोः फलत ऐक्यम् ।

(२) कथाङ्गं समयबन्धादिस्तेषां तत्त्वज्ञानाभावं प्रति लिङ्गमित्यर्थः; तद्यथा–चैत्रः कथाकारणसमयबन्धादिज्ञानाभाववान् प्रतिज्ञाहान्यादिमत्त्वादिति, तद्योगित्वं, तादात्म्येन ।

(३) ननु प्रमाणाद्यनभ्युपगम्यप्रवर्तितत्वसद्वचनाभासलक्षणयोगित्वयोरविशेषात् कथमाद्यस्याप्रयोजकत्वमित्यत आह–येनेति, इति विद्यासागरः ।

(४) साधनबाधनाक्षमा इत्यर्थः । क्वचित्तु "तथाभूता" इति पाठस्तत्राप्ययमेवार्थः ।

(५) अन्यथा = सद्वचनाभासलक्षणयोगित्वमप्रदर्श्य प्रमाणाद्यनभ्युपगम्यप्रवर्तितवाग्व्यवहारस्याऽऽभासत्वकथने इत्यर्थः ।

दीनि भवता प्रवर्तितोऽयं व्यवहार इत्येतावता भवदीयो व्यवहाराभास इत्यस्माभिरपि वक्तुं शक्यत एव । * ननु यदि प्रमाणादीनि न सन्ति तदा व्यवहार एव धर्म्मी[1]कथं सिद्ध्येत्, दूषणादिव्यवस्था वा कथं स्यात्, सर्वविधिनिषेधानां प्रमाणाधीनत्वात् * ? । मैवम्,

टी० ॥ प्रमाणाद्यनभ्युपगमस्य साधनाद्यक्षमत्वे ऽप्रयोजकत्वमेव दर्शयितुमनभ्युपगम[2]पूर्वकत्वसाधनासत्त्वेऽपि साधनाद्यक्षमत्वसाध्यसत्त्वमाह—। "येने"ति । अन्यथा व्यापकव्यभिचारोपदर्शनमसङ्गतं[3]स्यात्; नैयायिकमीमांसकयोः कथायां प्रमाणाद्यभ्युपगम्य प्रवर्तितायामपि साधनबाधनाक्षमत्वं तदेकतरेण व्यवस्थाप्यते तत्राभासत्वमेव तन्त्रं न तु प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य प्रवर्तितत्वमिति न तुल्ययोगक्षेमत्वमपीत्यर्थः ॥ वैतण्डिकवाग्व्यवहारे[4]पक्ष एव प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य प्रवर्तितत्वं साधनमस्ति, सद्वचनाभासलक्षणयोगित्वमुपाधिर्नास्तीत्युपाधेः साधनाव्यापकत्वमाह—। "यद्दित्वि"ति ॥ यथा प्रमाणाद्यभ्युपगमपूर्वकत्वमतन्त्रं साधनबाधनक्षमत्वे[5] तथा प्रमाणाद्यनभ्युपगमपूर्वकत्वमप्यतन्त्रमेवे[6]त्यप्रयोजकत्वमेवानिष्टोपदर्शनमुखेन द्रढयति—। "अन्यथे"ति ॥ ननु प्रमाणादीनि न सन्तीत्यभिमानिनस्तव प्रमाणानभ्युपगम एव चेत्तदा प्रमाणमन्तरेण न कथासिद्धिर्न वा साधनदूषणनिष्ठा स्यादित्याह—। "ननु यदी"ति ॥

(१) धर्मी=पक्षः ।

(२) प्रमाणाद्यनभ्युपगम्यकृतत्वलक्षणस्य पूर्वोक्तसाधनस्यासत्त्वेपीत्यर्थः ।

(३) साधने साध्याभाववद्वृत्तित्वलक्षणव्याप्यव्यभिचारे दर्शयितव्ये साध्ये साधनाभाववद्वृत्तित्वलक्षणव्यापकव्यभिचारोपदर्शनमसङ्गतं स्यादित्यर्थः ।

(४) यद्यपि माध्यमिकादिवाग्व्यवहार एव पक्षतया प्रागुपन्यस्तो न तु वैतण्डिकवाग्व्यवहारोऽपि तथापि आदिपदेन तस्यापि तत्र ग्रहीतुं शक्यत्वान्न पौर्वापर्यविरोधः शङ्कनीयः । एतामेव व्याख्याकारस्य शैलीं परिज्ञायाऽग्रेऽपि यत्र तत्र प्रतीयमानो विरोधः परिहरणीयः ।

(५) "साधनबाधनाक्षमत्वे", इति क्वाचित्कः पाठस्तु प्रामादिकः "येनाभ्युपगम्यापि" इत्यादिमूलोक्तार्थेन, "प्रमाणाद्यनभ्युपगमस्य" इत्यादिनदीत्यानिकार्थेन च विरोधात् ।

(६) साधनबाधनाक्षमत्वलक्षणसाध्ये इति शेषः ।

मू० न ब्रूमो वयं न सन्ति प्रमाणादीनीति स्वीकृत्य कथारभ्यैति, किंनाम(१) सन्ति न सन्ति वा प्रमाणादीनीत्यस्यां चिन्तायामुदासीनैः (यथा स्वीकृत्य तानि भवता व्यवह्रियते तथा व्यवहारिभिः(२) एव कथा प्रवर्त्यतामिति । अन्यथा न सन्ति प्रमाणादीनीति मतमस्माकमारोप्य यदिदं भवता दूषणमुक्तं तदपि न वक्तुं शक्यम्, कीदृशीं मर्यादामालम्ब्य प्रवृत्तायां कथायामिदं दुषणमुक्तं ? किं प्रमाणादीनां सत्त्वमभ्युपगम्योभाभ्यां वादिभ्यां प्रवर्तितायां कथायाम् ? १, उतासत्त्वमभ्युपेत्य ? २, अथैकेन सत्त्वमपरेणचासत्त्वमङ्गीकृत्य ? ३, । नाद्यः, अभ्युपगतप्रमाणादिसत्त्वंप्रत्येतादृशपर्यनुयोगानवकाशात् । द्वितीये च स्वतो(३) व्यापत्तेः । न तृतीयः, तथैव कथान्तरस्यापि प्रसक्तेः, उभयाभ्युपगमानुरोधित्वाच्च कथानियमस्य ।

टी० ॥ कथापूर्वकाले प्रमाणाभ्युपगमस्याऽप्रयोजकत्वमाचक्ष्महे नतु प्रमाणादीनि न सन्तीति तदानीमेव वदामो येनेदं (४) देश्यं स्यादित्याह– । "न ब्रूम"इति ॥ "अन्यथे"ति यदि प्रमाणाद्यभ्युपगममन्तरेण कथाप्रवृत्तिर्न स्यात्तदेत्यर्थः ॥ "आरोप्ये"ति । प्रमाणाद्यभ्युपगमः कथाप्रवृत्त्यावतन्त्रमित्यस्माकं मतं, प्रमाणादिकं विनापि कथाप्रवृत्तिरिति तत्र तवारोप इत्यर्थः ॥ "दूषणमि"ति ॥ प्रमाणाद्यसत्त्वेपि तदधीनदूषणादिव्यवहारसत्त्वमित्यभ्युपगमे व्याघातलक्षणं दूषणमित्यर्थः ॥ दूषणाभिधान-

(१) किंनाम=किन्तु ।

(२) व्यवहारिभिः=उभयसिद्धव्यवहारनियमेन व्यवहरद्भिरित्यर्थः । विद्यासागरास्तु अत्र यथाशब्दानुरोधेनैकं तथाशब्दान्तरं प्रकल्प्य "तथा, तथाव्यवहारिभिः=उपेक्षितसदसत्त्वप्रमाणमात्रमूलव्यवहारिभिरित्यर्थमाहुः ।

(३) 'सार्वविभक्तिकस्तसिल्' इति स्वतः=स्वस्य तव दोषापत्तेरित्यर्थः ।

(४) इदं=दूषणं, देश्यं=प्रतिपादनीयं, स्यादित्यर्थः ।

स्याशक्यत्वं व्युत्पादयति—। "कीदृशीमि"ति। कथायामेव दूषणाभिधानद्यो व्याद्ययं विकल्पावसरः॥ "एतादृशे"ति। यदि प्रमाणादीनि न सन्ति तदा व्यवहार एव धर्मी न सिद्ध्येदित्येतादृशपर्य्यनुयोगानवकाश इत्यर्थः॥ "स्वतोऽपी"ति। त्वमपि प्रमाणादिसत्त्वमनङ्गीकृत्य प्रवृत्त इति तन्मूलको व्याघातस्तवापि तुल्य इत्यर्थः॥ "तथैवे"ति। प्रकृतनिग्रहाधिकरणकथाप्रवृत्तिवत् कथान्तरप्रवृत्तिरपि न दुर्लभेत्यर्थः॥ नन्वेतावता कथाप्रवृत्तिः समाहिता, व्याघातस्तु न समाहितः? इत्यत आह—। 'उभये"ति। प्रमाणादिकमन्तरेण व्यवहारासिद्धिलक्षणो यो व्याघातस्त्वया दत्तः स मया नेष्यते इत्यर्थः॥

मू० अन्यथा स्वाभिप्रायमालम्ब्य तेनापि त्वद्वचसि यत्किञ्चिद्वागात्मनि दूषणेऽभिहिते कस्य जयो व्यवतिष्ठतां? प्रमाणाद्यभ्युपगन्तुरेव यावन्नियमभरयन्त्रणा महती स्यात्। तस्मात्प्रमाणादिसत्त्वासत्त्वाभ्युपगमौदासीन्येन व्यवहारनियमेन समयं बद्ध्वा प्रवर्तितायां कथायां भवतेदं दूषणमुक्तमित्युचितमेव तथा सति स्यात्। योऽयं भवान्स्वाभिप्रायमपि नावधारयितुं शक्नोति दूरतस्तस्मिन्पराभिसन्धानावधारणप्रत्याशा।

टी०॥ ननु त्वदनिष्टोऽप्ययं दोष एव, नहीष्टत्वमपि दोषत्वे तन्त्रमित्यत आह—। "अन्यथे"ति। वागात्मनि=वाङ्मात्ररूपे[1]त्वयापादितेऽपि व्याघातो वाङ्मात्रमेवेति भावः॥ किञ्च यद्युभयाननुमतोऽपि दोषस्तदा प्रमाणाद्यभ्युपगन्तुस्तव प्रामाणिकदोषानुसरणव्यग्रता स्यादुद्भावितदोषस्य प्रामाणिकत्वव्यवस्थापनप्रयासश्च भवेदस्माकं तु नेयं व्यापृतिरित्याह—। "प्रमाणाद्यभ्युपगन्तुरेवे"ति॥ कथातः पूर्वं प्रमाणाद्यभ्युपगमनियमोभयवाद्यननुमतदोषोद्भावनयोरकर्त्तव्यता[2]मुपसंहरति—। "तस्मादि"ति।

(१) हुंफट्शब्दादौ सङ्केतितदूषणभावे इत्यर्थः।
(२) अकर्त्तुगततामित्यपि क्वचित्पाठः।

उचितमेव तथा सति स्यादित्यत्र 'यद्युभयाभ्युपगतं स्यादि'ति शेषः ॥ उपसंहृत्य परस्याहृदयज्ञत्वमुपपादयति–। "योयमि"ति। प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य प्रवर्त्तितायां कथायां व्याघातोऽयं दत्तः, प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य कथायामप्रवृत्तिरिति चाभिधत्से, इति स्वां(१)भिप्रायानवधारणम्, कथातः पूर्वं प्रमाणाद्यभ्युपगमो न तन्त्रमिति मयोक्तं, प्रमाणादीनि न सन्तीति-मदुक्तत्वेन त्वया गृहीतमिति पराभिसन्धानानवधारणम्, इयमस्माकं पैतृकी व्याख्या ॥ व्याख्यान्तरं (२) तु–ननु मदीयस्तत्रापि प्रमाणाद्य-भ्युपगमे स्त्येवेति प्रमाणाद्यभ्युपगमपूर्वकत्वं कथायां न व्यभिचरतीत्यत आह–। "उभये"ति। तथा च नान्यतराभ्युपगमोपि तन्त्रं, न चान्यतर-सिद्धदोषाभिधानमुचितमित्यर्थः ॥ कथातः पूर्वमवश्यं समयबन्धः स्यात्, अन्यथा तवेदमनिष्टं स्यादित्याह–। "अन्यथे"ति उभयानभ्युपगतदूषण-भावस्यापि यदि दूषणत्वं तदा जयपराजयादिव्यवस्था न स्यादित्यर्थः ॥ प्रमाणादिसत्तानभ्युपगन्ताहि प्रमाणाभासेनाप्यभिदध्यात्तदभ्युपगन्ता हि प्रमाणत्वेन निश्चितेनैवेति तस्य महती यन्त्रणेत्याह–। "प्रमाणे"ति। एव–यावदिति निपातद्वयमवधारणे, उचितमेवेति सोपहासम्। तदिदं व्याख्यानमसत्सन्दर्भमिव (३) ॥

**मू० *अथ वादीकृत्य दुर्वैतण्डिकं तस्मिन्नुपाधौ(४)बाधोऽभियते इत्येव नेष्यते, शिष्यादयस्तु तस्य(५)कथान-**

(१) विद्यासागरीकृतस्तु कीदृशीं मर्यादामालम्ब्य प्रवृत्तायां कथायां भवता दूषणमुक्तमिति पृष्टे 'ईदृश्यां कथायां दोषमहमवादिषम्' इति स्वाभिप्रायाऽनवधारणमाहुः।

(२) 'उभयाभ्युपगमानुरोधित्वाच्च कथानियमस्य' इत्यत आरभ्य निरुक्तग्रन्थस्य व्याख्यान्तरमाह–व्येति।

(३) उपाधौ = वादिवाग्व्यवहारमूले इत्यर्थ इति विद्यासागराः केषुचित्पुस्तकेषु तु नास्त्येवोपाधाविति पाठः।

(४) तस्य = वैतण्डिकस्य कथानधिकारंप्रत्यस्माभिः स्वशिष्यादय एव ज्ञाप्यन्ते इत्यन्वयपूर्वकोर्थः।

(५) असत्सन्दर्भसदृशत्वं चास्य व्याख्यानस्य कथाप्रवृत्तेः समाहितत्वेपि व्याघातस्याऽसमाहितत्वादुक्तेयम्। पूर्वोक्तस्वीयव्याख्यानस्य तु व्याघातसमाधानपक्षे योजितत्वान्नाऽसत्सन्दर्भत्वम्।

धिकारं ज्ञाप्यन्ते, अत एव भाष्यकारः "स (१)प्रयोजनमनुयुक्तो यदि प्रतिपद्यते" इत्याहस्म नतु प्रतिपद्यसे इति *। मैवम्, शिष्यादीन्प्रत्यपि 'चार्वाकादेर्दोषोऽयमि'त्येवाऽभिधातव्यम्, कथं च तथा स्यात्, तस्य कथाप्रवेशनाऽप्रवेशनयोस्तद्बाधाक्षमत्वात्,

टी० ननु मया त्वयि व्याघातो नोक्तो येन तदनुरोधात्कथाऽभ्युपगमः, सा च कथा प्रमाणाद्यभ्युपगममन्तरेणैव प्रवृत्ता स्यादपितु शिष्या एवं ज्ञाप्यन्ते यद्वैतण्डिकः कथानधिकारीत्याशङ्कते- । "अथे"ति । यदि वैतण्डिकस्य जयाद्युद्देश्यं, तदा तदनुरोधात् प्रमाणाद्यभ्युपगन्तृत्वमपि, अथ किञ्चिदनुद्दिश्यैव कथायां प्रवर्तते तदोन्मत्त इवोपेक्षणीय, इति शिष्यशिक्षा 'नतु प्रतिपद्यसे' इत्युपलक्षणं नतु त्वं प्रयोजनमनुयुक्त इत्यपि द्रष्टव्यम् । वादिनि सम्बोध्ये मध्यमपुरुषप्रयोग उचित इति भावः ॥ शिष्योऽपि हि वैतण्डिकस्यायं दोष इति बोधनीयो, दोषश्च कथायामेवेति सा कथा प्रमाणाद्यभ्युपगममन्तरेणैवेति स्वीकार्य्यमित्याह- । "शिष्यादीनि"ति । प्रयोजनसत्ता न प्रवर्तिका किन्तु तज्ज्ञानं, तच्च वैतण्डिकस्यापीति न तस्य कथानधिकारोपीति हृदयम् ॥

मू० कथायामेव हि निग्रहः । नापि द्वितीयः, तथाहि-स्या(२)दप्येवं यदि कथकप्रवर्तनीयवाग्व्यवहारंप्रति प्रमाणादीनां हेतुता तत्सत्त्वानभ्युपगमे निवर्तेत, नत्वेवं सम्भवति तथा सति तत्सत्त्वानभ्युपगन्तॄणां

(१) स=दुर्वैतण्डिकः, अनुयुक्तः=पृष्टः सन् यदि प्रयोजनं प्रतिपद्येत यद् एतादृशं विजयादिकं फलमुद्दिश्याहं कथायां प्रवृत्तस्तदा प्रतिपद्येतैव प्रमाणमपि तदधीनत्वात्प्रतिपत्तेः, अथ न, तदोन्मत्तवदुपेक्षणीय इति न्यायवात्स्यायनभाष्यार्थः ।

(२) कारणत्वं ह्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव गृह्यते तथा च-प्रकृते व्यतिरेकाभावान्न प्रमाणाद्यभ्युपगमस्य वाग्व्यवहारंप्रति कारणत्वमित्याह-स्यादपीति, स्यादप्येवं कथकप्रवर्तनीयवाग्व्यवहारं प्रतिप्रमाणादीनां ( अभ्युपगतप्रमाणानां, वा प्रमाणादीनामभ्युपगमस्य ) हेतुता, यदि तत्सत्त्वाऽनभ्युपगमेऽनिवर्तेत वाग्व्यवहार इत्यन्वयः ।

वाग्व्यवहारस्वरूपमेव न निष्पद्येत हेत्वनुपपत्तेः, उक्तश्चायमर्थो यन्माध्यमिकादिवाग्व्यवहाराणां स्वरूपापलापो न शक्यते इति । अथ मन्यसे * कथकवाग्व्यवहारं प्रति हेतुत्वात् प्रमाणादीनां सत्त्वं, सत्त्वाच्चाभ्युपगमो, यत्सत्तदभ्युपगम्यते इति स्थितेः * इति । नैवम्, कयापि नियमस्थित्या प्रवृत्तायां कथायां कथकवाग्व्यवहारं प्रति हेतुत्वात् प्रमाणादीनां सत्त्वं, सत्त्वाच्चाभ्युपगमो भवता प्रसाध्यः,

टी० । "कथायामेवे"ति । अखण्डिताहङ्कारेण पराहङ्कारखण्डनस्य कथाकारणसम्यक्ज्ञानाऽभावस्य वा नियतत्वादिति भावः ॥ 'प्रमाणाद्यभ्युपगमो वाग्व्यवहारहेतुः'इति द्वितीयं पक्षं निराचष्टे–। "नापी"ति । वाग्व्यवहारंप्रति प्रमाणादीनां हेतुत्वं सम्भाव्येतापि नत्वभ्युपगमस्यापि, माध्यमिकादिवाग्व्यवहारे व्यभिचारादित्यर्थः ॥ * ननु प्रमाणादीनां हेतुत्वं यदि मनुषे तदा तदभ्युपगमस्यापि हेतुत्वं मंस्यसे, यतो नियतपूर्वसत्त्वं त्वयाऽवश्याभ्युपेयमित्यवर्जनीयसिद्ध एव प्रमाणाद्यभ्युपगम-इति शङ्कते (१)– । "अथे"ति । यद्यदा सत्तया ज्ञायते तत्तदाऽभ्युपगम्यते इति व्याप्तरुभयसिद्धत्वादिति भावः ॥ 'प्रमाणादीनि सन्ति हेतुत्वात् ब्रह्मवत्, प्रमाणादीन्यभ्युपगमविषयः सत्त्वात् ब्रह्मवत्, इति यस्यां कथायां त्वया साधनीयं तद्वदेव कथान्तरमपि स्यात्, अथ सापि प्रमाणाद्यभ्युपगमादेव प्रवृत्ता तदा तस्यां प्रमाणाद्यभ्युपगमहेतुत्वसाधनानर्थक्यम्, अथ तस्यामेव कथायां प्रमाणाद्यभ्युपगमस्य हेतुत्वं प्रसाध्य तत्कथाप्रवृत्तिस्तदाऽन्योन्याश्रय (२) इत्याह= । "कथापी"ति । अये वक्ष्यमाणयेत्यर्थः । नियमस्थितिः=समयबन्धः ॥

(१) शङ्कते=पूर्वपक्षिणमुद्दिश्यस्वयं शङ्का समर्पयतीत्यर्थः । शङ्का तु 'कथक-इत्यारभ्यैव ।

(२) तत्कथाप्रवृत्तौ प्रमाणाद्यभ्युपगमस्य हेतुत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च कथाप्रवृत्तिरिति ।

मू० कथातः पूर्वं तत्त्वावधारणं वा परपराजयं वाऽभिलषद्भ्यां कथकाभ्यां यावता विना तदभिलषितं न पर्यवस्यति तावदनुरोद्धव्यं, तच्च व्यवहारनियमसमयबन्धादेव द्वाभ्यामपि ताभ्यां सम्भाव्यते इति व्यवहारनियमसमयमेव बध्नीतः (१)। स च 'प्रमाणेन तर्केण च व्यवहर्तव्यं वादिना, प्रतिवादिनापि कथाङ्गतत्त्वज्ञानविपर्ययलिङ्गप्रतिज्ञाहान्याद्यन्यतमनिग्रहस्थानं तस्य दर्शनीयं, तदुत्पादने प्रथमस्य भङ्गो व्यवहर्त्तव्यः, अन्यथा तु द्वितीयस्यैव, तादृशेतरौ च जेतृतया व्यवहर्त्तव्यौ, प्रामाणिकः पक्षस्तात्त्विकतया व्यवहर्त्तव्यः' इत्यादिरूपः। अत (२) एव 'व्यवहारनियमसमयबन्धेऽपि हेतुर्वक्तव्यः तथाच सोऽपि हेतुः कथायां प्रवृत्तायामभिधातुं युक्त' इति प्रमाणसत्त्वाभ्युपगमहेत्वभिधानवत् प्रत्यवस्थानमनवकाशम्,

टी० ननु प्रमाणाद्यभ्युपगमवत्समयबन्धोऽपि कथायामतन्त्रमेवेत्यत आह–"कथातः पूर्व"मिति ॥ ननु प्रमाणादिसत्तापि तथैवानुरुद्धतामित्यत आह–। "तच्चे"ति। समयबन्धस्यावश्यकत्वात् तन्मात्रमनुरोध्यं नतु प्रमाणाद्यभ्युपगमोपीत्यर्थः ॥ अनुरोध्यं समयबन्धं दर्शयति–। "स चे"ति। कथाङ्गतत्त्वज्ञानविपर्ययो ऽज्ञानमसम्यग्ज्ञानं वा ॥ कथाव्यवस्थामुक्त्वा फलव्यवस्थामाह–"तदुत्पादने" इति। उद्भावितनिग्रहव्यवस्थापने प्रथमस्य भङ्गः, तदव्यवस्थापने निरनुयोज्यानुयोगात् द्वितीयस्यैव भङ्ग इत्यर्थः ॥ "तादृशेतरावि"ति। समर्थितनिग्रहा(३)शक्यसमर्थननिग्रहभङ्गप्रयोजकरूपरहिताविन्यर्थः ॥ जल्पे वितण्डायां च फलव्यवस्थामभिधाय

(१) वादिप्रतिवादिनौ इति शेषः।

(२) अत एव=वक्ष्यमाणादेव हेतोरित्यर्थः।

(३) समर्थितो यो निग्रहोऽशक्यसमर्थनश्च यो निग्रह एतदुभयं भङ्गप्रयोजकं रूपं, तद्रहिताविन्यर्थः।

वादे तामाह—। "प्रामाणिक" इति। व्यवहारश्च वस्तुसत्त्वं विनापीति भावः॥ ननु समयबन्धस्यापि कथाहेतुत्वे विप्रतिपन्नः कथायामेव प्रबोध्य इति तत्कथावत् कथान्तरमपि स्यादित्यत आह—। "अत एवे"ति।

मू॰ द्वाभ्यामपि वादिभ्यां विचारप्रवृत्त्याभिलष्यमाणतत्त्वव्यवस्थाजयमूलत्वेन व्यवहारनियमस्य स्वेच्छयैव परिगृहीतत्वात्। * नचैवं प्रमाणानुपज्ञ (१) स्वेच्छामात्रपरिगृहीतमूलत्वात् मूलापरिशुद्धिसम्भवेन सर्वविचारविचार्यफलविप्लवापत्तिः स्यात् *। अविद्याविद्यमानाऽनादिपारम्पर्यायातस्य (२) लोकव्युत्पत्तिगृहीतसंवादस्य (३) च तस्याऽन्यथाभावासम्भाव्यतालक्षणस्वतःसिद्धिपरिशुद्धत्वात्। * नच प्रमाणादीनां सत्तापीत्थमेवोभाभ्यामङ्गीकर्त्तुमुचिता *। तादृशव्यवहारनियममात्रेणैव कथाप्रवृत्त्युपपत्तेः। प्रमाणादिसत्त्वाऽभ्युपगमेपि तथाविधव्यवहारनियमव्यतिरेके तत्त्वनिर्णयस्य जयस्य वाऽभिलषितस्य कथकयोरपर्यवसानात्।

टी॰ अत एवेत्यस्यातिदेश्यमाह—। "द्वाभ्यामपी"ति। यद्यपि समयबन्धस्येच्छापरिगृहीतत्वे विप्रतिपन्नः कथायामेव प्रबोध्यते इत्यत्रापि दोषस्तदवस्थ एव, तथापि समयबन्धमात्रेण कथाप्रवृत्तौ प्रमाणाद्यभ्युपगमस्य कथाङ्गत्वकल्पना गौरवपराहतेति भावः॥ समयबन्धस्यावश्य

(१) प्रमाणेनाऽनुपक्रम्य स्वेच्छामात्रपरिगृहीतो नियमबन्धो मूलं यस्य विचारस्येति विग्रहः "उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्याज्ज्ञात्वारम्भ उपक्रमः" इत्यभिधानात्। प्रमाणेनोपज्ञा=आद्यज्ञानं यस्य नास्तीति, प्रमाणज्ञानशून्येनेति वार्थः।

(२) अविद्यया विद्यमानश्चासावनादिपारम्पर्येणायातश्चेति तथा, तस्येत्यर्थः। विद्यामागरोक्तरीत्यातु "अविद्यमानादिपारम्पर्यायातस्येति पाठः तदर्थस्तु अविद्यमान आदिर्यस्य परम्पराभावस्य तेनायातस्येति।

(३) लोकव्युत्पत्त्या=वृद्धव्यवहारेण गृहीतो'ऽन्यथा न भवति' इति संवादो यस्य समयबन्धस्य तस्येत्यर्थः।

हेतुत्वेऽनिष्टमाशङ्कते- । [b]"नचैवमि"ति । विचारविप्लवः=साधनदूषण-प्रयोगाव्यवस्था । विचार्यविप्लवः=पक्षविपक्षाव्यवस्था, वादिप्रतिवाद्यव्यवस्था वा; तयोरपि विचार्यत्वात् । फलविप्लवः=जयभङ्गाऽव्यवस्था, तत्त्वनिर्णयाऽव्यवस्था च । यद्वा विचारविप्लवः=प्रमित्यजनकत्वं, विचार्यविप्लवः=प्रमित्यविषयत्वं, फलविप्लवः=जयाद्यभावः । अविद्याविद्यमानत्वाभिधानं समयबन्धस्याप्यपारमार्थिकत्वाय । अनादिपारम्पर्यायातस्येत्यवश्याभ्युपगन्तव्यत्वार्थम् । गृहीतसंवादस्येत्यप्रामाण्यशङ्कानिरासाय । ननु समयबन्धस्याज्ञानरूपतया स्वतःसिद्धत्वमनुपपन्नम्? अत उक्तमन्यथाभावासम्भाव्यतालक्षणेति । समयबन्धो न कर्त्तव्यः-इति सम्भावनाविरह एव तस्य स्वतःसिद्धत्वमिति भावः ॥ [c]"इत्थमि"ति । समयबन्धाङ्गताङ्गीकारप्रकारेणैवेत्यर्थः ॥ अन्यथासिद्धिमाह-। [d]"तादृशे"ति ॥ समयबन्धस्योपजीव्यत्वमाह-। [e]प्रमाणादीति ॥

मू० नापि तृतीयः, लोकव्यवहारो हि [a]प्रमाणव्यवहारो वा स्यात्?, पामरादिसाधारणव्यवहारो वा? । नाद्यः, विचारप्रवृत्तिमन्तरेण [b]तस्य दुर्निरूपत्वात् [c]तदर्थमेव च पूर्वं नियमस्य गवेषणात् । नापि द्वितीयः, [d]शरीरात्मत्वादीनामपि तथासति भवता स्वीकर्त्तव्यतापातात् । * [e]पश्चात् तद् विचारबाध्यतया नाभ्युपेयते*?-इति चेत्, [f]तर्हि प्रमाणादयोपि यदि विचारबाध्या भविष्यन्ति तदा नाभ्युपेया एव, अन्यथा तूपगन्तव्याः; इति 'लोकव्यवहारसिद्धतया सत्त्वमभ्युपगम्यते'-इति तावन्न भवति । नापि चतुर्थः, [g]यादृशो भवता प्रमाणादीन्यभ्युपगम्य व्यवहारनियमः कथायामालम्ब्यते तस्यैव प्रमाणादिसत्त्वा

ऽसत्त्वानुसरणोदासीनैरस्माभिरप्यवलम्बनात्, तस्य(१) यदि मां प्रति फलातिप्रसञ्जकत्वं, तदा त्वां प्रत्यपि समानः प्रसङ्गः ।

टी० । [a]"प्रमाणे"ति । लोक्यते (२)इति लोकः प्रमाणमित्यर्थः । प्रामाणिकलोकव्यवहारइति वाऽर्थः ॥ [b]"तस्ये"ति प्रमाणव्यवहारस्येत्यर्थः ॥ तर्हि विचारप्रवृत्त्यत्र तन्निरूप्यतामत आह–। [c]"तदर्थमेवे"ति । विचारार्थमेवेत्यर्थः । तथाच–विचारप्रवृत्त्या प्रमाणाद्यभ्युपगमस्य प्रमाणसिद्धत्वं, तत्प्रमाणसिद्धत्वेन च तदधीनविचारप्रवृत्तिरित्यन्योन्याश्रय इति भावः ॥ [d]"शरीरे"ति । 'अहं स्थूलः' इति प्रत्ययात् शरीरे एवात्मव्यवहारादित्यर्थः ॥ विचाराऽबाध्यलोकव्यवहारसिद्धत्वमभ्युपगम्यतायां तन्त्वमित्याह–। [e]"पश्चादि"ति ॥ विचाराऽबाध्यलोकव्यवहारसिद्धत्वं प्रमाणादीनामप्यसिद्धमित्याह–। [f]"तर्हो"ति ॥ [g]"यादृश"इति । तत्त्वनिर्णयविजयातिप्रसङ्गभिया प्रमाणाद्यभ्युपगमः कथातः पूर्वं त्वया क्रियते, यदि नियतसमयबन्धेनैव तद्द्वयं निवर्तेत तदा वृथा प्रमाणाद्यभ्युपगम इत्यर्थः ॥

मू० *[a]स्यादेतत्, नियत(३)वाग्व्यवहारक्रियासमयबन्धेन कथां प्रवर्तयतापि व्यवहारसत्ताभ्युपगन्तव्या, [b]न हि सत्तामनभ्युपगम्य व्यवहारक्रियाऽभिधातुं शक्या, क्रिया हि निष्पादना, असतः सद्रूपताप्रापणमिति यावत् । [c]'प्रमाणै(४) र्व्यवहर्त्तव्यमि'ति निय-

(१) तस्य=व्यवहारनियमस्य ।

(२) यया व्युत्पत्त्या मूले लोकव्यवहारपदस्य 'प्रमाणव्यवहारः'–इत्यर्थो निष्पन्नस्तां दर्शयति,–तत्र कर्मधारयमभिप्रेत्याह-लोक्यते इति. षष्ठीतत्पुरुषमादायाह–प्रामाणिकेति; एतद्व्याख्याऽनुरोधेन मूले 'प्रामाणिकव्यवहारः'–इति प्रायो दृश्यमानः पाठ उपेक्षणीयः, अन्यथायं 'तस्येति प्रमाणव्यवहारस्येत्यर्थः'-इति व्याख्यानाऽसाङ्गत्यप्रसङ्गात् ।

(३) नियतत्वं समयबन्धस्य विशेषणं, तथा च वाग्व्यवहारक्रियया क्रियमाणो वा, वाग्व्यवहारक्रियारूपो वा, वाग्व्यवहारक्रियायाः सम्बन्धो वा, यो नियतसमयबन्धः तेन कथां प्रवर्तयतापीत्यर्थः ।

(४) न केवलं व्यवहारसत्त्वं त्वोक्त्यैवेष्टं, प्रमाणादिसत्त्वमपि त्वदुक्तिबलादेवापद्यते-इत्याह–प्रमाणैरिति । प्रमाणैः–इति तृतीयया करणत्वाऽभिधानात् तस्य च कार

मबन्धनं (प्रमाणकारणभावस्य नियमान्तर्भावात् नियतपूर्वसत्त्वं कारणत्वं प्रमाणानामनादाय) न पर्य्यवस्यति । दूषणानां(१) चास्तित्वेन भङ्गावधारणनियमबन्धने, साधनाङ्गव्याप्त्यादीनां सत्त्वेन तद्विषयस्य तत्त्वरूपताव्यवहारनियमनादौ च, [d]कण्ठोक्तमेव तस्य तस्य सत्त्वमङ्गीकृतमिति रिक्तमिदमुच्यते–'प्रमाणादीनां सत्तामनभ्युपगम्य कथारम्भः शक्यते'–इति* ?। मैवम्, [e]एभिरपि बाधकैः कथायामारब्धायामेवाभिमतस्य प्रसाधनीयत्वे पूर्वोक्तबाधाया अनिस्तारात् ।

टी० ननु द्वैतापत्तिभयेन प्रमाणादिसत्तां नाभ्युपैषि, तच्च व्यवहारसत्त्वाभ्युपगमेप्यविशिष्टं, किञ्च व्यवहारादिसत्ताभ्युपगमनान्तरीयक एव प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमोपीति कथायां तद्वतुल्यमवर्जनीयमिति शङ्कते– [a]"स्याद्वैतादि"ति ॥ व्यवहारसत्ताभ्युपगममुपपादयति–। [b]"न ही"ति ॥ प्रमाणसत्ताभ्युपगममुपपादयति–। [c]"प्रमाणैरि"ति ॥ [d]"कण्ठोक्तमि"ति । 'दूषणानि सन्ति' 'व्याप्तिरस्ति'–[illegible]ादिवचनं तत्सत्ताभ्युपगमपरमेवेत्यर्थः ॥ प्रवृत्तायामेव कथायामयं [illegible] वया वाच्यः, तत्कथाप्रवृत्तिवत् कथान्तरप्रवृत्तिरपीति न कि[illegible] परिहरति–। [e]"एभिरपी"ति । यद्यपि सा कथा प्रमाणानु- [illegible] , त्वं पुनरिदानीं तत्र विप्रतिपत्तः समयबन्धमङ्गीकर्त्तासिद्धिः, [illegible] पगममङ्गीकार्य्यसे, इति [illegible] पपत्तिः, त[illegible] न प्रमाणादिस्वस्याऽसर्वज्ञ- [illegible] ऽत्यर्थकस्य पूर्वत्रे- [illegible] यावत्तु मूलव्याख्यानयोः

[illegible]ग्राहकत्वरूपत्वात्प्रमाणानां सत्त्वमनङ्गी- [illegible] व्धारणीयः, यस्य तु हेतौ साधनाङ्ग- [illegible] :'–इति नियमबन्धने कण्ठोक्तमेव [illegible] संघ्यति । [illegible] नामि [illegible]

[illegible] यादावुच्यते, न तु मयैव'–इति [illegible] एतत्=वक्ष्यमाणम्, उच्यते=उक्तं

मू० *[a] नच व्यवहारनियमस्य स्वेच्छास्वीकृतस्यैव प्रमाणादिसत्तास्वीकारपर्य्यवसायितया नायं दोषः स्यात्* । यतः सत्ताज्ञानस्य तत्रा(¹)ङ्गत्वं, नतु सत्तायाः । [b]तत्र(²) किं सत्त्वावगममात्रात् सत्ताभ्युपगम्येति मन्यसे ?, अबाधितात्तदवगमाद्वा ? । न तावदाद्यः, मरुमरीचिकादौ जलरूपतासद्भावाभ्युपगमप्रसङ्गात् । द्वितीयेपि किं वादिप्रतिवादिमध्यस्थमात्रस्य (तस्यापि कथाकालमात्रे एव) बाधितावगमाभावात् ?, अथवा कस्यचिदपि कालान्तरेपि च बाधितबोधविरहात् ? । नाद्योऽतिप्रसङ्गात्, [c]पुरुषत्रयावगतस्यापि (³)एकक्षणावगतस्य पुरुषान्तरेण, तेनापि क्षणान्तरे, बहुलं बाध्यत्वदर्शनात् । नचासावर्थोऽसत्योपि द्वित्रादिपुरुषमात्रपूर्वजाततत्प्रतीत्यनुरोधा(⁴)द्, [h]बाधदर्शने सञ्जातेपि, तथैव सन्नित्यभ्युपगम्यते । तस्माद्, [d]द्वितीयः पक्षः परिशिष्यते-'यत्र सर्वप्रकारेण बाधितत्वं नास्ति तत्सदित्यभ्युपगन्तव्यम् ।

टी० ननु कथायां कस्याञ्चित्प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमो न मया त्वां प्रति साध्यते, किंतर्हि, स्वेच्छया यः समयबन्धः परिगृहीतः स प्रमाणादिस-...पगमपर्य्यवसन्नः-इति त्वं बोध्यसे ? इत्यत आह-।[a]"नचे"ति। सम-...

(१)

(२) यथा ...णादिसत्ताज्ञानमात्रमाक्षिपति, नतु प्रमाणादिसत्तामपि, येन सत्तां दर्शयति,-तत्र ... ॥ ननु प्रमाणादिसत्ताज्ञानं चेदायातं तदा तदभ्युग-...

...णिकेति; एतद्व्याख्यानुरोधेन ... उपेक्षणीयः, अन्यथायं 'तस्येति प्रमाण...

(३) नियतत्वं समयबन्धस ... ...प्रमाणस्वस्वीकारे सति ।

वा, वाग्व्यवहाररूपकथारूपो वा, ... ... बाध्यत्वदर्शनात्, एकक्षणावगतस्...

अन्यः तेन कथं प्रवर्तयतापीत्यर्थः ...

(४) न केवलं व्यवहारस ...

पद्यते- इत्याह-प्रमाणैरिति। प्र ...

मोऽपि(१)सिद्धः, तत्रैव च त्वं विप्रतिपन्नः ? इत्यत आह—। b"तत्र किमि"ति । यद्वा 'नावगममात्रं कथाहेतुरपितु प्रमाणादिसत्तावगमः'–इति विशिष्टकारणताग्राहकं मानं(२) विशेषणमपि विषयीकरोतीति प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमो(३)पि कथाहेतुः,–एवं तदवगमोऽपीत्यत आह—। "तत्र किमि"ति ॥ अतिप्रसङ्गमेव दर्शयति—। c"पुरुषत्रये"ति ॥ d"द्वितीय"इति द्वितीयपक्षस्य द्वितीयपक्ष इत्यर्थः ॥ तमेवाह—। e"यत्र सर्वप्रकारेणे"ति ॥

मू० a"तदित्थं (४), यदि नाम वादिप्रतिवादिमध्यस्थमात्रस्य दूषणादिसत्तावगमः कथाकालमात्रे तै(५)रबाध्यमानः कथाङ्गत्वेनाभ्युपेयते तदा b'किमायातं सर्वप्रकाराबाधिततत्सत्त्वावगमायत्ततत्सत्ताभ्युपगमकथाङ्गतानङ्गीकारस्य(६) । c'कतिपयप्रतिपत्तृ–कतिपयकाल-तथात्वावगमादेव प्रायेण लौकिको व्यवहारः प्रतीयते, तादृशश्चायं सत्त्वावगमः कथाङ्गम् । d'एतत्तदुच्यते(७)–e'व्यावहारिकीं प्रमाणादिसत्तामादाय

(१) प्रमाणादिसत्तास्वीकारोऽपीत्यर्थः ।

(२) प्रमाणादिसत्ताविशिष्टाऽवगमनिष्ठकारणताग्राहकं मानं विशेषणीभूतसत्तामपि कारणत्वेन विषयीकरोतीत्यर्थः ।

(३) 'अभ्युपगमः'–इत्यापाततः कीर्त्तनं, प्रमाणादिसत्तापि कथाहेतुरिति तु परमार्थः । यद्वा पूर्वं प्रमाणादिसत्ताविशिष्टावगमोक्त्या प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमविशिष्टत्वमेवलक्षणयोक्तं भवतीति ।

(४) 'तद् इत्थं वादिनोच्यते एव, परं न घटते, सर्वप्रकाराबाध्यत्वस्याऽसर्वज्ञेनाऽधिगन्तव्यत्वात्'–इति विद्यासागरोक्तोऽर्थः । तत्र तदित्थमित्यस्य तत्रेत्यर्थकस्य पूर्वत्रैवाऽन्वयः, प्रक्रान्तशाङ्करव्याख्यानुरोधेन त्वयं इति विज्ञेयम् । क्वचित्तु मूलव्याख्यानयोः 'तदिदम्' इति पाठः ।

(५) तैः–वाद्यादिभिरित्यर्थः ।

(६) मतभ्युपगतस्य,–इति शेषः ।

(७) 'तदेतद्वृद्धैरपि "स्वप्नवद्व्यवहरेम" इत्यादावुच्यते, न तु मयैव'–इति विद्यासागराः । वयं तु, तत्=तस्मिन्नेतस्मिन्पूर्वोक्तेऽर्थे, एतत्=वक्ष्यमाणम्, उच्यते=उक्तं भवतीति वदामः ।

विचारारम्भः-इति । तस्माद् 'यादृग्व्यवहारनियमः कृतस्तन्मर्यादाऽनेन नोल्लङ्घिता'-इति यद्वादिवाग्व्यवहारे मध्यस्थावगमः, स विजयते; यस्य तु वचसि नैवं तस्यावगमस्तस्य पराजयः ; यत्र(१)वाद्युक्तनिग्रहसत्त्वावगमः, स निगृहीतः ; तदितरस्तु न तथा-इत्यादिनियम एव कथारम्भाय ग्राह्यः ।

टी० कथाव्यवहारे (२) सर्वप्रकारबाधितत्वं(३) नास्ती(४)त्यत आह-।[a]"तदित्थमि"ति ॥ ननु प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमे त्वं विप्रतिपद्यसे, स च त्वयैवाङ्गीकृतः ? इत्यतआह-। [b]"किमायातमि"ति । सर्वप्रकारेणाऽबाधितो यः प्रमाणादिसत्तावगमस्तदायत्तः (५) प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमः कथाङ्गं न भवतीति मदीयः पक्षः, तत्र त्वया न किञ्चिदुक्तमिति भावः । *ननु प्रतिज्ञान्तरमिदं यत्प्रमाणाद्यभ्युपगमः कथाङ्गं न भवतीति प्रतिज्ञाय सर्वप्रकाराऽबाधितप्रमाणादिसत्ताऽधिगमायत्तप्रमाणाद्यभ्युपगमः कथाङ्गं न भवतीति प्रतिज्ञायते *?-इति चेन्न पूर्वमपि विशिष्टस्यैव प्रतिज्ञानात्, प्रतिज्ञान्तरस्यापि खण्डनीयत्वा(६)च्चेति भावः ॥ नन्वबाधित एव प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमः कथाङ्गमस्त्वित्यत आह-। [c]"कतिपये"ति । त्रैकालिकसार्वलौकिकबाधवैधुर्य्याकलनमशक्यमिति कतिपयप्रतिपत्तृमात्रबाधविरह एव प्रवृत्त्यङ्गम्,-इत्यवश्यं वाच्यं, नैतावता वस्तुस्थितिरिति भावः । [d]"एतत्तदुच्यते"इति । तदेतदुच्यते इत्यर्थः ॥ [e]"व्यावहारिकीमि"ति । पारमार्थिकत्वस्य दुष्परिच्छेद्यत्वा(७)दिति भावः ॥

(१) यत्र=प्रतिवादिनीत्यर्थः ।

(२) मूलानुरोधात् 'कथाव्यवहारे'-इत्यस्य, कथाव्यवहारकाले-इत्यर्थः ।

(३) 'सर्वप्रकाराऽबाधितत्वं नास्ति,-इति तु प्रायो दृश्यमानः पाठः प्रामादिकः ।

(४) प्रमाणादिसत्ताऽवगमस्य,-इति शेषः ।

(५) तदायत्तः=तदधीनः ।

(६) सर्वनिग्रहस्थानखण्डनवेलायां द्वितीयपरिच्छेदे,-इति शेषः । इति भाव इति । पूर्वमेकदा भावस्योक्तत्वादत्र 'भावः' इति नोचितं, यद्वा प्राथमिकस्य "भावः"-इत्यस्य स्थाने 'अर्थः'-इति पाठेन भाव्यम् ।

(७) परिच्छेदः=अवधारणं, तथा च 'दुष्परिच्छेद्यत्वात्'-इत्यस्य, दुरवधारणत्वादित्यर्थः । अत्र खलु आवश्यकत्वेन दुष्परिच्छेदत्वादिति पाठं तु युक्तमनुमन्ये ।

मू० a"अनेन नियमेनोक्तव्यम्'–इत्यस्यायमर्थः,–'अनेन[1] नियमेनोक्तमनेने'ति मध्यस्थावगमस्य विषयीभवितव्यमिति ।* b'नचवाच्यमन्ततस्तदवगमस्यापि[2]सत्ताभ्युपेतेति* । तस्यापि[3]सत्ताचिन्तायां तत्सत्तावगमान्तरस्यैव शरणत्वात् ।* c'नचैवमनवस्था* । तदनुसरणाऽवश्यम्भावानङ्गीकारात्, d"'एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः"–इति न्यायात् ।* नचान्तिमासत्त्वे पूर्वप्रवाहाऽसत्त्वापत्तिः, तथाचाऽवगममादायापि व्यवहरतो न निस्तारः-इतिवाच्यम् * । e'अस्तु,' f'एवं हि, g'तथापि त्रिचतुरज्ञानकक्षागवेषणमात्रविश्रान्तेन विचारेण ततः परमननुसरणरमणीयेनैव च समयं बद्ध्वा कथायां मिथः सम्प्रतिपत्त्या प्रवर्त्तनात् ।

टी० ननु प्रमाणादिसत्ता माभ्युपगम्यतां, नियमबन्धश्चेदङ्गीकृत एतावतैव द्वैतापत्तिरित्यत आह–। a"अनेने"ति ॥ अवगमसत्तया द्वैतापत्तिं निरस्यति–। b"नच वाच्यमि"ति । आपाततः सर्वशून्यतानयनगरप्रवेशे तात्पर्य्यम् ॥ ननु ज्ञानमपि चेन्न परमार्थसत् किन्तु तज्ज्ञानात्तद्व्यवहारसिद्धिरेवं तत्र तत्रापि मन्तव्यं तदाऽनवस्थया कोपि व्यवहारो न सिद्ध्येदित्यत आह–। c"नचे"ति । भवेदेवं यदिज्ञानमवश्यं स्वव्यवहारार्थं स्यात्, किन्तर्हि. विषयव्यवहारार्थमनुसृतस्य व्यवजिहीर्षायां ज्ञानान्तरमनुश्रीयतां[4]नतु तत्तज्ज्ञानव्यवहारपरम्पराधौव्यं, येनाऽनवस्था स्यादित्यर्थः॥ अत्रार्थे भट्टाचार्य्यानुमतिमाह–। d"एवमि"ति । प्राकट्यानुमेयज्ञानपक्षे तत्तज्ज्ञानपरम्पराऽनुमानानवस्थापरिहारार्थं भट्टाचार्य्यचरणैरिदमुक्तमिति भावः ॥ ननु ज्ञानस्यापि

(१) अनेन वादिना अनेन नियमेनोक्तम्.–इति मध्यस्थाऽवगमस्य विषयत्वेन भवितव्यमित्यर्थः, तथाचाऽवगमसत्तैव सिद्धा, न नियमबन्धसत्तेति भावः ।

(२) तदवगस्यापि=नियमबन्धावगमस्यापीत्यर्थः ।

(३) नियमबन्धविषयकाऽवगमस्यापि प्रातीतिकमेव सत्त्वमित्याह–तस्यापीति ।

(४) वयं तु अनुश्रीयतामित्यस्य स्थाने अनुस्रियतामिति पाठः साधुरिति वदामः ।

व्यावहारिकी सत्ता, तथा चान्तिमज्ञानमप्यशेषज्ञानानामसत्त्वात् तन्मात्रा-धीनसत्ताकं तत्पूर्वज्ञानमप्यसदापद्येत?–इत्याशङ्क्य सर्वशून्यताभिप्रायेणेष्टापत्त्या परिहरति–। [e]"अस्त्वि"ति। अस्त्वितीष्टापादनं, सर्वासत्त्वमस्त्वित्यर्थः॥ [f]"एवं ही"ति। एवमेव यतो विचारबलात् सेत्स्यतीत्यर्थः।(१)हि-शब्दः किलाऽर्थे वा॥ ननु प्रमाणादिसत्त्वमनभ्युपगम्यापि कथाप्रवृत्तिरितीदानीं तत्रोद्देश्यं, तच्च सर्वासत्त्वस्वीकारविरुद्धं, प्रमाणाद्यसत्त्वे विचारस्यात्य-मवकाशादत आह–। [g]"तथापी"ति॥

मू० [a]"अन्यथा प्रमाणादिसत्त्वाऽभ्युपगमेपि ज्ञानाऽनवस्थायाः दुष्परिहरत्वात्।* [b]नच वाच्यं–मत्पक्षे स्वरूपसता ज्ञानेन व्यवहारस्य चरितार्थयितुं शक्यत्वात् तज्ज्ञानपरम्पराऽननुसरणमुचितं, नत्वेवं त्वत्पक्षे स्वरूपसता ज्ञानेन व्यवहारस्य चरितार्थता, ज्ञानस्वरूपसत्त्वाङ्गीकारप्रसङ्गादिति*। स्वरूपसत्त्वमादायापि परिहरतोऽनवस्थाप्रसङ्गस्य स्वप्रकाशप्रस्तावे वक्तव्यत्वात्। [c]यथा च त्वत्पक्षे स्वरूपसत्त्वाऽविशेषेपि विज्ञानस्वरूपसत्तैव परं व्यवहारोपपादिका, न घटादिसत्ता, एवमेव(२) असत्त्वाविशेषेपि ज्ञानमेवासद् व्यवहारोपपादकं, नान्यत्।* [d]असच्चोपपादकं च–इति व्याहतम्*?–इति चेन्न, 'सदुपपादकम्–इति कुतो न व्याहतम्?। नहि सदुपपादकम्, असन्न,–इति क्वचिदावयोः सिद्धम्।* [f]ननु तदसत्त्वाविशेषात्कार्यस्याऽन्यदापि जन्मप्रसङ्गः*?।

(१) 'यत'–इत्येतदर्थं हि-शब्दमभिधायेदानीं किलार्थं आह–हीति।

(२) मत्पक्षे,–इति शेषः।

टी० ननु प्रमाणादिसत्तैव कुतो नाभ्युपगम्यते इत्यत आह—। [a]"अ-न्यथे"ति। जिज्ञासुरकृताविश्रान्तिरेव तत्रापि शरणमनवस्थाभयादित्यर्थः॥ ननु मत्पक्षे ज्ञानं स्वरूपसदेव विषयव्यवहारसमर्थं, त्वत्पक्षे स्वरूपाऽसतो-ज्ञानस्य ज्ञानान्तरमेव सत्त्वमिति तज्ज्ञानसत्त्वार्थमपरापरज्ञानाऽनुसरण-मवश्यमित्यनवस्थेति वैषम्यमाशङ्क्य परिहरति—। [b]"न च वाच्यम्" इति। अज्ञायमानतायां ज्ञानस्य स्वरूपसत्तापि न स्यात् "को(१)नुभूते सती सा वि-षः? असत्येव किं न स्यात्"—इत्यादेः स्वप्रकाशप्रस्तावे वक्ष्यमाणत्वात् वैषम्यमित्यर्थः॥ ननु ज्ञानस्याऽसत्त्वे कथं तदधीनो व्यवहारः? अथा-पि व्यवहारहेतुस्तदा सदैवासतो व्यवहारः स्यादविशेषादित्याश-ङ्क्य। [c]"यथाचे"ति॥ [d]"असत्त्वे"ति। उपपत्तिकारणमुपपादकं, कारणं च प्राक्कालसदिति व्याघातः॥ कारणं (२) नियतप्राक्सदित्येव नास्ति व्याघात इत्याह—। [e]"सदि"ति॥ ननु यद्यसत्कारणं तदै-तत्कार्यस्तिको घटः पूर्वमेव कथं नोत्पन्नः? इत्याह—। [f]"नन्वि"ति। एतद्(३)त्पत्तिक्षणभिन्नाः क्षणा यद्येतद्घटयावत्कारणाऽधिकरणक्ष-णाऽव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टाः स्युः, एतद् घटोत्पत्त्यधिकरणानि स्युरि-त्यापादनं तदा (४) एतद्घटोत्पत्तिक्षणपूर्वक्षणो यद्येतद्घटसामग्र्य-व्यवहितोत्तरः स्यात् एतद्घटोत्पत्तिक्षणः स्यादित्यापाद्यम्॥

(१) कोऽनुभावयति यत् सत्येव सा वित्तिरिति? न कोऽपि, ततश्चाऽनुभावकाऽभावे सा वित्तिः किं न स्यादिति वक्ष्यमाणग्रन्थार्थः।

(२) कारणं यत् तदेव, नाऽसदित्येव नाद्यापि निर्व्यूढमिति भवादाय कारणं=नियतप्राक्सत्, तथा च यथा ऽसत्त्वादिति कथं व्याघातः स्यादित्यर्थः। नास्ति तथा नियतप्राक्सत्त्वमित्येव नास्ति कुतोऽस्मान्प्रति व्याघातः।

(३) यथाश्रुतमौलिग्रन्थार्थमाह—एतदिति. वस्तुगत्या एतद्घटो-त्पत्तिक्षणभिन्ना अपि क्षणा एतद्घटसामग्र्यव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टाः, यदि तु एतद्घटोत्प-त्त्यधिकरणक्षणा एतद्घटसामग्र्यव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टाः स्युस्तदेतद्-घटोत्पत्त्यधिकरणानि स्युरित्यर्थः। दृष्टं टीका इति तद्व्याख्याय

(४) पूर्वं घटोत्पत्तिक्षणभिन्नेषु घटाधिकरणत्वमापादितमिदानीं घटाऽव्यवहितप्रागभावैकक्षणे तदापाद

मू० [a]न, कार्यस्या(¹)ध्यसत्ताक्षणे इवान्यदापि सामग्र्यसत्त्वाऽविशेषात् तवापि किं नान्यदा कार्यजन्म । * [b]अथ न मम तदानींतनं सामग्र्यसत्त्वं तदानींतनस्य कार्यजन्मनो नियामकं, किंतु ततः प्राक् सामग्रीसत्त्वं, तथादर्शनात् *, ?। [c]तर्हि ममापि कालान्तरस्थ(²)मपि तदसत्त्वं तदातनकार्यजन्मनो नियामकं, तथादर्शनादेव । * [d]मम तु तदव्यवहितोत्तरत्वं तदा कार्यजन्मनो नियामकम् * ?–इति चेन्न,

टी० कार्योत्पत्तिक्षणे सामग्री त्वयापि नेष्यते [illegible] तदुत्पादकस्याऽभावात्, तथाच यथा सामग्रीविरहिणि तस्मिन्[illegible] क्षणे कार्यं, तत्क्षणान्तरेऽपि कथं न स्यादविशेषादित्याह–। [a]"न, कार्यस्ये[illegible]"ति ॥ तथा[illegible]न्तराणां सामग्रीविनाकृतत्वात् त्वया घटोत्पत्त्यधिकरणत्वमापाद्यते, [illegible] तदा स्याद् यदि सामग्र्यसत्त्वं कार्योत्पत्तिनियामकमस्माभिरुक्तं [illegible] नचैवं, किन्तु कार्याव्यवहितपूर्वक्षणसामग्रीसत्त्वमिति शङ्कते–। [b]"अथेति ॥ तस्मिन्(³)क्षणे नियमतः कार्योत्पत्तिदर्शनात् यथा पूर्वक्षणसा[illegible]सत्त्वं तव नियामकं, तथा ममापि नियतकालकार्यदर्शनात् पू[illegible] व्यसत्त्वमेव किं न नियामकं स्यादिति परिहरति–। [c]"तर्हि[illegible] "अ[illegible]ग्रीसत्त्वं पूर्वक्षणमात्रे, तदसत्त्वं च सार्वत्रिकमिति महद्वैषम्य[illegible]न्यकार्यमप्यसदेवेति(⁴)हृदयम् । पूर्वापादनं तु तदा स्याद् य[illegible] चेन्न, सदुप[illegible] । * [f]नन[illegible] सङ्गः * ?

(१) तवापि सत्कारणवादिनो मते किं कारणसामग्रीघटकसामग्र[illegible]वात्कार्यजन्म ? वा पूर्वभाविसामग्रीसत्त्वात् ? आहोस्वित् स[illegible]त्वात् ? ; तत्राद्ये आह–कार्यस्येति ।

(२) कालान्तरस्थं तदसत्त्वमित्यस्यैव पूर्वक्षणसामग्र्य[illegible]ति [illegible] कामिवेण शङ्कते निर्णीतं भवति । एवमन्यत्रापि पाठो[illegible]स्मिन् [illegible] विवरणसु[illegible] व्याख्याने अस्या[illegible]

येवार्था अवधारणीयाः ।

(३) तस्मिन् क्षणे = कार्यक्षणे ।

(४) अयमाशयः–भवेदिदं वैषम्यं यद्येतावृशं [illegible] कार्यस[illegible] प्यसत्त्वं मया नोच्यते, कि[illegible] [illegible]प्रसत्त्वमेव, व्यावहारिकत्वेन [illegible] प्रारम्भिकत्वधर्मपुरस्कारेण कार्यं कारणयोरभये[illegible]

णातिरिक्तानामपि क्षणानां याव(१)द्घटप्रयोजकोत्तरत्वं मयाऽभ्युपगम्येत, नत्वेवं, किन्तु घटजन्मक्षणस्यैव, तत्पूर्वक्षणवर्त्तिसामग्र्युत्तरत्वस्यैव घटप्रयोजकत्वेन मयाऽभ्युपगमात् ॥ न वयं भिन्नकालीनं सामग्रीसत्त्वं कार्यजन्मनियामकं ब्रूमोऽपि तु कार्योत्पत्तिसमानकालीनमेव सामग्रीसत्त्वाव्यवहितोत्तरत्वं, तथा च न साम्यमित्याह–। [d]"समत्वे"ति ॥

सू० [a]"समसमयत्वादा[b]ऽऽगन्तुकत्वा(२)च्चाऽविशेषेण नियम्यनियामकव्यवस्थाऽनुपपत्तेः ।

टी० [a]"समसमयत्वादि"ति । यदेव कार्योत्पत्तिक्षणत्वं तदेव सामग्र्युत्तरक्षणत्वमिति कथमभेदेनैव नियम्यनियामकभावः, समयस्य=क्षणस्य, समत्वादेकत्वादित्यर्थः । * नचोपाधिभेदाद्भेदः * । तथा सति दण्डित्वकुण्डलित्वाभ्यां देवदत्तो भिद्येत, "देशकालौ(३)कामं भिद्येयातां नतु तदुपरक्तस्वभावः पद्मरागो मणिः"–इति च तवैव वाचस्पतेरभिधानादिति भावः । यद्वा तुल्यकालयोः सामग्र्युत्तरक्षणत्वकार्यक्षणत्वयोः सव्येतरविषाणवन्नियम्यनियामकभावाऽभावादित्यर्थः । यद्वा समयः=व्यवस्था, तेन समसमयत्वान्नियम्यनियामकयोः समव्यवस्थत्वात्, तथाच–कार्यनियामकत्वेनाभिमतस्य सामग्र्युत्तरत्वस्य नियामकान्तरं वाच्यमित्यर्थः । एतदेवाग्रे "अन्यथा यद्विशेषान्तरं तदपि"–इत्यादिना स्फुटयिष्यति । यद्वा, समयः=सङ्केतः(४), तथाच कार्यक्षणसामग्र्युत्तरक्षणयोरेकार्थवाचकत्वेन तदुपस्थाप्ययोर्घटकलशपदोपस्थाप्ययोरिव न नियम्यनिया-

---

कदाचित्कार्यस्य सत्त्वोपलम्भात्तदव्यवहितप्राक्क्षणमात्रे परमार्थतोऽसतोऽपि कारणस्य व्यावहारिकं सत्त्वं मयाप्यङ्गीकरणीयमेवेत्यतो न वैषम्यमिति ।

(१) यावत्त्वस्य प्रयोजकेऽन्वयो न तु घटे ।

(२) उत्तरत्वमपि नियामकान्तरपूर्वकं चेदनवस्था. न चेत्स्वयमव्यवस्थिते कथमन्यद्व्यवस्थापयेदित्याह–आगन्तुकत्वादिति"–इति प्रगल्भमिश्राः श्रीदर्पणे ।

(३) देशकालौ कामं=यथेष्टं भिद्येयातां नतु देशकालभेदेन पद्मरागो मणिर्भिद्यते इत्यर्थः ।

(४) सङ्केतः=वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः, शक्तिरिति यावत् ।

मकभाव इत्यर्थः ॥ [b]"आगन्तुकत्वादि"ति । अव्यवस्थितोपनिपातित्वात्, आकस्मिकोपनिपातित्वमित्यादावागन्तुकपदप्रयोगात्, तथाचाऽऽगन्तुकाऽऽकस्मिकी सामग्री स्वोत्तरत्वेन कार्यजन्म कथं नियमयेदित्यर्थः। यद्वा प्रागभावेतर(१)यावत्कादाचित्ककारणप्रागभावाऽनाधारः कार्यप्रागभावाधारः क्षणः सामग्रीत्युच्यते, कार्यप्रागभावः कार्यानुत्पाद एव, तथाच—'कार्यानुत्पादः कार्योत्पादं नियमयति'—इति पर्य्यवसितं, तच्चाऽनुपपन्नं, कार्यानुत्पादस्य कार्य्योत्पादं प्रति आगन्तुकत्वात्—उदासीनत्वात्, उदासीनो ह्यागन्तुक इत्युच्यते इत्यर्थः। तथाच समसमयत्वाऽऽगन्तुकत्वाभ्यामविशिष्टयो(२)रुभयोरभिमतनियम्यनियामकयोर्न नियम्यनियामकभाव इति समुदायार्थः। अन्ये तु "आगन्तुकत्वादन्यथासिद्धत्वादिति वा, आगन्तुकत्वादक्लृप्तनियामकत्वादिति वाऽर्थः"—इत्याहुः। यद्यपि समसमययोरप्यागन्तुकयोरपि रूपरसयोर्वह्निधूमयोरिव नियम्यनियामकभावो दृष्ट एव, तथापि कार्यस्याऽसत्त्वमेवेति हृदयम् ॥

मू० [a]तस्मात् 'अन्यदाऽस्थाया(३)एव सामग्र्यास्तदा कार्यजन्मनियमोऽभ्युपेयः, तथा दर्शनात्'—इत्येव वाच्यम्, तथाच समः(४)समाधिः। * [b]तथापि कार्य(५)जन्मकालस्य को विशेषः*? [c]कार्यजन्मैव। [d]अन्यथा तद्विशेषान्तरं(६)

(१) कार्य्यप्रागभावाधारः क्षणः सामग्रीत्येतावन्मात्रोक्तौ दण्डादिकारणप्रागभावक्षणस्यापि घटादिसामग्रीत्वं स्यादतउक्तं यावत्कारणप्रागभावाऽनाधार इति, एवमपि यावदन्तर्गतानां देशकालादीनां प्रागभावस्यैवाऽभावात्तदनाधारः क्षणः सर्वदैवास्तीति पुनरपि स एव दोषस्तदवस्थ इत्यत उक्तं कादाचित्केति, कादाचित्कं कारणमनादिप्रागभावोऽपीति पुनस्तद्दोषाऽनुद्धार इति प्रागभावेतरेत्युक्तम्।

(२) अविशिष्टयोः=तुल्ययोः। (३) अन्यदाऽस्थायाः=पूर्वक्षणवर्तिन्याः।

(४) यथा तव भिन्नकालीना सामग्री नियामिका तथा ममापि भिन्नकालीनसामग्र्यसत्त्वं किं न नियामकं स्यादिति समः समाधिरित्यर्थः।

(५) "यद्यपि कारणमिव कार्य्यमप्यसदेवेति तत्र समयविशेषप्रश्नो न युक्तः, तथापि प्रतिबन्दिस्थानेनैव साधनस्योपक्रमाद्विशेषमाह—कार्य्यजन्मेति'—इति प्रगल्भमिश्राः प्रादर्शयन्।

(६) विशेषान्तरं=सामग्र्युत्तरत्वादि।

तदपि विशेषान्तरवतः कालस्य स्यादित्यपर्य्यवसानमेव पर्य्यवस्येत् । * तथापि(१)तत्कालस्यानुगतं किं रूपम् * ?,–इति चेन्न, 'रूपान्तर(२)वतोपि किं तद् ?'–इत्यस्यापि पर्य्यनुयोगस्यापत्तेः(३) ।

---

टी० [a]"तस्मादि"ति । सामग्र्युत्तरक्षणत्वस्य नियामकत्वे खण्डिते भिन्नकालापि त्वया सामग्र्येव नियामिका वाच्या, तथाच भिन्नकालसामग्र्यसत्त्वमेव किं न नियामकमिति समः समाधिरित्यर्थः ॥ ननु क्षणान्तरेभ्यः कार्यजन्मक्षणस्य वैलक्षण्यमवश्यमभ्युपेयं, तच्च वैलक्षण्यं न तावत्सामग्र्यसत्त्वं, तस्य क्षणान्तरसाधारण्यात्, तथाच सामग्र्युत्तरक्षणत्वमेव तथा वाच्यम् क्षणान्तरव्यावृत्तत्वादिति तदेव नियामकमित्यनुशयानः पृच्छति । [b]"तथापी"ति ॥ उत्तरम्–। [c]"कार्य्ये"ति ॥ विनिगमकमाह–। [d]"अन्यथे"ति । सामग्र्युत्तरत्वेपि विशेषान्तरमनुसरणीयम्, एवं तत्रतत्रापीत्यनवस्थेत्यर्थः । यद्यपि कार्य्यजन्मकाले सामग्र्युत्तरत्वं, तत्र च सामग्री, तस्यामपि तत्सामग्रीत्यपर्य्यवसानमेवेष्टं प्रामाणिकत्वात्, * नच कार्यजन्मकालगता एव सर्वे विशेषा अभिमताः नच सामग्रीपरम्परायास्तथात्व(४)मिति वाच्यम् *, सामग्रीपरम्पराया अपि परम्परया कार्यजन्मकालस्यैव विशेषत्वात्; अन्यथा "कार्यजन्मकालस्य कार्य्यजन्मैव विशेषः"–इति त्वदुक्तमपि न निर्वहेत, तत्रापि विशेषान्तराऽनुसरणौचित्यात्, तथापि कार्यमप्यसदित्यत्रैव हृदयम् ॥

---

(१) कार्य्यजन्मकालानामुपसङ्ग्राहकं रूपं पृच्छति—तथापीति ।

(२) परिहरति – रूपान्तरेति । अयमाशयः – यन्नियामकं रूपान्तरं वक्तव्यं तस्यापि रूपान्तरसापेक्षत्वेऽनवस्था, अन्ततोगत्वा कस्यापि रूपान्तराऽनपेक्षत्वे आदावेव तत्स्वीकार्य्यं, तच्च जनिसम्बन्धित्वमेवेति ।

(३) { असतः कारणभावो भवतीति समर्थितं तावत् ।
न च सत एव तु सिद्ध्यति कारणतेति प्रदर्श्यते तदनु ॥ }

(४) तथात्वम्=निरुक्तोत्तरोत्तरसामग्र्यात्मकविशेषवत्त्वम् ।

मू० [a]किञ्च ।

अन्तर्भावित(१)सत्त्वं चेत्कारणं तदसत् [b]ततः ।
नान्तर्भावितसत्त्वं चेत्कारणं सदसत्[c]ततः ॥ ४ ॥

[d]तथा हि अन्तर्भूतसत्त्वं यदि कारणत्वं तदा स्वविशिष्टे स्ववृत्तिरंशतः स्वाश्रयत्वमापादयति ।[e]

टी० असतः कारणत्वमुपपाद्य सतः कारणत्वं खण्डयति—। [a]"किञ्च" इति । कारणे सत्ता विशेषणम् ? उपलक्षणं वा ?। यदि विशेषणं, तदा सत्तायामपि कारणत्वमित्यायातं, सत्तायां च न सत्तेत्यसदेव कारणं प्राप्तम् ॥ [b]"तत" इति । सत्ताविशिष्टे कारणत्वाऽभ्युपगमादित्यर्थः । उपलक्षणत्वे त्वसदपि कारणं प्राप्तं, सत्तायाः कारणकोटिर्बहिर्भावात् ॥ [c]"तत" इति । सत्ताया उपलक्षणत्वाऽभ्युपगमादित्यर्थः । यद्वा कारणमित्युभयत्र भावप्रधानो निर्देशः, तथाच सत्तायां कारणत्वं वर्त्तते ? नवा ? इति विकल्पार्थः । आद्ये सदपि कारणं, सत्तायाः सत्ताविरहेणाऽसत्वात् । द्वितीये सत्तया सदाकाराऽनुगतप्रत्ययोऽपि न जननीय इति तन्मात्रप्रमाणिकायाः सत्ताया विलोपे सर्वकारणमसदेवेति प्राप्तम् । यद्वा कारणं=कारणत्वम्, अन्तर्भावितसत्त्वं=व्यापकीभूतसत्त्वं ? न वा ? तथाच कारणत्वं सत्ताव्याप्यं ? न वा ? इति विकल्पार्थः । आद्ये सत्तायां सत्तानिवृत्त्या कारणत्वमपि निवर्तते, इति अनुगतप्रत्ययजनकत्वाभावात् प्रमाणाऽभावेन सत्ताविलोपे सर्वकारणमसदेव प्राप्तम् । अन्त्ये सत्तामपहायापि कारणत्वं वर्तते इति त्वयैवासत्कारणमभ्युपेतमित्यर्थः ॥ वार्त्तिकार्थं प्रपञ्चयति—। "[d]तथाही"ति ॥

(१) अन्तर्भाविता = अन्तः प्रवेशिता (विशेषणीभूता इतियावत्) सत्ता यस्मिंस्तदन्तर्भावितसत्त्वं, तच्चेत्कारणं, तदा सत्ताविशिष्टे सत्ताऽसम्भवात्कारणमसदेव स्यात्, सत्ताऽसमवायात्सद्व्यवहारोपगमादित्यर्थः । अन्तर्भावितसत्त्वः कारणं न, किन्तूपलक्षितमिति चेत् (केचित्तत्राऽलुक्समासमिच्छन्ति) ततोऽपि कारणकोटौ सत्ताऽप्रवेशात्कारणमसदेवेति श्लोकार्थः ।

मू० "विशिष्टस्यार्थान्तरत्वे(१)पि च स्वस्मिन्स्ववृत्तिव्यतिरेकवत्स्वविशिष्टे स्ववृत्तिव्यतिरेकनियमदर्शनात् न सैव सत्ता तस्मिन्निति [b]अन्यस्या विशिष्टत्वाभ्युपगमे तामनिवेश्य कारणत्वमभ्युपगन्तुः सर्वथैवासत्कारणं पर्यवस्यति, [c]अपराऽपरसत्तानिवेशने चाऽपर्यवसानमेव।

टी० ननु सत्ताविशिष्टे दण्डादौ कारणे सत्ता वर्तते चेत्कथमात्माश्रयः(२)इत्यत आह—। [a]"विशिष्टस्ये"ति। स्वस्मिन्स्वं वर्तते इति यथा विरुद्धं, तथा स्वविशिष्टे स्वं वर्तते इत्यपि विरुद्धमेव, विरोधप्रयोजकस्याऽदर्शनस्योभयत्राऽविशेषादित्यर्थः ॥ ननु स्वविशिष्टे स्वं मावर्तिष्ट, स्वभिन्नया द्वितीयया सत्तया प्रथमसत्ताविशिष्टानां सत्त्वं, सत्त्वाच्च कारणत्वमुपपत्स्यते? इत्यत आह—। [b]"अन्यस्या" इति। प्रथमसत्तायाः अकिञ्चित्करत्वेपि तत्तुल्यतया द्वितीयसत्तामप्यनिवेश्यैव त्वया कारणत्वं वाच्यम्(३)तथाच न प्रथमया न वा द्वितीयया सत्तया सतां कारणत्वमिति सर्वथैवासत्कारणमिति भावः ॥ ननु स्वविशिष्टे स्ववृत्तावात्माश्रयः, अन्योन्यविशिष्टेऽन्योन्यवृत्तावन्योन्याश्रयः, इति पूर्वपूर्वसत्ताविशिष्टापरापरसत्तया सत्स्यात्कारणं च स्यादिति कथमसत्कारणमित्यत आह—। [c]"अपरापरे"ति। उत्तरोत्तरसत्तास्वप्यन्तर्भावितसत्त्वं चेदित्यादिविकल्पकदर्थनया क्वापि पर्यवसानं न स्यादित्यर्थः ॥

मू० *"नच सत्ताभेदानन्त्यमस्त्येवेत्यपि पादप्रसारिका निस्ताराय*। सत्ताभेदे हि सद्बुद्धिव्यवहाराऽनुगमसमर्थनलङ्घिनः प्रथमापि सत्ता नस्याद् इति वृद्धिमिच्छतो मूलमपि ते नष्टमिति हा! कष्टतरम्। * [b]नच स्वरूपस-

(१) विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धेभ्योऽतिरिक्तत्वपक्षेपीत्यर्थः।

(२) अत्र "विशिष्टस्य विशेषणीभूतसत्तादितोऽतिरिक्तत्वस्य मयाऽभ्युपगन्तव्यत्वात्'--इति हेतुः पूरणीयः।

(३) वचनप्रकारस्तु--'स्वभिन्नया तृतीयसत्तया द्वितीयसत्ताविशिष्टानां सत्त्वं सत्त्वाच्च कारणत्वमुपपत्स्यते'--इति।

त्वोपगमाय स्वस्ति *। भिन्नानप्यनुगत(१)बुद्ध्याद्याधानपदेऽभिषिञ्चता त्वया हि जातिमात्राय जलाञ्जलिर्वितीर्य्यत। c"माभूदनुगतिः स्वरूपसत्त्वस्य"-इति च वदन् तद्धर्मिणीं कारणतां कथमनुगमयितासीति।

टी० ननु बीजाङ्कुरपरम्परावत्सत्तापरम्पराऽस्तु को दोषः? इत्यत आह-। a"नचे"ति। यथा तावत्यः सत्ताः सत्तामन्तरेणैव सत्यस्तथा दण्डादयोपि सत्तामन्तरेणैव सन्तः सन्तु किमाद्ययापि सत्तया। * न च तावतीषु सत्तास्वेका काचित्सत्ता वर्त्तते यया तासामनुगमः, तस्याः पुनरेकस्याः(२) किमनुगमकेन सत्तान्तरेणेतिवाच्यम् *। तर्हि सती(३)न स्यात्, तदसत्त्व च तासामसत्त्वात् तदाऽऽश्रयपर्यन्तमसत्त्वमित्यसदेव कारणं पर्यवसन्नमिति भावः। यद्यपि स्वविशिष्टे स्वं वर्त्तते एव विरोधाभावात् *नचादर्शनं* सर्वत्र तथैव दृष्टत्वात्। नहि स्वाऽविशिष्टे क्वचित्स्ववृत्तिर्दृष्टा। यदि च स्वविशिष्टे स्वं न वर्त्तेत, तदा स्वविशिष्टमेव न स्यात्स्ववृत्त्यैव हि तत्स्वविशिष्टम्, अन्यथा दण्डिनि दण्डवत्कुण्डलिनि कुण्डलवत् कुण्डलिनि दण्डोपि स्यात्। *एवं तर्हि दण्डेपि दण्डःस्यात्*?। न, आपादकाभावात्। *विशिष्टवृत्तित्वमेवापादकम्*?, इति चेन्न, यद्विशिष्टवृत्ति तद्विशेषणवृत्तीति नियमाभावात्, व्यभिचारस्य(४)दर्शितत्वात्। *तत्र(५)दण्डकुण्डलयोर्न

---

(१) अनुगतबुद्ध्यादिराधीयते अनेनेत्यनुगतबुद्ध्याद्याधानं, तत्पदे = तत्स्थाने इत्यर्थः।

(२) 'एकस्याः'-इति सावधारणं हेतुगर्भं विशेषणम्, एकत्वादेवेत्यर्थः।

(३) यदि सर्वसत्तास्वनुगतैकसत्तायां सत्तान्तरं न स्यात्तर्हि सा सत्येव न स्यादिति तदसत्त्वे तदाधारभूतानां प्रथमसत्तानामप्यसत्त्वं तदसत्त्वे च तदाश्रयाणां दण्डादीनां कारणानामप्यसत्त्वमित्यर्थः। न च सर्वसत्तास्वनुगतैकसत्ता स्वात्मकसत्तयैव सती। तथा सति प्रथमास्वेव तत्स्वीकरणीयतया तत्त्यागे मानाऽभावात्।

(४) सर्वत्र स्वविशिष्टे एव विशेषणं वर्त्तते, न चैतावता स्ववृत्तित्वं तस्येति (यद्यपीत्यत आरभ्य स्यादित्यन्तं) व्यभिचारस्य दर्शितत्वादित्यर्थः।

(५) ननु विशेषणं सर्वत्र स्वाऽविशिष्टे एव वर्त्तते, नचैवं सति कुण्डलिनि दण्डोपि स्यादिति वाच्यम्, दण्डादीनामुपलक्षणत्वेन विशेषणत्वानङ्गीकारादित्यत आह-तत्रेति।

विशेषणत्वं, किन्तूपलक्षणत्वम्*?-इति चेत्तर्हि सत्ताप्युपलक्षणमस्तु, यथा चोपलक्षणेनापि दण्डेन पुरुषो दण्डी, तथा सत्तयापि तादृश्या कारणं सदस्तु। वस्तुतो विशेषणत्वेऽपि न दोषः, नहि विशेष्यगतधर्मत्वं विशेषणत्वं किन्तु स्वकालनियत[1]व्यावृत्तिबोधजनकत्वं, प्रत्याय्य[2]व्यावृत्त्यधिकरणतावच्छेदकत्वे सति व्यवच्छेदकत्वं वा, तच्च[3]विशेष्यवृत्तिधर्मविरहेऽपि समानम्। यत्र[4]संयोगलक्षणा वृत्तिर्दण्डादौ तत्र कथञ्चिद्विरोधोपसंहारेऽपि समवायलक्षणवृत्तौ स्वविशिष्टे एव स्ववृत्तिरभ्युपगन्तव्या, तत्र स्वाऽविशिष्टदशाया अभावात्, गोत्वाऽविशिष्टे महिषादौ गोत्ववृत्तिप्रसङ्गात्। तथा च तत्रावश्यं स्वविशिष्टे स्ववृत्तिरङ्गीकर्त्तव्या। *तत्र केवले वृत्तिः*?-इति चेन्न[5]; केवलस्यापि स्वविशिष्टत्वात्। नहि तत्र स्वं न विशेषणम्। *ननु [6]सत्ताया सत्ताविरहात् कथं साऽनुगतप्रतीतिकारणम्*?-इति चेन्न, सत्तेव केवलमसती कारणमिति न, किन्त्वभावादिरप्यसदेव कारणम्। *तर्हि सत्कारणं, न त्वसदिति कोऽयं तव सिद्धान्तः*?-इति चेत्, सोपाख्यं कारणं, न तु निरुपाख्यमलीकमित्यवेहि। *तर्हि सत्तास्थाने उपाख्यामावेश्य उपाख्या-

---

(१) औदासीन्येन व्यावृत्तिबोधजनकत्वमुपलक्षणस्याप्यस्त्यतः स्वकालनियतत्वेन बोधो विशेषितः।

(२) पूर्वोक्तविशेषणलक्षणस्योपाधावतिव्याप्तिमभिप्रेत्य लक्षणान्तरमाह प्रत्याय्येति। प्रत्याय्या = ज्ञाप्या या व्यावृत्तिस्तदधिकरणता दण्डादेस्तदवच्छेदकत्वं दण्डादेरेव विशेषणस्य, नतूपाधेरुपलक्षणस्य वेति नातिव्याप्तिः।

(३) तदेतल्लक्षणं विशेषणे विशेष्यगतधर्मस्याभावेऽपि सति समनुगतमित्याह-तच्चेति।

(४) ननु "नहि स्वाऽविशिष्टे क्वचित्स्ववृत्तिर्दृष्टा"-इत्यस्य त्वदुक्तवचसोऽव्याप्यवृत्तित्वेनाऽभिमतसंयोगादौ व्यभिचाराद्विरोधस्तदवस्थ इत्यत आह-यत्रेति। संयोगेति। संयोगेन लक्ष्यते = ज्ञायते या सा संयोगलक्षणा, संयोगाऽवच्छिन्ना वृत्तिरिति यावत्। यद्वा वृत्तिवृत्तिताऽवच्छेदकयोः समनियतत्वेनाऽभेदोपचारात् संयोगलक्षणा वृत्तिरित्युक्तम्। एवं "समवायलक्षणवृत्तौ"-इत्यत्रापि ज्ञेयम्।

(५) 'केवले वृत्तिः'-इत्यत्र केवलशब्देन किं सर्वथा गोत्वादिविशेषणाऽसंस्पृष्टमाहं?, वा तत्संस्पृष्टम्?। आद्ये महिषादावपि गोत्ववृत्तिः स्यादित्येतद्दूषणं निर्धार्याह-नेति, द्वितीये तु पूर्वोक्तमेव स्मारयति-केवलस्यापीति।

(६) नन्वेवं स्वविशिष्टे स्ववृत्तित्वमुपपाद्य त्वया दण्डादीनां कारणत्वं व्यवस्थापि, सत्तायां तु सत्ताविशिष्टत्वस्याप्यभावात् कथं कारणत्वं स्यादिति खण्डनिकोमाखण्डनिकं शङ्कते-नन्विति।

विशिष्टं निरुपाख्यमेवेति पूर्वव(1)दावर्तनीयम् ०?-इतिचेच, आवर्तने क्रियमाण एव व्याघातात्। नह्युपाख्याविशिष्टं निरुपाख्यं वक्तुमपि शक्यते, उपाख्याविशिष्टत्वेनैवोपाख्यातत्वात्, सचोपाख्या हि नाम, तथाचाऽभिधाना(2)नभिधानयोर्जितं नैयायिकैरिति, तथापि(3)दण्डादौ सत्तापि कारणकोटौ न प्रविशतीति हृदयम्॥ ननु च सत्ताविरहि(4)ण्यपि सत्ता स्वरूपसत्त्येव, दण्डादिरपि सत्ताबहिर्भावेण कारणमस्तु स्वरूपसत्तायाः स्वरूपमात्रनिबन्धनत्वात्, प्राभाकरादिभिस्तथैवाङ्गीकाराच्चेत्यत आह-। [b]"नचे"ति। स्वरूपसत्त्वस्य प्रतिस्वं विश्रान्तत्वेनाऽननुगतत्वात् अनुगतसद्व्यवहारविलोपप्रसङ्गात्, अननुगतेनैव चाऽनुगतधीजनने गोत्वादिकमपि नस्यादित्यर्थः॥ नन्वनुगमाभावेपि स्वरूपसत्तया सत्कारणमिति तावदायातं, तदेव च मया साधयितुमुपक्रान्तमित्यत आह-। [c]माभूदिति। कारणताया अनुगमः त्वदभ्युपगतो न स्यात् स्वरूपसत्तायास्तदनुगमकत्वेनाभ्युपेताया अननुगतत्वात्, सत्ताजातेश्च खण्डितत्वादित्यर्थः॥

**मू० [a]किञ्च, स्वरूपसत्त्वं स्वरूपात् घटाद्यात्मनो नाधिकमसतोपि स्वरूपं स्वरूपमेव, नह्यसन् घटादिर्न घटादिः; तथा सति(5) 'घटादिर्न'-इत्यपि न स्यात्, असतोऽघटा-**

(1) पूर्ववत् "अन्तर्भावितसत्त्वं चेत्कारणं तदसत्ततः"-इति कारिकोक्तप्रकारेणैव-'अन्तर्भावितोपाख्यं चेत्कारणं तदसत्ततः, नान्तर्भावितोपाख्यं चेत्कारणं तदसत्ततः' इत्यावर्त्तनीयमित्यर्थः।

(2) अभिधाने निरुपाख्यत्वव्याघातः, अनभिधाने नैयायिकाऽभिमतसोपाख्यकारणत्वसिद्धिरिति विवेकः।

(3) 'तथापि'-इत्यस्य 'यद्यपि स्वविशिष्टे स्वं वर्तते एव' इति दूरव्यवहितेन यद्यपि शब्देनाऽन्वयः।

(4) जात्यात्मकसत्ताविरहिणीत्यर्थः।

(5) तथा सतीति। यथा 'घटः सन्'-इत्यत्र घटसत्त्वयोः सामानाधिकरण्योपलम्भाद्घटः सत्त्वाश्रयोऽस्ति, तथा 'घटोऽसन्'-इति सामानाधिकरण्योपलम्भादसन् घटोऽपि स्वीकार्यः, अन्यथा 'घटोऽसन्'-इति सामानाधिकरण्यमेव न स्यादिति प्रगल्भादिसंमतोर्थः। विद्यासागरास्तु "अप्रसिद्धप्रतियोगिकनिषेधायोगादसतः प्रतिषेधप्रतियोगित्वेनाऽसन् घटादिरेष्टव्यः"-इत्याहुः। तत्र मन्ये प्रगल्भोक्तोऽर्थे मूलस्याऽपिशब्दस्यैवकारार्थकत्वकल्पनाप्रयुक्तगौरवाद्विद्यासागरोक्तमेवरम्यमिति।

दित्वात् । [b]अथ सदपि सत्तामनन्तर्भाव्य कारणं, तदानीमसदपि तत्तथास्तु, सत्त्वासत्त्वयोः कारणकोट्यप्रवेशाऽविशेषात् । [c]अथ*न सत्ता कारणकोटिनिविष्टा, किन्तु कारणत्वं सत्त्वं, नियतपूर्वसत्तां हि कारणतां मन्ये*?-इति मन्यसे, [d]तर्हि मत्पक्षेऽपि सैव कारणतास्तु ।*[e]तर्हि कारणस्य सत्तामभ्युपगतवानसीति घट्टकुट्यां(१)प्रभातम् *?-इति चेन्न, भावाऽनवबोधात्,

टी० घटस्य च निरूप्यमाणं घटस्वरूपसत्त्वं घट एव पर्यवस्यति, तथाच घटः=कारणमित्यायातम्, असन्नपि घटो घट एव,-इति मत्पक्षात् त्वत्पक्षे न कश्चिद्विशेष इत्याह-। [a]"किञ्च" इति । यद्यपि च स्वरूपं सदिति पारमार्थिक(२)मभिमतम्, अयमेव च त्वत्पक्षाद्विशेषः, त्वया दण्डादीनामपारमार्थिकत्वाङ्गीकारात्, तथापि पारमार्थिकत्वखण्डने हृदयम् ॥ श्लोकद्वितीयार्द्धं व्याचष्टे-। [b]"अथे"ति । सत्ताया इवाऽसत्ताया अपि कारणकोट्यप्रवेशादसत्कारणवादित्वादुभयमपि नोपालभ्यः, यतो दण्डादिः कारणमित्यावयोः समानोऽभ्युपगमः, सच सन्नसन्वेति क्रमेण विचारणीयमित्यर्थः ॥ ननु सत्ताघटितं कारणत्वं न ब्रूमः, किन्तर्हि? सत्तैव कारणत्वमिति, तथाच कारणत्वमभ्युपगच्छता त्वया सत्ताप्यङ्गीकर्त्तव्येति शङ्कते-। [c]"अथ ने" ति ॥ ममापि नियतपूर्वसत्त्वमेव कारणत्वमिति परिहरति-। [d]"तर्ही"ति ॥ ननु कारणत्वं कारणानां धर्मः, स चेत्सत्ता, तदा सन्त एव दण्डादयः कारणानि, नाऽसन्तः, इति पर्यवसितं विवादेनेत्यत(३) आह-। [e]"तर्ही"ति ॥

---

(१) शौल्किकभयाच्चर्यायां मार्गान्तरेण गच्छतः स्थपितनिशस्य घट्टकुट्यां=शुल्कशालायां, यथा प्रभातं कस्यचिद्वञ्चकस्य तथा तव सत्त्वापत्तिभयाद्भावान्तरेण वञ्चयतोपि सद्वाद आपन्न इत्यर्थः । विद्या० ।

(२) पारमार्थिकमित्यत्र 'स्वरूपम्'-इति शेषः ।

(३) इति पूर्वपक्षिणः शङ्कामनूद्य 'भावानवबोधात्' इत्यन्तं सिद्धान्त्याहेत्यर्थः वस्तुतस्तु अत्र 'इत्याह'-इत्येव पाठ उचितः, पूर्वपक्षस्यैव प्रथममुपस्थितत्वात्, अतो न क्लिष्टकल्पनं दोषः, पाठान्तरं तु लेखकप्रमादात् ।

मू० [a] सत्तामसतीमभ्युपगच्छतापि सत्ता मयाऽभ्युपगतैव, अन्यथा कासावसतीति(१)। [b] त्वमपि किं सत्तां तत्सत्तामन्तर्भाव्य कारणत्वमिच्छसि? नत्वेवं(२), पूर्वपक्षापिसत्तात्यागो वा अनवस्थायां वा पर्यवसानं स्यात्। [c] *असत्त्वाविशेषात् कारणनियमः कथं स्यात्*?–इति चेन्न, [d] सत्त्वाविशेषेपि तुल्यत्वात्। [e] *सत्त्वेऽस्त्यन्वयव्यतिरेकानुविधानं, तस्य, तज्जातीयस्य वा, त्वत्पक्षे त्वसत्त्वाऽविशेषाद्व्यतिरेकः, परं सोऽप्यनियतः, यदा कारणाऽभावस्तदा कार्य्याभावावश्यम्भावानभ्युपगमात्, नित्याऽसतः कारणस्याऽसत्त्वे एव कदाचित्कार्य्यो(३)त्पादात्, अन्वयस्तु न क्वचिदपि*?–इति चेत् [f] न, तुल्यत्वात्।

टी० भावमाविष्करोति–। [a] "सत्तामि"ति। न वयमसतीमपि सत्तां नाभ्युपेमः, किन्तर्हि? सती(४)म्, अन्यथा किमुद्दिश्याऽसत्त्वमपि मया विधेयमित्यर्थः॥ त्वयापि या सत्ता कारणत्वेनाभ्युपेयते सा स्वान्तर्भावेणैव कारणत्वं वाच्यम्, स्वविशिष्टा च सा त्वन्मतेऽप्यसत्त्येव, यदि च(५)स्वात्मानं तटस्थीकृत्य सा सत्ता कारणत्वं तदा तया सत्तया तटस्थया कार-

(१) केषुचित्पुस्तकेषु 'इति'–शब्दो न दृश्यते।

(२) विद्यासागरोक्तव्याख्यानाऽनुरोधेन नत्वेवमित्येतत्स्थाने 'नन्वेवम्'–इति पाठः, यतस्ते व्याचख्युः "अङ्गीकरोति मद्वादी नन्विति"–इति। प्रकृतशाङ्करव्याख्यानुरोधेन तु नत्वेवमित्यतोऽग्रेऽग्रिमग्रन्थयोजनासौकर्य्यार्थं 'तथा सति'–इति शेषः पूरणीयः

(३) यद्यपि कार्य्योत्पादकालेपि कार्य्यस्य परमार्थतोऽसत्त्वमेवेति व्यतिरेकोऽबाधितस्तथाप्यभिप्रायमविदुषः शङ्का ज्ञातव्या।

(४) 'किं तर्हि? सतीम्"–इत्यत्रापि 'नाभ्युपेमः'–इति सम्बन्धनीयम्।

(५) तटस्थीभूतसत्ताया अपि सद्व्यवहारप्रयोजकत्वमङ्गीकृत्याह–यदिचेति। "सत्तैव तु नसती"ति, कारणत्वात्मिका सत्तैव तु न तटस्थीभूतसत्तान्तरवतीत्यर्थः। कारणता सती निर्वहेदित्यत्र केचित् 'कारणता असती निर्वहेदि'ति पदं छिन्दन्ति। तत्र"नवा स्वस्य तटस्थीकरणे कारणत्वं सत्त्वं निर्वहेत्"–इत्यव्यवहितोत्तरग्रन्थेन पौनरुक्त्यापातादिति।

यता सती निर्वहेत्, सत्तैव तु न सती, तस्याः सत्तान्तराभावात्, भावे वा पुनरपर्य्यवसानं स्यात्, नवा स्वस्य तटस्थीकरणे कारणत्वं सत्त्वमिति निर्वहेदित्याह—। [b] "त्वमपी"ति ॥ ननु यद्यसत्कारणं तदेदं कारणमिदमकारणमिति किंकृतो नियमः? इत्याह—। [c] "असत्त्वे"ति ॥ त्वन्मतेऽपि कारणाऽकारणविभागोऽनुपपन्नः, सत्त्वाऽविशेषादित्याह—। [d] "सत्त्वे"ति ॥ ननु सतः कारणत्वे दण्डजातीये सति घटः, व्यतिरेके च तस्य घटजातीयस्य व्यतिरेकः,—इत्यन्वयव्यतिरेकौ कारणताग्राहकौ सम्भवतः, नासतः कारणत्वे ताविति शङ्कते—। [e] "सर्वत्रे" इति ॥ यथा सतोऽन्वयव्यतिरेकौ तथैवासतोऽपि, परन्तु निरूप्यमाणौ ता(१)वप्यसन्तौ पर्य्यवस्यतः,—इत्यन्यदेतदित्याह—। [f] "न तुल्यत्वादि"ति ॥

मू० [a] अन्वयो नास्तीत्यभ्युपगच्छताप्यन्वयोपगमात् । [b] अन्वयस्यापि(२)सत्तान्तर्भावने कथितदोषापत्तेः । [c] एतेन "आशामोदकतृप्ता ये, ये चोपार्जितमोदकाः । रसवीर्य्यविपाकादि, तुल्यं तेषां प्रसज्यते"—इत्यस्यापि बाधकत्वमाशामोदकापत्ते, [d] सत्तान्तर्भावाऽनन्तर्भावाभ्यां प्रत्यादेशात्, [e] आशामोदकादिनापि च रसवीर्यविपाकादिजननात् । * तदसत्कथं कार्य्यं स्यात् *?—इति चेन्न, [f] सत्तामन्तर्भाव्य कार्य्यत्वोपगमे कारणवत्कार्य्येऽपि उक्तदोषस्य, अनन्तर्भावे वाऽविशेषस्य, पूर्ववदावृत्तेः ।

टी० किञ्च । 'असतान्वयो नास्ति'—इति वदता त्वयाऽन्वयो निषेध्यत्वेनाप्यभ्युपगम्यत एवेत्याह—। [a] "अन्वय"इति ॥ ननु तथापि सन्नन्वयो नास्ति, स च प्रयोजकः? इत्यत आह—। [b] "अन्वयस्यापी"ति । अन्तर्भावितसतश्चेदन्वयो न स संस्तुतः । नान्तर्भावितसतश्चेदन्वयो न स संस्तुतः"—इति दोषापत्तेरित्यर्थः ॥ ननु यद्यसत्कारणं तदा भोजनेऽभोजने

(१) तावपि = सतोऽप्यन्वयव्यतिरेकावित्यर्थः ।
(२) अन्वयस्यापि कुतो सत्तावच्छेदने इत्यर्थः ।

च रसवीर्य्यादितौल्यं स्यादित्यत आह—। [c]"एतेने"ति । आशा=प्रत्याशा, मनोरथ इति यावत् । उपार्जनं=भक्षणम् । रसः=आद्यो धातुः । वीर्य्यं=बलं, चरमधातुः । विपाकः=परिणामः लौहित्यमिति यावत् । 'रसो(१) मधुरादि, रित्यादि व्याख्यानमयुक्तं, तस्य भोजनाऽजन्यत्वात् । आदिपदादिन्द्रियपाटवादिग्रहणम् ॥ एतेनेत्यस्याऽतिदेश्यमाह । [d]"सत्ते"ति । सतः कारणत्वमभिप्रेत्य बाधोयं भवताभिधीयते, तच्चा(२)न्तर्भावितसत्त्वं चेदित्यादिना पूर्वमेव निरस्तमित्यर्थः ॥ भोजनाऽभोजनयोस्तुल्यत्वापादनमिष्टापत्त्या निरस्यति—। [e]"आशामोदके"ति । भोजनेप्यसन् रसादिरभोजनेपि तथेति तौल्यमेवेत्यर्थः ॥ [f]"सत्तामि"ति । अन्तर्भावितसत्त्वं चेत्कार्य्यं स्यात्तदसत्तः । नान्तर्भावितसत्त्वं चेत्कार्य्यं स्यात्तदसत्तः"—इति दोषापत्तेरित्यर्थः । दृष्टं च गुञ्जापुञ्जस्थले असता हुताशनेनाऽसतः शीतापनोदस्योत्पत्तिर्वानराणाम्, असत्यैव च मत्तकाशिन्या(३)सम्भोगसुखमसदेव स्वप्ने सुप्तानामिति भावः । यद्वा, ननु प्रागसतः सत्त्वं कार्यत्वम्, इति कार्य्यसत्तावश्यमङ्गीकार्य्येत्यत आह—। "सत्तामि"ति । यथा नियतपूर्वसत्त्वं कारणत्वमित्यत्राऽसती सत्ताऽभ्युपगता, तथा कार्य्यसत्तामप्यसतीमङ्गीकृत्यैतन्मया समाधेयमित्यर्थः ॥

मू० [a] तस्मात्

पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्यएव नौ (४) ।
हेतुतत्त्वबहिर्भूतसत्त्वाऽसत्त्वकथा वृथा ॥ ५ ॥

[b]आस्तां प्रतिबन्दिग्रहाऽऽग्रहः (५), कथं पुनरसतः

---

(१) विद्यासागराद्युक्तं व्याख्यानमाक्षिपति-रसोमधुरादिरिति ।

(२) तच्च = सतः कारणत्वं च ।

(३) मत्तकाशिनी = उत्तमस्त्री, "वरारोहा मत्तकाशिन्युत्तमा वरवर्णिनी"—इति कोशात् ।

(४) नौ = आवयोः सदसद्वादिनोः, हेतुत्वे कार्य्याऽव्यवहितपूर्वक्षणसम्बन्धनियमे तुल्ये सति 'सतः कारणत्वं, नाऽसतः'-इति हेतुत्वाऽनुपयोगिनो सत्त्वाऽसत्त्वचिन्ता वृथेत्यर्थः ।

(५) प्रतिबन्दिग्रहे = प्रतिबन्दिग्रहणे, भवतां य आग्रहः स आस्तामित्यर्थः । क्वचित्तु 'प्रतिबन्दिग्रहग्रहः' इति पाठस्तत्राप्ययमेवार्थः ।

कारणत्वमवसेयम् प्राक्सत्त्वनियमस्य विशेषस्यानभ्युपगमात्, असत्त्वस्य चाऽविशेषात् *?–इति चेन्न "इदमस्मान्नियतप्राक्सदि"ति बुद्ध्या विशेषात् ।[d] * भ्रान्तै(१)वंबुद्धिगोचरेऽतिप्रसङ्गः * ?–इति चेन्न,

टी० न सत्कारणं, नाप्यसत्कारणं, किन्तु नियतपूर्ववर्त्ति कारणं, तच्च यथा सत्, तथा असदपि, इति सदेव कारणमिति त्वत्कथावत् असदेव कारणमिति मत्कथाप्याऽऽपातता वृथा, विचारस्तु करिष्यते इत्युपसंहरति–[a]"तस्मादि"ति ॥ ननु, असत्त्वाविशेषात्कारणनियमः कथं स्यात्?,–इति मदुक्ते 'सत्त्वाविशेषेऽपि तुल्यत्वात्'–इति तु त्वया प्रतिबन्दिः कृता, प्रतिबन्दिश्च न दूषणम्, इत्यसतः कारणत्वं प्रमापकाभावादनुपपन्नमेवेति शङ्कते–।[b] "आस्तामि"ति । यद्वा "पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्यएव नौ"–इति साम्यमात्रं त्वयोक्तम्, तच्चानुपपन्नं, सत्त्वासत्त्वपक्षे ग्राहक(२)सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यां विशेषादिति शङ्कते–। "आस्तामि"ति । प्राचि काले सत्त्वं कारणत्वं ग्राह्यं, तदस्मन्मतेऽस्ति, त्वन्मते तु सर्वदैवासत्त्वम्, इति प्राचि काले सत्त्वं ग्राह्यं नास्त्येव किं गृह्येतेत्यर्थः ॥ ग्राह्यानुपपत्त्या ग्राहकाऽनुपपत्तिर्न भवत्यसत्यपि दण्डादौ घटप्राक्सत्त्वबुद्धिसम्भवात्, शुक्तौ रजतत्वबुद्धिवत्, सा बुद्धिर्दण्डचक्रादावेव न तु रासभादावपि, येन तत्रापि घटकारणत्वं व्यवह्रियेतेति परिहरति–।[c] "ने"ति ॥ रासभादावपि कदाचिदेवंबुद्धिसम्भवाच्च हि भ्रान्तिहेतवोऽपि केनचिन्नियम्यन्ते इति तस्यापि घटकारणत्वतद्व्यवहारयोः प्रसङ्ग इत्याह–।[d] "भ्रान्तैवमि"ति ॥

मू० "यादृश्या हि धिया त्रिचतुरकक्षाबाधाऽनवबोधविश्रान्तया वस्तुतत्त्वनिश्चयस्ते, तादृश्यैव विषयीकृतस्य

(१) भ्रान्तस्य 'रासभः' घटनियतपूर्ववृत्तिः'–इत्येवंभूतबुद्धिगोचरे रासभादौ कारणत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः ।

(२) ग्राहकौ=कारणताग्राहकावन्वयव्यतिरेकौ, तत्सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यामित्यर्थः, सत्त्वपक्षे ग्राहकयोरन्वयव्यतिरेकयोः सत्त्वं, नाऽसत्त्वपक्षे इति विभागः ।

ममापि कारणतानिश्चयः (१), [b] केवलं ततः परासु अपि कक्षासु बाधात्पूर्वभ्रान्तिसम्भवेन न तावता सत्त्वावधारणं वयं मन्यामहे—इति विशेषः, [c] परदर्शनसिद्धान्तस्य भूरिकक्षाधाविनोऽपि ततः परकक्षाबाध्यमानत्वेनाऽन्तथाभावोपगमात्। [d] अन्यथैकदर्शनपरिशेषः स्यात्।

टी० कारणाकारणयोरेवंबुद्धिसम्भवेऽपि कारणे झटिति बाधानवतारोऽकारणे तु झटित्येव बाधावतारः, इत्यवतीर्णबाधाऽनवतीर्णबाधबुद्धिकृतो विशेष इत्याह—। [a] "यादृश्ये"ति ॥ ननु यद्यनवतीर्णबाधया धिया प्राक्सत्त्वं विषयीकृतं, तदा तत्पारमार्थिकमभ्युपगन्तव्यं त्वयैवेत्यत आह—। [b] "केवलमि"ति। आपाततोऽबाधविशेषमात्रमाचक्ष्महे, पर्यन्तत(२)स्तत्रापि बाधाऽवतार एवेति न वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिरिति भावः। यद्यपि क्रमेणापि बाधितया धियाऽबाधितया वा बाधः?। आद्ये न (३) क्षतिः, अन्त्ये तदबाधो वस्तुतत्त्वाधीन एव त्वया वाच्य इति सिद्धं वस्तुतत्त्वम्। * न च तत्रा(४)प्यबाधितबुद्धिविषयत्वमेव शरणं *, तत्राप्येतद्विकल्पाऽवतारात्। किन्त्वाऽन्यथात्वबोधनं बाधः? अन्यथात्वप्रमापणं वा?। आद्ये बाध्यापि(५) बुद्धिर्बाधिका स्यात्, अन्त्ये तत एव वस्तुव्यवस्थितिः, तथापि सर्वोऽयं विशेषो बुद्धिकृतो न वस्तुकृत इति भावः ॥ नन्वापाततश्चेदबाधस्तदा तावतातत्र क्रमिकबाधाऽभावोऽप्युन्नेष्यते(६)इत्यत आह—। [c] "परदर्शने"ति।

(१) 'असति दण्डादौ' इति शेषः।

(२) पर्य्यन्ततः=अन्ततोगत्वा, तत्त्वज्ञाने सतीति यावत्। तत्रापि=आपाततोऽबाधितबुद्धिविषयेऽपि। बाधावतार इत्यत्र क्रमेणेति शेषः।

(३) न क्षतिः, बाधिकाया धियो बाधे प्रपञ्चेऽबाध्यत्वस्यैव विश्रामात्।

(४) तत्रापि=अबाधितबुद्धावपि, द्वित्रिचतुरकक्षास्वबाधितबुद्धिगोचरत्वलक्षणमेवाऽबाधितत्वं, पर्य्यन्ततस्तत्रापि बाध एवेत्यर्थः।

(५) बाध्यापि 'इदं रजतम्'--इत्याकारिका बुद्धिः शुक्तिज्ञानस्य बाधिका स्यात् अन्यथात्वबोधनस्य तत्र सत्त्वादित्यर्थः।

(६) उन्नेष्यते=अनुमास्यते, तथाहि—उत्तरोत्तरबुद्धिविषया घटादयो ऽबाध्याः, विषयत्वात्, द्वित्रिचतुरकक्षाऽबाधितबुद्धिविषयघटादिवदिति।

शब्दनित्यत्वे मीमांसकाभिमते नैयायिकस्य त्रिचतुरकक्षाबाधाऽनवतारेपि क्रमबाध्यत्वस्वीकार इत्यर्थः, तथाच-यथा कतिपयकक्षायां बाधविरहाऽधीनोऽभ्युपगमोऽभ्युपगम्यमानो वार्थः सिद्धान्त(१)स्तथा कारणत्वाऽकारणत्वव्यवस्थितिरपि तावतैव (२), नतु सर्वप्रकाराऽबाध्यतयेति भावः ॥ ननु तथैव (३)किं नस्यादित्यत आह-। [d] "अन्यथे"ति । सर्वप्रकाराऽबाध्यत्वनिबन्धनश्चेत्सिद्धान्तस्तदैक एव सिद्धान्तो भवेत् सर्वेषां दर्शनानामिति सिद्धान्तभेदकृतो दर्शनभेदोपि न स्यादित्यर्थः । यद्वा त्रिचतुरकक्षाबाधवैधुर्यमात्राद्यदि पारमार्थिकत्वं मनुषे, तदा सर्वदर्शनसिद्धान्तः पारमार्थिक एवेति पारमार्थिकत्वाऽपारमार्थिकत्ववैमत्यनिबन्धनो दर्शनभेदो न भवेदित्यर्थः । *ननु सर्वबाध्यत्वेपि दर्शनभेदोऽनुपपन्न एव*? मैवम्, मद्दर्शनस्याऽबाध्यत्वात्, तथाच-वक्ष्यामः (४) "तत्त्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भूत्वे"तीति भावः ॥

मू० [a] एतेन 'असत्त्वाविशेषेपि कथं कस्यचित्पक्षस्य त्रिचतुरकक्षाबाधावित्वाऽधावित्वमास्ताम्'-इत्यपि निरस्तम् । [b]*अनेवंबुद्धिविषयतादशायां को विशेषः*?-इति चेत्, 'यदाकदापि तादृशबुद्धिविषयतैव ।

टी० ननु रासभे घटप्राक्सत्त्वज्ञानवद्दूषणेऽपि चेत्तद्बाध्यमेव तदा त्रिचतुरकक्षाबाधितत्वाऽबाधितत्वलक्षणोपि विशेषो न भवत्येवेत्यत आह-। [a] "एतेने"ति । शुक्तौ रजतत्वज्ञानस्य, शब्दे नित्यत्वज्ञानस्य च, बाध्यत्वाऽविशेषेपि त्वयाप्येतादृशस्यार्थनियमस्याऽभ्युपगमेनेत्यर्थः । यद्वा परकीयसर्वसिद्धान्तानां बाध्यत्वे बहुकक्षाबाधावित्वाऽभावित्वविशेषः किं निबन्धनः? इत्यत आह-। "एतेने"ति । परसिद्धान्तस्थले रजतज्ञाने च त्वयाप्येतादृशस्य विशेषस्याऽभ्युपगमेनेत्यर्थः ॥ ननु कारणाऽकारणयो

(१) सिद्धान्त इत्यत्र मीमांसकस्येति शेषः ।
(२) तावतैव = त्रिचतुरकक्षास्वबाध्यतयैव ।
(३) तथैव = सर्वप्रकाराऽबाध्यतयैव सिद्धान्तः किं न स्यादित्यर्थः ।
(४) षड्विंशतितमकारिकायां वक्ष्याम इत्यर्थः ।

कार्यप्राक्कालसत्त्वासत्त्वे यदि न वस्तुनी, किंतु बुद्धिमात्रकृते, तदा तादृशबुद्ध्यभावकाले कारणस्याऽकारणाद्विशेषो न भवेदित्याशङ्कते—। [b]"अनेनेमि"ति । इदमस्मान्नियतप्राक्सदिति बहुकक्षाधाविनियतबुद्धिविषयत्वाऽत्यन्ताभावाऽनधिकरणत्वमेवाऽकारणात्कारणस्य विशेष इति परिहरति—। [c]"यदाकदापी"ति । यद्यपि यस्यकस्यचिद्रासभेपि तादृशबुद्धिविषयत्वमिति सोप्येवं कारणं स्यात्, कारणेपि च कस्यचित्तथमबुद्ध्येव कारणत्वव्यवहारो, नाऽनेककक्षाधाविधिया, अन्यस्याऽनेककक्षाधाविबुद्धिविषयत्वसत्त्वेप्यन्यस्य तदज्ञानात्कारणत्वव्यवहारो न स्यादितिकारणत्वं वस्तु स्वीकर्तुमर्हति, तथापि तादृशी(१)बुद्धिः तद्व्यवस्थापिकेति तथापि दुर्घटमिति हृदयम् ॥

सू० [a]अन्यथा कथय कथम् अन्यदातनतादृशबुद्धि विषयतयाऽन्यदा सत्त्वं स्यात् । [b]*तदा सत्त्वमन्यदास्थे न गृह्यते*?—इति चेत्, [c]अन्यकालिकमेव तर्हि तत् तदातनकारणत्वोपयोगी ति समानम् । [d]तदेतत्संवृतिसत्त्व(२)मिति गीयते । [e]असती सा न विशेषिका, सती सा नेष्टा,—इत्यभिसन्धानेन संवृतिरपि सती नैवेति पृच्छन्(३)प्रतिवक्तव्यः, [f]विज्ञानं तावद्व्यवहारोपपादकतया द्वाभ्यामप्यनुमतं, तस्यापि जिज्ञासायां त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तगवेषणस्य यदि सत्तोपपन्ना भविष्यति तदा सता [g]तेनेदमुपपादितं भविष्यति,

(१) तादृशी बुद्धिः = इदमस्मान्नियतप्राक्सदित्येवंभूता बुद्धिः, तद्व्यवस्थापिका=इति दण्डादौ कारणत्वव्यवस्थापिका,—इति तथापि दुर्घटमित्यर्थः ।

(२) संव्रियतेऽनयेति संवृतिरविद्या, असत्प्रकाशनशक्तिरिति यावत्; तथा च संवृतिसत्त्वमित्यस्याऽऽविद्यकं सत्त्वमिति पर्य्यवसितोर्थः ।

(३) 'पृच्छन्'-इत्यस्य यथाकथञ्चित् प्रतिक्षिपन्नित्यर्थः, कतिपयपुस्तके तु'सतीनैव'-इत्यस्य स्थाने'सती न वा'-इति पाठः, तत्र तु पृच्छन्नित्यस्य यथाश्रुत एवार्थः ।

टी० [a]"अन्यथे"ति । यद्याकदाचित्तादृशबुद्धेरतन्त्रत्वे तथापि तादृशबुद्धिविरहदशायां प्राक्सत्त्वस्य वस्तुनः कथं सिद्धिरित्यर्थः ॥ तादृशबुद्ध्यभावदशायामपि कारणत्वमन्यदाऽस्येन तादृशबुद्धिविशेषेण गृह्यते इति शङ्कते--। [b]"तदा सत्त्वमि"ति ॥ यथाऽन्यकालीनं तादृशज्ञानमन्यकालीनमपि कारणत्वं व्यवस्थापयति तथाऽन्यकालीनमपि तादृशबुद्धिविषयत्वमन्यकालीनस्यापि कारणत्वं भविष्यतीति परिहरति-। [c]"अन्यकालिकमेवे"ति ॥ ननु तवैवेयं कल्पनेत्यत आह-। [d]"तदेतदि"ति । संवृतिस्तावत्सती, तया स्वकीयेन सत्त्वेन स्वविषयस्याऽसत्त्वं संव्रियते इति संवृतिसत्त्वं परेऽपि मेनिरे, यदाहुः-"पररूपं स्वरूपेण यया संव्रियते धिये"ति भावः ॥ "इदमस्माच्चियतप्राक्सदिति बुद्ध्या विशेषात्"-इत्युक्तं, तत्राऽसती बुद्धिर्न विशेषिका, सती च नेष्टा, द्वैतापत्तेरिति वस्तुतत्त्वमेवाङ्गीक्रियतां किं संवृतिसत्त्वेनेत्यत आह-। [e]"असती"ति ॥ प्रतिवचनमाह-। [f]"विज्ञानमि"ति । यद्यपि विज्ञानमपि विषयाङ्कितमतस्तदभ्युपगमे एवविषयाऽभ्युपगमः, निर्विषयस्य विज्ञानस्याऽभावाद्व्यवहारानुपपादकत्वाच्च; तथाच-व्यवहाराऽनुरोधश्चेत्तदा ज्ञानविषययोस्तुल्ययोगक्षेमत्वमेव, तथापि व्यवहारानुरोधोऽपि मया त्यज्यते एवेति हृदयम् ॥ [g]"तेने"ति । विज्ञानेनेत्यर्थः ॥

मू० अथाऽसत्ता तस्य पर्य्यवसास्यति तदाऽसतैव तेनेदमुपपाद्यते-इति स्वीकर्त्तव्यम्, [a]भ्रमविषयेणेव भ्रमे विशिष्टताव्यवहारः । अविचार्य्यैव तावत् [b]तस्य सदसत्त्वं विचार आरब्धव्यः । [c]अन्यथा प्रथममेव मतिकर्दमे (१) कथाऽऽरम्भणमशक्यमापद्येत, [d]स्वीकृतं च भवतापि भविष्यदादिविषये विज्ञाने विशिष्टव्य-

(१) मतिकर्दमे=विचारेऽपि विचारस्तत्रापि विचार इत्यनवस्थानात् मतिकालुष्ये सति, पङ्कमग्नहस्त्यादिवत्ततो द्रुतं निर्गमनाऽसम्भवात्कथारम्भ एव न स्यादित्यर्थः।

**वहारनिदानत्वमसतो विषयस्य, ^e^कारणशक्तेश्च विशेषकमसदेव कार्य्यम् ।**

टी० [a]"भ्रमे"ति । यथाऽसदेव रजतं स्वविषयं ज्ञानं विशेषयति—रजतीयं ज्ञानम्' इति, तथा बुद्धिरप्यसती विषयं विशेषयति—"इदमस्मा-द्वियतप्राक्सत्" इति बुद्धिविषयत्वमेव कारणत्वमित्यर्थः । यद्यपि भ्रम विषयोपि सन्नेव(१) तथा च न दृष्टान्तः, तथाप्यसत्ख्यात्यभिप्रायेणैतत् द्रष्टव्यम् ॥ [b]"तस्ये"ति । ज्ञानस्येत्यर्थः । यद्यपि विषयाऽसत्त्वं चेत्तदा ज्ञानसत्तासन्देहस्थिता(२) अपि न विचारप्रयोजनं, तथापि ज्ञानसत्तासन्देहाऽऽवर्जितो विषयसत्तासन्देहोस्त्येवेति न विचारवैयर्थ्यमिति भावः ॥ "अन्यथे"ति । यदि प्रथममेव ज्ञानसदसत्त्वं विचारणीयमित्यर्थः । यद्यपि तत्राऽयं मतिकर्दमः, न तु ममापि, ज्ञानविषययोर्द्वयोरपि सत्त्वेनैवाभ्युपगमात्, न वा त्वया सह कथारम्भणमुद्दिश्यमपि, तथापीयमेव कथा तथ-पति न स्यादिति हृदयम् ॥ भवतु वेदानीमेव संवृतेरसत्त्वपरिच्छेदः तथापि तस्या विषयविशेषकत्वं स्यादेव, भवति हीदानीमसत्त्वेनैव परिच्छिन्नेन भाविना पुत्रेण "मम पुत्रो भविष्यति" इति ज्ञानस्येदानींतनस्य वशिष्टत्वव्यवहार इत्याह— [d]"स्वीकृतं चे"ति ॥ असदन्तरस्य विशिष्टताव्यवहारहेतुत्वमुदाहरति- । [e]"कारणशक्तेरि"ति । कारणशक्तिः=कारणत्व(३) तच्च सदेव कार्यं विशेषयति, भवति हि 'घटकारणं दण्डः'-इति विशिष्टव्यवहार इत्यर्थः ॥

---

(१) असत्ख्यात्यादिवादिमते ।

(२) ज्ञानसत्तासन्देहस्थितौ=ज्ञानसत्तासन्देहनिवृत्यर्थं विचारे क्रियमाणे, विषयस्याऽसत्त्वे विषयसिद्धिलक्षणं विचारप्रयोजनं न, तथापि परमार्थतो ऽसत्त्वेपि विषयस्य ज्ञानसत्तासन्देहावर्जितः=ज्ञानसत्तासन्देहाधीनो विषयसत्तासन्देहोऽस्त्येवेति तन्निवृत्त्यर्थत्वाद्विचारस्य न वैयर्थ्यमित्यर्थः ।

(३) न्यायनयेऽतिरिक्तशक्त्यभावात् "कारणशक्तिः=कारणत्वम्"-इत्युक्तम् । "तच्चे"ति । तदिति द्वितीयैकवचनम् ।

मू० * [a]नच कालान्तरसम्बन्धिनी सत्ता तस्यैकत्र, अन्यत्र नाऽन्यदापि,—इति वैधर्म्यमेतयो(१)रपीति वक्तव्यम् । [b]विशिष्टव्यवहारप्रवृत्तिसमये [c]द्वयोरप्यसत्त्वाऽविशेषात् । प्रयोजनाऽनुपयुक्ते काले तस्य स्वरूपतोऽवस्थानं पाटच्चर(२)लुण्ठिते वेश्मनि यामिकजागरणवृत्तान्तमनुहरति । * [d]तथापि कालान्तरस्थित्या घटादिकं स्वरूपतो (३) विशेषणतश्च व्यवच्छिन्नं तद्विज्ञानेन [e]स्वभावबलात् स्वविशेषणत्वेनोपादीयते, नत्वेवमत्यन्ताऽसङ्कवितुमर्हति, तस्य [f]स्वरूपतो विशेषणतश्च व्यवच्छिन्नतयाऽनङ्गीकारात्; [g]कुत्र(४)स्वभावतो विज्ञानं सम्बन्धि निरूप्येत* । न, [h]उक्तमत्राऽसतोपि हि तदेव स्वरूपं, तस्य नियतस्वरूपस्यैव नियतविशेषणस्यैवासत्त्वात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् ।

टी० ननु भविष्यदादेः कार्यस्य स्वकाले सत्त्वमस्त्येव अतस्तयोर्विशेषणत्वमुचितं, ज्ञानविषययोस्तु सार्वदिकमसत्त्वमिति नाऽन्योन्यं विशेषणविशेष्यभाव इत्याशङ्क्याह—। [a]"नचे"ति ॥ असत्ताविशिष्टताव्यवहारस्त्वयाऽभ्युपगम्यते एव, तावतैव सिद्धं नः समीहितमित्याह—। [b]"विशिष्टे"ति ॥ [c]"द्वयोरि"ति । भविष्यदादिकार्ययो(५)रित्यर्थः ॥ ननु यस्याऽऽत्यन्तिकमसत्त्वं तस्य विशेषणत्वं विशेष्यत्वं वा न स्वीकुर्मः, भविष्यत्पुत्रादेः कार्यस्य च नात्यन्तिकमसत्त्वं, स्वकाले तयोः सत्त्वादित्याह—। [d]"तथापी"ति ॥

(१) एतयोः=दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः ।

(२) पाटच्चरेण=चौरेण, वेश्मन्यपहृतसर्वस्वे सति पूर्वापरकालयोर्यामिकस्य=यामरक्षकस्य, जागरणमिन्द्रियक्लेशायैव यद्वत्तद्वत्कार्यकालात्पूर्वापरकालयोः स्वरूपतोऽवस्थानमनुपयुक्तमित्यर्थः ।

(३) स्वरूपतः=पृथुबुध्नोदरत्वादेः, विशेषणतः=घटत्वादेरित्यर्थः ।

(४) 'कुतः' इति पाठे तु केन स्वभावेनेत्यर्थः कर्तव्यः ।

(५) भविष्यत्पुत्राद्यर्थघटादिकार्ययोरित्यर्थः ।

[e]“स्वभावबलादि”ति । भविष्यदाद्याऽऽलम्बनमपि ज्ञानं शब्दलिङ्गमहिम्ना जायत इति तादृशो विशेषस्तद्विशिष्टएवेत्यर्थः ॥ [f]“स्वरूपत” इति । विषयस्वरूपमपि त्वन्मतेऽत्यन्ताऽसद्विशेषणं, संवृतिरप्यत्यन्ताऽसतीत्यर्थः॥ उपसंहरति—। [g]“कुत्रे”ति । स्वभावतोऽपि ज्ञानमत्यन्तासद्विषयसम्बन्धि कथं भवेत्, तथा च त्वन्मतेऽत्यन्ताऽसतोर्ज्ञानविषययोर्न सर्वथा विशेषणविशेष्यभाव इति भावः ॥ [h]“उक्तमत्रे”ति । “नत्वसन् घटो न घटः” इत्यादिनेत्यर्थः । यथा कम्बुग्रीवादिविशिष्टो घटस्त्वया सत्त्वेनाऽभ्युपगम्यते तथैव मयाप्यसत्त्वेन, तादृशानङ्गीकारे तु स्यादतिप्रसङ्ग (१) इत्यर्थः ॥

**मू० [a]भ्रान्तिविषयेण दत्तोत्तरत्वाच्चेत्यलमतिप्रपञ्चेन (२) ।**

---

टी० ननूक्तम्—‘अत्यन्तासतो न विशेषणत्व’मत आह—। [a]“भ्रान्ती”-ति । यद्यपि घटज्ञानादीनामसत्त्वं न तावदभावप्रतियोगित्वम्, दृष्टत्वात्(३); नापि केवला(४)न्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं, स्वसमवायिनि स्वकाले च सत्त्वात्; नापि सत्तासामान्यरहितत्वं, सत्तावत्तयैव प्रतीयमानत्वात्; नापि विधिनिषेधव्यवहाराऽभाजनत्वं, तदुभयभाजनत्वेन त्वयाऽभ्युपगमात्; अन्यथा व्याघातात्; नापि ब्रह्मभिन्नत्वम्, इष्टत्वात्; नाप्यभावत्वं, विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वात्; नापि मिथ्यात्वं, तच्चाप्रामाणिकत्वं, तदप्रमाणविषयत्वव्यवस्थापनयैव निरस्यं; नापि(५) मिथ्यापदाभिधेयत्वम्,

---

( १ ) अतिप्रसङ्गः=घटसत्त्वस्याप्यभावप्रसङ्गः, यद्वा, ‘असन्, घटो न’ इत्यस्याप्यभावप्रसङ्गः, अलीकप्रतियोगिकनिषेधाऽयोगात् ।

( २ ) तदेवं शून्यतावादिमतमाश्रित्य दर्शितम् ।
मानमेयादिभावानामसत्त्वं व्यक्तयुक्तिभिः ॥ २ ॥
इदानीं ज्ञानभिन्नानामसत्त्वं सम्यगुच्यते ।
योगाचारोक्तरीत्येह चित्त्वं चाखण्डसंविदः ॥ ३ ॥

( ३ ) ध्वंसप्रागभावादिप्रतियोगित्वस्य नैयायिकानां प्रपञ्चे इष्टत्वादित्यर्थः ।

( ४ ) केवलान्वय्यत्यन्ताभावः=सार्वत्रिकः सार्वदिकोऽत्यन्ताभावः, तत्प्रतियोगित्वमित्यर्थः ।

( ५ ) क्वचित्पुस्तके ‘नापि’—इति न दृश्यते तदनुरोधेन ‘यदि स्वतो मिथ्यापदाभिधेयत्वम्’—इत्यन्वयः; यथादृष्टपाठे तु यदित्यतः प्राक् तच्छब्दमध्याहृत्य तद्यदि स्वतः’—इति अन्वययोजना कर्तव्या ।

द स्वतः(१), तदा स्वसङ्केतेन ब्रह्मण्यपि गतत्वात्; यदीश्वरसङ्केतेन, रा न घटादावपीति; * बाध्यत्वमसत्त्वम् * ?—इति चेत्, बाध्यत्वस्य ध्यत्वाऽबाध्यत्वाभ्यामनुपपत्तेः(२) ; बाधस्य च विपरीतप्रमात्वेन घटा-दनिरूपितवैपरीत्यस्य सिद्धौ, घटादिसिद्धेः(३);तदसिद्धौ, बाधाऽसिद्धेः(४); विचारासहत्वम् *?—इति चेत्, विचारस्य निर्विषयत्वेन दुर्विचारत्वात्; निर्विषयत्वेपि, विषयसिद्धेः ; * विचारविषयः सिद्ध एव किंत्वसन्*?—इति चेत्, असत्त्वस्यैव विचार्यमाणत्वात् ; *व्यावहारिकत्वमेवासत्त्वम्*?—इति चेत्, तद्यदि ज्ञानरूपव्यवहारविषयत्वं, तदेष्टापत्तिः, ब्रह्मणोप्येतादृश-स्यासत्त्वस्यत्वयेष्यमाणत्वात् ; अथ व्यवहारोऽभिलापस्तद्विषयत्वं, तदा सुतरामिष्टं, ब्रह्मसाधारणं च; *अनिर्वचनीयत्वम्*?—इतिचेत्, अनिर्वच-नीयतयैव निर्वचनीयत्वात् ; घटत्वादिना निर्वचनात्, निर्वचनीयत्वस्य केवलान्वयित्वेन तदभावासिद्धेः;*सत्त्वासत्त्वाभ्यां दुर्व्यवस्थापनम्*?—इति चेत्,घटादेरुभाभ्या(५)मपि व्यवस्थिततत्वात्,घटादेस्सत्त्वासत्त्वयोर्द्वयोरभ्युप-गमात्; किञ्च,असत्तया चेद्व्यवहारार्थक्रिययोर्याऽस्मदभ्युपगतयोरुपपत्ति-स्तदा सत्तेव त्वयाऽसत्तेत्यभिधीयते, तथाच नाम्नि परं विवादः ; तथापि(६) सत्त्वेनापाततो व्यवस्थापयितुमशक्यत्वमसत्त्वमिति भावः ॥

---

मू० "अपरे(७)पुनश्चेतसोपि शून्यताङ्गीकारे मनःप्रत्यय-मनासादयन्तः 'सर्वमिदमसदेव विश्वम्,-इत्यभिधातुं सहसैवानुत्सहमानाः मन्यन्ते-विज्ञानं तावत् 'स्वप्र-काशं, 'स्वत एव सिद्धस्वरूपं, 'न खलु विज्ञाने सति

(१) स्वतः स्वसङ्केतेनेत्यर्थः ।
(२) बाध्यत्वस्य बाध्यत्वे ऽबाध्यत्वमेव जगतो व्यवतिष्ठेत, अबाध्यत्वे तु तत एव द्वैतापत्त्यादिरित्युभयथाप्यनुपपत्तेरित्यर्थः ।
(३) प्रतियोगिविधया घटादिसिद्धेरित्यर्थः ।
(४) 'तदसिद्धेः', इत्यपि क्वचित्पाठस्तत्रापि बाधासिद्धेरित्येवार्थः ।
(५) उभाभ्यां = सत्त्वाऽसत्त्वाभ्याम् ।
(६) तथापीत्यस्य विप्रकृष्टेन "भ्रान्तौ" तिप्रतीकाग्रिमेण पर्यायशब्देनाऽन्वयः ।
(७) यद्यपि स्वमतमेवैतत्पश्चात् पर्यवसास्यति तथापि योगाचारमताधार-यवेनाऽभिधानात् 'अपरे तु'-इत्युक्तम् ।

जिज्ञासो(१)रपि कस्यचित् 'जानामि न वा'-इ
संशयः, 'न जानामि'-इति वा विपर्ययः, व्यतिरेकप्रमा
वा, तेन जिज्ञासितस्याऽतत्त्वज्ञानव्यतिरेकप्रमाणा
भावसमुदायः स्वव्यापकं जिज्ञासितस्य प्रमितत्वम
नयति। अन्यथा(३) हि जिज्ञासितप्रमितत्वव्यतिरे
व्यापकं जिज्ञासितव्यतिरेकोल्लेखि ज्ञानमविघ्नतजि
ज्ञासस्य स्यात्। अतः सर्वजनस्वात्मसंवेदनसिद्धं
वास्य बोधस्य स्वरूपम्।

टी० तदेवं माध्यमिकमतमाश्रित्य विश्वासत्त्वमुपपाद्य योगाचा
रमतमाश्रित्य ज्ञानभिन्नस्याऽसत्त्वमुपपादयितुमाह—। a "अपरे पुनरि"ति
b"चेतस" इति। ज्ञानस्येत्यर्थः॥ मनःप्रत्ययः=विश्वासः। अविश्वासे यु
युक्तिः,—यदि शून्यत्वं जगतो वास्तवं, तदा क्व शून्यत्वं, शून्यत्वस्यैव ध
र्मस्य सत्वात्, अथ शून्यत्वमवास्तवं, तदा पूर्णत्व(४)मेव। शून्यतायाश्च
स्वत एव सिद्धिः?, परतो वा?। आद्ये स्वप्रकाशतया ज्ञानस्वरूपैव शून्य
तेति; अन्त्ये शून्यतासाधकस्यैव सत्त्वान्न शून्यता। किञ्च, किं तच्छून्य
यस्य धर्मः शून्यता? मिथ्या वा? अलीकं वा? असद्वा? अनिर्वचनीयं वा?
विचारासहं वा? प्रपञ्चो वा? बाध्यं वा? तच्च सर्वमनुभवार्थक्रियाविरो-

(१) पथि गच्छतस्तृणादेः सर्वथा ज्ञानाभावदशायामजिज्ञासिते तृणादौ संशया-
धभावो हेतुर्दृष्टः प्रमितत्वलक्षणं साध्यं च नास्ति तद्वारणाय 'जिज्ञासो' रित्युक्तम्।

(२) योग्यानुपलब्धिजन्यमभावावगाहिज्ञानं व्यतिरेकप्रमा,—न जानाम्येवेति।
ननु विज्ञाने सत्यभावप्रमाप्रसङ्ग एव नास्ति किमिदमुच्यते "व्यतिरेकप्रमा वा न जाय-
ते"—इति, इति चेत्सत्यं, तथापि सतोऽप्रमितस्य जिज्ञासितस्य संशयविपर्ययान्यतरगोच-
रत्वं, जिज्ञासितस्याऽप्रमितस्य त्रयाणामन्यतमविषयत्वमिति विभज्य योजनीयत्वान्न दोषः।

(३) अन्यथा ज्ञानस्याऽप्रमितत्वे कदाचिज्ज्ञानविषयकं व्यतिरेकप्रमादिकमपि
स्यादित्याह—अन्यथेति, अन्यथा=ज्ञानस्याऽप्रमितत्वे, अविघ्नितजिज्ञासस्य=जिज्ञासोः पु-
रुषस्य, जिज्ञासितज्ञाननिष्ठप्रमितत्वस्य यो व्यतिरेकोऽभावस्तद्व्यापकं जिज्ञासितस्य व्य-
तिरेकोल्लेखि ज्ञानमपि कदाचित्स्यादित्यन्वयपूर्वकोऽर्थः। व्यतिरेकोल्लेखि ज्ञानमित्युप-
लक्षणं संशयविपर्ययोरपि।

(४) पूर्णत्वं=सत्त्वम्।

धादनुपपन्नमेव ॥ [c]"स्वप्रकाशमि"ति । स्वस्य प्रकाशः=विषयीभावो यत्र तत्स्वप्रकाशं, स्वं वा प्रकाशो यस्य तत्स्वप्रकाशं, स्वस्मात् प्रकाशो यस्येति वा ॥ तदेव विवृणोति–। [d]"स्वतः एवे"ति ॥ स्वप्रकाशत्वे प्रमाणमाह–। [e]"न खल्वि"ति । देवदत्तस्य घटज्ञानोत्पत्तिक्षणो घटज्ञानज्ञान(१)वान्, जिज्ञासितघटज्ञानगोचरसंशयविपर्ययव्यतिरेकप्रमाऽनाधारत्वात् घटानुव्यवसायक्षणवत् चैत्रवद्वेति मानार्थः । अयं ज्ञातघटज्ञानः, जिज्ञासुत्वे सति तद्विषयसंशयादिरहितत्वात्–, इति व्यतिरेकी वा हेतुर्विवक्षितः । ज्ञानाभाववदशायां व्यभिचारवारणाय 'जिज्ञासोरपी'ति । अतत्त्वज्ञाने(२)च व्यतिरेकप्रमा च अतत्त्वज्ञानव्यतिरेकप्रमाः; तासामित्यर्थः । यद्यपि स्वप्रकाशे जिज्ञासैव नावतरति, जिज्ञासा हि ज्ञातुमिच्छा, नहि सा ज्ञाते एव ज्ञाने सम्भवति, तथाच ज्ञानस्य स्वप्रकाशतां जिज्ञासा न सहते–इति न तया लिङ्गं विशेष्टुमर्हति, तथापि व्याप्ति(३)स्तावदीदृशीति हृदयम् ॥

**मू० * [a]व्यवसायस्यानुव्यवसायनियमान्न तत्र संशयादिः*?–इति चेन्न, [b]यत्रैवानुव्यवसाये ज्ञेयता नोपेया तत्र जिज्ञासायाम् [c]आत्मधर्म्मिकं तत्संशयमारभ्य व्यवसायविषयपर्यन्तं संशयाक्रान्तेर्दुष्परिहरत्वात्; [d]विषयिसद्भावसंशये तद्विषयेऽपि संशयस्य सम्भवात् ।**

टी० ॥ संशयाद्यभावसमूहे हेतावन्यथासिद्धिमाशङ्कते–। [a]"व्यवसायस्ये"ति । अनुव्यवसायेन व्यवसायस्य प्रतीतत्वान्न तत्र संशयविपर्ययव्यतिरेकप्रमा इत्यर्थः ॥ परिहरति–। [b]"यत्रे"ति । यद्यनुव्यवसायाः प्रोच्यन्ते तदाऽनवस्था, विषयान्तरसञ्चाराभावः, अननुभवश्च; तद्विरामे(४)तु

(१) घटज्ञानविषयकं ज्ञानं च स्वात्मकमेव ग्राह्यं, न तु ज्ञानान्तरं, स्वप्रकाशत्वस्य साध्यत्वात्; एवमग्रेऽपि ।

(२) अतत्त्वज्ञाने=संशयविपर्ययौ ।

(३) यत्रयत्र जिज्ञासुत्वे सति संशयाद्यभाववत्त्वं तत्रतत्र प्रमितत्वमिति व्याप्तिरेव जिज्ञासाघटितेत्यत्रैव, तात्पर्य्यं, न तु लिङ्गकुक्षौ तन्निवेशेऽपीत्यर्थः ।

(४) अनुव्यवसायधाराविरामेऽपीत्यर्थः ।

विषयपर्यन्तं संशयः, इत्यगत्या ज्ञानं स्वप्रकाशमेषितव्यमित्यर्थः ॥ ननु ज्ञानं ज्ञातं यदि, तदा न तत्र संशयो ज्ञातत्वात्; अथाऽज्ञातं, तदापि न तत्र संशयोऽज्ञातत्वात्; नहि धर्म्यदर्शनेपि संशयः, तथा सति तत्र(१) धर्मिनियमो न स्यादित्यत आह—। c"आत्मधर्मिकमि"ति । अनुव्यवसायानन्तरम् 'अहं तृतीयज्ञानवान्न वा' 'अहं ज्ञानविषयतृतीयज्ञानवान्न वा' 'अहं ज्ञातघटज्ञानो(२)न वा'-इत्यात्मधर्म्मिकसंशय(३)मुपक्रम्य विषयपर्यन्तं संशयः स्यात्, नचैतादृशी संशयधारानुभूयते, तन्नूनं स्वप्रकाशमेव ज्ञानमित्यर्थः । यद्वा, 'घटज्ञानजिज्ञासावानयं चैत्रो यदि ज्ञातघटज्ञानो न स्यात्,(४)प्रमिततद्विरहस्यात्'—एवं द्वितीयतृतीयादिज्ञानपरम्परापूरणेन तत्तद्विरहप्रमामादायाऽर्थापत्त्या स्वप्रकाशता साधनीयेत्यर्थः । यद्यप्यनुव्यवसाये सति न तत्र जिज्ञासा, ज्ञानधारया(५) विच्छेदात् ; नोत्तरकालीना, (६)विषयाभावात्; तथाप्यनुपसंजात(७)विरोधितया पूर्वजिज्ञासाया एव तथासामर्थ्यमभिप्रेतम् ॥ ननु 'ज्ञानगोचरसंशयेन तद्विषयसंशयोपि'—इति कथमेतदत आह—। d"विषयी"ति । यद्यपि नायं नियमस्तथापि सम्भवमात्राभिप्रायेणैतदुक्तम्, अत एव 'सम्भवा'दित्युक्तम् ॥

(१) तत्र=संशये, 'एकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धनानाकोटिकज्ञानं संशयः'—इति धर्मिनियमः क्वचिदपि न स्यादिति पङ्क्त्यर्थः ।

(२) संशयत्रितयप्रदर्शनं क्रमशः तृतीय-तृतीयद्वितीय-तृतीयद्वितीयप्रथमज्ञानविषयकं बोध्यम् ।

(३) आत्मधर्मिकसंशयं, चरमानुव्यवसायधर्मिकसंशयमित्यर्थः ।

(४) अत्र 'तदा'—शब्दमध्याहृत्य 'तदा प्रमिततद्विरहः ( प्रमितस्तस्य ज्ञानस्य विरहो यस्य पुंसः स तथा ) स्यात्'—इति योजनीयम् ।

(५) अनुव्यवसायात्मकज्ञानधाराकाले इच्छाया असम्भवादित्यर्थः ।

(६) ज्ञानधारोत्तरकालेऽपीच्छा न सम्भवति, इच्छाविषयस्य ज्ञानस्यैव तदानीमभावादित्यर्थः ।

(७) अनुपसंजाता विरोधिता यस्या जिज्ञासाया ज्ञानेन सहैतादृशी या ज्ञानात्प्राचीना जिज्ञासा तस्या एव संशयादिसहकृतत्वेनाप्रमात्वसाधकत्वं व्यवसायविषयपर्यन्तसंशयसंक्रमयितृत्वं चेत्यर्थः । सामान्यतो विषयज्ञानस्यैव जिज्ञासायां कारणत्वेन विषयस्य तत्र कारणत्वाऽकल्पनादिति भावः ।

मू० [a] एवं(१)त्रिचतुरसंवेदनकत्वाज्ज्ञानधौव्यनियमाभ्युपगमेपीति । [b]स्वप्रकाशे तु मानमेयभावव्यवस्थाया अभावादेव तदाश्रया दोषा निरवकाशाः । [c]अन्यथा तु बोधस्वरूपमेव न सिद्ध्येत् । [d]यदि हि विज्ञानं परतः सिद्ध्येत् तदाऽनवस्था स्यात् । * [e]नच वाच्यमवश्यवेद्यता वित्तेर्नाभ्युपेयते, स्वार्थे व्यवहारस्तु स्वरूपसत्तया प्रसूयते इति क्वाऽनवस्था-इति* ।

टी० ननु व्यवसायवदनुव्यवसायोपि गृह्यते एव, तथाच कथं विषयपर्यन्तः संशय इत्यत आह-। [a]"एवमि"ति। क्वचिद्विरामस्यावश्याभ्युपगमनीयत्वेन विषयपर्यन्तसंशयधाराध्रौव्यादित्यर्थः ॥ ननु स्वप्रकाशनये तदेव ज्ञानं कर्म स्यात्, क्रिया च, नचैवं सम्भवति, क्रियाकर्मणोर्भेदगर्भत्वात्; कथं वाऽत्यन्तमभिन्नतया विषयविषयिभावः ? इत्यत आह-। [b]"स्वप्रकाशे त्वि"ति । यदि भिन्नयोः क्रियाकर्मभावो वा विषयविषयिभावो वा क्वचिन्मयाङ्गीक्रियेतोपपद्येत वा स्यात् तदा विरोधो भवेत्, नत्वेवं, स्वप्रकाशज्ञानातिरिक्तवस्तुनो मया योगाचारनयनगरप्रवेशादेवानभ्युपगमादित्यर्थः । यद्वा, ननु ज्ञानप्रामाण्यसंशयाधीनः संशयस्तवापि विषयपर्यन्त इत्यत आह-।"स्वप्रकाशे त्वि"ति ॥ यदि भेदेन विषयविषयिभावो भवेत्तदा बोधस्वरूपमेव न सिद्ध्येदित्याह-। [c]"अन्यथे"ति ॥ अस्तु वा भेदेन विषयविषयिभावस्तथापि ज्ञाने तथा नाङ्गीकर्त्तव्यमित्याह-। [d]"यदि ही"ति ॥ ननु ज्ञानस्यापि व्यवहारं न तदैव ज्ञानाधीनं ब्रूमो येनानवस्था दिश्येत, किंतु घटादिसत्ताविलक्षणा ज्ञानसत्तैव स्व(२)विषयव्यवहारायेत्याशङ्कते-। [e]"नचे"ति ॥

(१) नियमाभ्युपगमेपि एवं ( विषयपर्यन्तं संशयाक्रान्तिः )-इति सम्बन्धः ।
(२) क्वचित्पुस्तके 'स्व'-इति नास्ति ।

मू० [a]"यतः तस्यां प्रमाणानुपन्यासे स्वरूपसत्तापि कुतः, यया व्यवहारोपपत्तिः; को(१)ब्रूते–'सती सा वित्तिः ?'; असत्येव न कुतः। * [b]'सामान्यतो वित्तेस्तथात्वविधावपेक्षितसिद्धा यत्र विशेषरूपायां प्रमाणाऽप्रवृत्तिस्तदा तत्र सत्त्वसाधनाऽसत्त्वेऽपि जिज्ञासायां सत्यां पश्चाद्व्यवहारसत्त्वैव वाऽन्यद्वा प्रमाणमस्त्येव?*,–इति चेन्न, [c]'तस्यापि कथं सत्त्वमित्यनवस्था वा स्यात्, [d]'शेषासिद्धा सर्वाऽसिद्धिर्वा प्रसज्येतेत्यर्थाऽसिद्धिपर्यन्तस्य व्यसनस्य दुरुत्तरत्वात्। 'सेयमप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यतीति।

टी० तद्गोचरं ज्ञानमनङ्गीकृत्य ज्ञानसत्तैव त्वया दुरुपपादेत्याह–। [a]"यत" इति॥ व्यवहारमात्रात्तावद्विषयज्ञानमात्रं सिद्धमेव, घटादिप्रतिनियतविषयकज्ञानजिज्ञासा तु यदि स्यात्तदा प्रतिनियतविषयकव्यवहारेण वा, प्रतिनियतविषयस्मरणादिना वा, तदप्यनुमास्यते(२) इत्याशङ्कते–। [b]"सामान्यत" इति। 'जानामि'–इति सामान्याकारेणाऽपेक्षितवित्तिविशेषसिद्धावपि घटज्ञानत्वादिना जिज्ञासायां वित्तिविशेषसिद्धिरिति वा(३)ऽर्थः॥ व्यवहारसामान्यसत्त्वस्य व्यवहारविशेषसत्त्वस्य च ज्ञानज्ञापकस्य सिद्धिर्ज्ञानान्तराधीना, एवं तत्सिद्धिरपीत्यनवस्थेत्याह–। [c]"तस्यापी"ति॥ माभूद्विज्ञानपरम्परायास्तदानीमेव सिद्धिः, किमेतावता, त्रिचतुरज्ञानसिद्ध्यैव तद्विषयसिद्धेरित्यत आह–। [d]"शेषे"ति। यद्यपि सर्वाऽसिद्धिप्रसञ्जनमनुपपन्नं, यत्पक्षीकृत्याऽसिद्धिरापाद्या तत्सिद्धौ बाधः,

(१) कोऽनुभवो ब्रूते = अनुभावयति, यत् सत्येव वित्तिरिति, न कोऽपि, तथा-चाऽनुभावकाभावात्सा वित्तिरसत्येव किं न स्यादित्यर्थः।

(२) चैत्रो घटविषयकज्ञानवान् घटविषयकव्यवहारवत्त्वात् घटविषयकस्मरणवत्त्वाद्वा–इत्यनुमानप्रकारः।

(३) उत्थानिकोक्तार्थापेक्षयाऽस्यार्थस्य द्वितीयत्वमभिप्रेत्य 'वा'–शब्दः प्रयुक्त इति ध्येयम्।

तदसिद्धावाश्रयासिद्धिः, शेषासिद्धेश्चापादकत्वेनाभिमताया असिद्धिः, 'शेषस्य चरमज्ञानस्यासिद्धौ तत्पूर्वज्ञानस्यासिद्धिः'—इति विशिष्टापादने त्वद्वचनादेव तयो(१)स्तदेव सिद्धौ सुतरामापाद्यापादकयोरसिद्धिः, तथात्वनवस्थायामेव हृदयम् ॥ "'सेयमि'ति। यस्य मते उपलम्भो न प्रत्यक्षः=न स्वसंवेद्यः, तन्मते(२)नाऽर्थदृष्टिः=ज्ञानमात्रमेव न सिद्ध्यति,—इति धर्मकीर्तिनाप्युक्तमित्यर्थः। यद्यपि प्राकट्यानुमेयज्ञानं भट्टं प्रति नैयायिकानामप्ययमुपालम्भः, तथापि स्वप्रकाशानभ्युपगमेप्युक्तदोषबलेनोपालम्भः सम एवेति भावः ॥

मू० [a]घटसत्तां हि व्यवहरता प्रामाणिकेन तत्र प्रमाणसद्भावो वाच्यः। यदि प्रमाणमनुपन्यस्य सास्तीत्येवमङ्गीक्रियते तदा वैपरीत्यमेव(३)किं न स्यात्। ततश्च घटसत्तायां प्रमाणसत्ता दर्शनीया, तथा च प्रमाणसत्तापि तत्प्रमाणसत्तामन्तरेण प्रामाणिकस्य नाङ्गीकारार्हा, [b]सर्वप्रमाणसत्तानिवृत्तेर्वस्तुसत्तानिवृत्तिनियतत्वात्(४); [c]अन्यथा सप्तमरसादेरप्यापत्तेः—इति व्यक्तमनवस्थादौस्थ्यमस्वप्रकाशवादिनः स्यात्। [d]यदि हि विनैव प्रमाणसत्तां प्रमाणसत्तां परोऽङ्गीकारयेत्तदा घटसत्तामपि तथैवाङ्गीकारयतामिति घटेपि वृथा प्रमाणोपन्यासायासः।

टी० अनवस्थां सर्वासिद्धिं वाऽऽपादितां प्रपञ्चयति—। [a]"'घटसत्तामि"ति। यद्यपिप्रमाणोपन्यासो न सत्ताङ्गीकारबीजं, किंतु प्रमाणं, तथापि

(१) तयोः=पूर्वज्ञानचरमज्ञानयोः, तदेव=त्वद्वचनावसरे एव, सिद्धौ सुतरामापाद्यापादकयोः=तदभावयोरसिद्धिरित्यर्थः।

(२) 'तन्मतेन अर्थदृष्टिः=ज्ञानमात्रमेव'—इति वा पदविभागः कर्तव्यः।

(३) वैपरीत्यमेव=घटाऽसत्त्वमेव।

(४) नियतत्वात्=व्याप्यत्वात्।

तत्र विप्रतिपन्नं प्रतीदानी(१)मेव तत्प्रमापणीयमिति भावः ॥ [b]"सर्वप्रमाणे"ति । यद्यपि कदाचित्सर्वप्रमाणनिवृत्त्या न प्रमेयनिवृत्तिः, तथापि सार्वदिकसर्वप्रमाणनिवृत्त्यभिप्रायमेतत् । यद्यपि सर्वप्रमाणनिवृत्तिर्दुर्ग्रहा, तथापि प्रमाणान्तरं(२)त्वयैवोपपादनीयमिति भावः ॥ [c] 'अन्यथे'ति । यदि प्रमाणनिवृत्तौ न प्रमेयनिवृत्तिरित्यर्थः । यद्यपि स्वप्रकाशत्वेऽपि प्रमाणापेक्षायामनवस्थैव, स्वप्रकाशत्वस्याऽस्वप्रकाशत्वात्(३), स्वप्रकाशत्वस्य प्रमाणान्तरेण त्वयैवेदानीमुपपादनीयत्वात्; एवं तदुपपादकस्यापि प्रमाणस्य वाच्यम्, अनुपपादने च कथं तत्स्वप्रकाशं वैपरीत्यमेव कथं न स्यात्–इत्याद्यवकाशः, तथापि वैतण्डिकोऽहमिति हृदयम् ॥ ननु घटस्तावत्प्रमाणसिद्धस्तत्प्रमाणेऽपि प्रमाणाभिधानमकिञ्चित्करमित्यत आह– । [d]"यदी"ति ॥

**मू० [a]अथ * नाऽव्यवधानलग्नवित्ति(४)तद्वित्तिधाराऽभ्युपगम्यते, किंनाम कदाचित्कुतश्चित्काचिद्वित्तिः प्रमीयते, इति सर्वा वित्तिः प्रमाणसिद्धैवेत्यभ्युपेयते* ? –इति चेन्न, [b]स्यादप्येवं यदि 'घटः' (५)–इति, 'घटं जानामि,–इत्यतोऽधिका ( घटवित्तितद्वित्तिधारया**

(१) इदानीं=विप्रतिपत्तिसमकालं, तत्=प्रमाणं, प्रमापणीयं=प्रतिपक्ष्यर्थमुपन्यसनीयम्, इत्युपन्यासोऽप्यावश्यक इत्यर्थः ।

(२) प्रमाणे प्रमाणान्तरसत्त्वे किं तत् ? इति त्वयोपपादनीयं नतु तदुपपादयितुं शक्यमनवस्थानादिति तदभिप्रायेणैव सर्वप्रमाणनिवृत्तिप्रतिपादनमिति तात्पर्य्यार्थः ।

(३) 'स्वप्रकाशत्वस्य स्वाऽप्रकाशत्वात्'–इत्यपि क्वचित् पाठः । स्वप्रकाशत्वस्याऽस्वप्रकाशत्वे खाण्डनिकस्य पुनःपुनः प्रमाणैस्तत्प्रकाशनमेव हेतुमाह–स्वप्रकाशत्वस्य प्रमाणान्तरेणेत्यादिना ।

(४) वित्तितद्वित्त्योर्धारा चाऽसावव्यवधानेन लग्ना चेति विग्रहः । प्रमीयते इत्यस्यानन्तरं 'जिज्ञासायां सत्यामि'ति शेषः ।

(५) 'घट'–इति, 'घटं जानामि,–इत्यतः (घटतज्ज्ञानविषयाज् ज्ञानद्वयाद्) अधिका वित्तिरस्मदादेरुत्पद्यमाना यद्यनुभूयेत ( तर्हि ) एवमपि स्यात्–इति सम्बन्धः । वित्तिमेव विशिनष्टि–तादृग्विषयेति, तादृशां=विच्छिद्यज्ञायमानविषयाणां यच्छतं तत्प्रारेण=गौरवेण, मन्थरा=मन्दगामिनी । तत्र हेतुमाह–घट इति, घटश्च तद्वित्तिश्च तयोर्धारा=माला, तया । किंविशिष्टया ? इत्यत आह–विषयभावेन=गर्भभावेनाऽनुप्रविष्टयेति ।

विषयभावेनप्रविष्टया तादृ[c]ग्विषयशतभारमन्थरा) वित्तिरस्मदादेरुत्पद्यमानाऽनुभूयेते । [d]यद्यस्मदादि-विलक्षणजन्मनि सा सम्भाव्यते तदापि यस्या वि-त्तेस्तावद्विषयगर्भिता धीर्विषयः साप्यन्यया कया-चिदुल्लेख्येत्यत्र प्रमाणाभावश्च,—

टी० ननु वित्तीनां धारावहनवत् प्रवाहं नाभ्युपैमि येन विषयान्तरसञ्चारो न स्यात्, अपि तु सर्ववित्तीनां वेदनमात्रमङ्गीकुर्मः ? इत्याह–। [a]"अथे"ति । कालान्तरेप्यनुसन्धीयमाना या वित्तिपरम्परा सा स्वस्वविषयमन्तर्भाव्यैवानुसन्धीयेत न चैतादृशं ज्ञानमुत्पद्यमानमनुभूयते इत्याह– [b]"स्यादि"ति ॥ [c]"विषयशते"ति । यद्यपि शतमपि वित्तयो वित्तित्वेन, घटश्च विषयो घटत्वेन, भासते इति 'घटं जानामि' 'घटज्ञानवानस्मि'–इत्यनेनैवाकारेण क्रमेणापि वित्तिशपवेदनं सम्भाव्यते इति न विषयशतभारमन्थरत्वम्, नहि तावतीषु वित्तिषु प्रकारवैचित्र्यमस्ति येन तदुल्लेखधौव्येणानुभवविरोधः स्यात्, तथापि 'कालान्तरीयस्य घटज्ञानवानहमितिज्ञानस्य कालान्तरीयचरमवित्तिरपि विषयः'–इत्यत्र न प्रमाणमिति हृदयम् ॥ ननु योगदशायां पूर्वपूर्वत्यक्ताः सर्वा वित्तीरेकवारेण प्रतिसन्धास्यतीति सर्वासां प्रामाणिकत्वमित्यत आह–। [d]"यद्यस्मदादी"ति । योगिधियां स्वातिरिक्तसकलग्रहसामर्थ्येपि स्वग्रहे सामर्थ्याभावान्नैतदपीत्यर्थः ॥

मू० [a]अनिर्मोक्षापत्तिश्च । [b]नहि स्वमन्तर्भाव्य कयाचिद्धिया स प्रवाहो ग्राह्यः । तथा सति स्वप्रकाशतासिद्धेः । [c]अत एव चाऽन्योन्यविषयता निरस्ता, सविषयकाऽन्योन्यग्रहे स्वग्रहापत्तेः ।

टी० [a]"अनिर्मोक्षे"ति । योगिनामुक्तक्रमेण ज्ञानपरम्पराऽनुच्छेदे सकलविशेषगुणोच्छेदो मोक्षो न स्यादित्यर्थः ॥ ननु योगिनश्चरमा वित्तिः

स्वात्मानमपि विषयीकृत्य निवर्त्तते इति नानिर्मोक्ष इत्यत आह—। b 'नही''ति। यद्यपि योगज(१)धर्माऽजन्य-जन्य-स्वविषयकसविकल्पकाऽजन्य-सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्यजन्य-ज्ञानस्यैव स्वप्रकाशत्वं नाभ्युपैमीति न स्वप्रकाशत्वापत्तिः, तथापि परिभाषामात्रमेतदिति हृदयम् ।। ननु योगिज्ञानपरम्परायामन्त्योपान्त्यज्ञानयोरन्योन्यविषयतायां न स्वप्रकाशता, न वाऽनवस्था, न वा कस्या अपि वित्तेरसंवेदनमित्यत आह—। c "अत एवे"ति। अन्त्यज्ञानं स्वविषय(२)मुपान्त्यज्ञानं विषयीकुर्वदात्मानमपि विषयीकुर्य्यादेवमुपान्त्यमन्त्यं(३)विषयीकुर्वत् स्वात्मानमपि विषयीकुर्यादिति स्वप्रकाशतापत्तिरेवेत्यर्थः। यद्यपि(४)ज्ञानग्रहे विषयग्रहध्रौव्यं, न तु यावद्विषयग्रहनियमः, तथाच स्वेतरविषयकज्ञानग्रहे कथं स्वप्रकाशत्वं भवेत् तथापि संयुक्तसमवेतविशेषणतया प्रत्यासत्त्या स्वेतरग्रहवत् स्वग्रहोऽपि स्यादेवेति भावः। यद्वा(५)ऽन्योन्यमात्रविषयकज्ञानस्थले दोषोयम्। यद्वा,

(१) अस्यां फक्किकायां योगजधर्माऽजन्यत्वादिविशेषणचतुष्टयेन क्रमशः योगिज्ञानेश्वरज्ञानानुमितिज्ञानसामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिजज्ञानानि स्वप्रकाशत्वेनाऽभिमतानि व्यावर्त्यानि। तथाहि;—ज्ञानमात्रस्यैव स्वप्रकाशत्वाऽभावोक्तौ योगिज्ञानस्यापि स्वप्रकाशत्वं न स्यादिति तद्व्यावृत्त्यर्थं योगजधर्माजन्येत्युक्तम्, एवमपि योगजधर्माजन्यस्य भगवतो नित्यज्ञानस्यापि स्वप्रकाशत्वं न भवेदिति तदुदासाय जन्येति, तावतापि योगजधर्माजन्यत्वे सति जन्याया (यत्रयत्र द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवत्त्वं तत्रतत्र गुणत्वम्—इत्यादिरूपस्वविषयकसविकल्पकव्याप्त्यादिजन्याया) 'ज्ञानं गुणः द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवत्त्वात्'—इत्यादिरूपानुमितेरपि स्वप्रकाशत्वं न सिद्ध्येदिति स्वविषयकसविकल्पकाजन्येत्युक्तम्, तथापि निरुक्तविशेषणत्रयविशिष्टस्य वित्तित्वलक्षणसामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिजन्यज्ञानस्याशेषवित्तिगोचरत्वेन स्वगोचरतामपि गतस्य परप्रकाशत्ववारणाय ज्ञानं सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्यजन्यविशेषणेन विशेषितम्। क्वचित्पुस्तके एकं जन्यपदमत्राधिकमप्युपलभ्यते, तदबुद्धिपूर्वकत्वाद्धेयं विज्ञैः।

(२) स्वविषयं, स्वात्मकविषयविशिष्टमित्यर्थः।

(३) अन्त्यं, 'स्वात्मकविषयविशिष्टमि' ति शेषः।

(४) उपान्त्यज्ञानादेः स्वेतरपदार्थविषयकज्ञानग्राहकत्वेन स्वप्रकाशतापत्तिरिति शङ्कते—यद्यपीति। समाधत्ते—तथापीति। अन्योन्यविषयकत्वस्य पि ज्ञानान्तरग्राह्यत्वेऽनवस्थानात्तदसिद्धिप्रसङ्गेनाऽन्योन्यग्राह्यतैव वाच्या इत्यन्योन्यविषयकत्वकुक्षिनिविष्टस्य स्वस्यापि स्वेतरार्थवत् मनःसंयुक्तात्मसमवेतज्ञानविषयतालक्षणप्रत्यासत्त्यैव ग्रहणे स्वप्रकाशतापत्तिरेवेत्यर्थः।

(५) पूर्वं स्वेतरार्थग्राहिणोऽप्युपान्त्यज्ञानादेः स्वेतरार्थग्राहकत्ववदगत्या स्वग्राहकतामुपादाय स्वप्रकाशत्वमुक्तमिदानीं त्वन्योन्यग्राहकत्वस्थले एवायं दोषो न स्वेतरार्थग्राहकत्वस्थले इत्याह—यद्वेति।

अन्त्योपान्त्यज्ञानयोरन्योन्यविषयत्वमित्यपि ज्ञानान्तरयाह्यमेवेति तदादाय पुनरनवस्थादोषस्थमेवेति भावः ॥

मू० "नच पुरुषान्तरेण सा(१)प्रमास्यते नतु तदभावः—इति प्रमा तेऽस्ति, तदर्थमपि प्रमाणान्तरसद्भावपरम्परापत्तेः । * [b] नचैवं घटसामग्रीतत्सामग्रीगवेषणेऽप्यनवस्था स्यात् * । वैषम्यात् । [c] यदि हि घटसामग्री तत्सामग्रीधारा कुत्रचिद्विच्छिद्येत तदा घटः सदातनः स्यात् इत्यर्थापत्त्यैव घटः सामग्रीपरम्पराविच्छेदरहित एव प्रमीयते । [d] यदि तु ज्ञानेप्येवं स्यात्,—

टी० नन्वेकस्य पुरुषस्य विश्रान्तापि वित्तिपरम्परा पुरुषान्तरेण प्रमास्यते इति न शेषासिद्धा सर्वासिद्धिरित्यत आह—। [a] "नचे"ति । 'पुरुषान्तरेण प्रमास्यते'-इति त्वयोपपादनीयमतस्तदुपपादनपरम्परापुनरप्यापन्ना । किञ्च, पुरुषान्तरेण सा वित्तिर्वेद्यते, नतु तदभावः, इत्यपि विशेषोपपादनप्रयासस्तवाधिक इत्यर्थः ॥ ननु ज्ञानसिद्ध्यन्यथानुपपत्तिरेवापर्यवसन्ना ज्ञानधारामाक्षिपेद्, अन्यथा घटकादाचित्कत्वाऽन्यथानुपपत्तिर्घटसामग्रीपरम्परामपि नाक्षिपेदित्यत्राह— । [b] "नचैवमि"ति ॥ वैषम्यमेव स्फुटयति— । [c] "यदी"ति । घटसामग्रीविच्छेदे हि घटकादाचित्कत्वमनुपपन्नं स्यात्, तथाच स्यादेव(२),न स्यादेव वा, नतु कदाचित्स्यादित्यापद्येत; ज्ञानसिद्धिस्तु स्वस्मादपि भवन्ति न तत्परम्परामाक्षेप्तुमलमित्यन्यथासिद्धानन्यथासिद्धिकृतवैषम्यमित्यर्थः । यद्वा, घटसामग्रीपरम्पराङ्गीकारेऽनवस्थैव परं, सा चान्यथानुपपत्तिप्रमाणिकेति न सापि दोषाय,ज्ञान-

(१) सा=चरमबुद्धिः, पुरुषान्तरेण प्रमास्यते, तस्या अभावो न प्रमास्यते,-इत्यत्र तव प्रमाणं नास्ति, तदभावादभाव एव परिशिष्यते,-इति विद्यासागरोक्तरीत्याऽस्वय पूर्वकोऽर्थः ।

(२) कारणसामग्रीविरहिणां हि द्वयि गतिर्दृष्टा,-नित्यसत्त्वमेव वाऽऽकाशादिवत्, नित्याऽसत्त्वमेव वा खपुष्पादिवत्, घटस्यापि सामग्रीविरहित्वे तदन्यतरत्वं स्यादित्येतदाह-स्यादेवेति ।

परम्पराङ्गीकारे त्वनिर्मोक्षापत्तिरिति महद्वैषम्यमिति भावः॥ वैषम्यमेव ज्ञानपक्षे विशदयति–। [d]“यदि त्वि”ति ॥ [e]“एवं स्यादि”ति । ज्ञानसिद्ध्यान्यथानुपपत्तिरेव यदि ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वाऽऽक्षेपिका स्यादित्यर्थः ॥

मू० तदा स्वस्य प्रवेशात्स्वप्रकाशापत्तिः, अप्रवेशाद"नवस्था, [b]अवेदने शेषासिद्ध्या सर्वासिद्धिः,–इति व्यसनं दुरुत्तरमेव। [c]ये च मानमेयभावाश्रया दोषाः कीर्तनीयास्तेऽपि प्रसज्येरन् । * [d]नच तैर्दोषैर्नास्त्येव ज्ञानमित्यास्थेयम् * । [e]स्वतः सर्वसिद्धस्य दुरपन्हवत्वात्, [f]स्वप्रकाशाङ्गीकारादेव चाऽनुभवस्य सर्वदोषहाने [g]र्वक्ष्यमाणत्वात । [h]प्रकाशात्मतामात्रस्यैव स्वतःसिद्धिसम्भवे जडात्मनां धर्म्माणां केषामपि तदन्तर्भावानुपपत्तिः ।

टी० [a]“अनवस्थे”ति। तथाचाऽनिर्मोक्षापत्तिरिति भावः ॥ [b]“अवेदने”इति। चरमवित्तेरवेदने इत्यर्थः ॥ ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वे दोषान्तरमाह–। [c]“येचे”ति। “नाऽत्यापत्त्या प्रमामात्रात्तेऽर्थाः स्वीक्रियोचिताः। तद्धियस्तद्दुरीकारे स्वाश्रयं कश्चिकित्सतु”(१)–इत्यादिदोषा मानमेयभावाश्रिता अग्रे कीर्तनीया इत्यर्थः । यद्वा, प्रमाणखण्डनप्रकरणे दोषा(२) ये कीर्तनीयास्तेऽपि स्युरित्यर्थः ॥ इदानीं स्वाभिमतां स्वप्रकाशब्रह्मसिद्धिं कटाक्षयितुमाह–। [d]“नचे”ति। मानमेयखण्डनप्रकरणोक्तदोषैर्नाऽत्यापत्त्येत्याद्युक्तदोषैश्च विज्ञानस्वरूपमपि न सिद्ध्येत्, तथाच सर्व-

(१) इयं च पञ्चत्रिंशकारिका, तस्या अयमर्थः,–प्रमामात्राद्घटादिसिद्ध्यङ्गीकारेऽन्यविषयकप्रमयाऽन्यस्यापि सिद्धिस्स्यात्, तस्मात् अत्यापत्त्या=अतिप्रसङ्गेन, तेते घटादयोऽर्थाः प्रमामात्रात् स्वीक्रियोचिताः=स्वीकर्तव्या, न, तद्धियस्तद्दुरीकारे=घटज्ञानाद्घटस्य, पटज्ञानात्पटस्य, सिद्ध्यङ्गीकारे तु घटादपि घटस्य, पटादपि पटस्य, सिद्धिः स्याज्ज्ञानकुक्षिनिविष्टत्वाद्घटादेः,–इत्यात्माश्रय इति ।

(२) ज्ञानान्तरवेद्यत्वे ज्ञानस्य ज्ञानान्तरेण कः सम्बन्धः? न संयोगोऽद्रव्यत्वात्; न समवायः, द्वयोर्गुणत्वात्; नापि तादात्म्यम्, एकान्तभिन्नयोरभिन्नयोर्वा तदयोगात्; न विषयविषयिभावः, तस्य सप्तपदार्थान्तर्भावाऽनन्तर्भावाभ्यामनुपपत्तेः; नचाऽसम्बद्धमेव ज्ञानं ज्ञानान्तरज्ञेयम्, अतिप्रसङ्गात्;–इत्यादयो दोषाः ।

शून्यतावाद एव पर्य्यवस्येत्, नतु "ज्ञानं तावत्स्वप्रकाशं, स्वत एव सिद्धस्वरूपम्"—इति प्रतिज्ञातोऽर्थोऽपि निर्वाहितः स्यादिति भावः(१) ॥ [e]"स्वत"इति । परतः सिद्धिमपेक्ष्य मानमेयभावखण्डनयुक्तयो न तु स्वतः सिद्धिमपेक्ष्येत्यर्थः ॥ तदेवाह—। [f]"स्वप्रकाशे"ति ॥ [g]"वक्ष्यमाणत्वादि"ति । "तत्स्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भूत्वा"(२)—इत्यादिनेत्यर्थः॥ ननु(३)सर्वशून्यतावादादपरेषां(४)पक्षे ज्ञानमात्राभ्युपगम एव विशेषः, सच न स्यात्, यतो(५)ज्ञानाङ्गीकारे तद्धर्माणां सत्तागुणत्वादीनां तत्सिद्धिनान्तरीयकसिद्धीनामभ्युपगमादित्यत आह—। [h]"प्रकाशात्मते"ति । मानमेयभावाश्रया दोषाः स्वतःसिद्धत्वमात्रमपनेतुमशक्ताः, पराधीनसिद्धीनां तु ज्ञानधर्माणां निरासे शक्ता एवेति भावः । पराधीनसिद्धिकत्वमेवामीषां कथमित्यत उक्तं—'जडात्मनामि'ति ॥

मू० [a]अत एव धर्मो(६)पग्रहप्रवर्तिष्णुवाग्व्यवहाराऽविषयत्वं; [b]कालानवच्छेदमादाय च नित्यतोपचारः; [c]देशानवच्छेदमादाय विभुत्वव्यपदेशः; [d]प्रकारावच्छेदविरहनिबन्धनश्च सर्वात्मत्वाद्वैतादिव्यवहारः; [e]सौगतप्राभाकरादिवद्भावे(७), नैयायिकवच्चाभावेऽभावाऽनतिरेकस्वीकारादेव चाऽद्वैताव्याघातः ।

(१) पूर्वपक्षिणो भाव इत्यर्थः ।

(२) अयं च "आपाततो यदिदमद्वयवादिनीनाम्" इत्यस्याः षड्विंशकारिकायास्तृतीयः पादस्तदर्थस्तु तत्रैव वक्ष्यते ।

(३) योगाचारादिमतमाश्रित्य ज्ञानभिन्नस्यासत्त्वसाधनमुपक्रान्तं तत्कथं सिद्ध्येतु यावता ज्ञानसिद्धौ तद्वृत्तिधर्माणां सत्तागुणत्वादीनामपि सिद्धिरान्तरालिकीत्याहनन्विति । (४) योगाचारादिनास्तिकानां पक्षे इत्यर्थः ।

(५) 'यत'—इति पूर्वं हेतुपदमुपादाय पुनरग्रे 'अभ्युपगमात्'—इति हेतुपदोपादानं तु न साधु मन्ये ।

(६) धर्मस्य उपग्रहः=स्वीकारः, तेन प्रवर्त्तितुं शीलं यस्य वाग्व्यवहारस्य तस्येत्यर्थः ।

(७) केषुचित्पुस्तकेषु "अभावे अभावं प्रति नैयायिकवच्चाऽभावानतिरेकस्वीकारात्"—इति पाठोऽपि दृश्यते, परञ्चाऽर्थदृष्ट्या मूले यथादृष्टमेव रम्यम् ।

टी० ननु स्वप्रकाशज्ञानस्य धर्म्मा अपि यदि न स्वीक्रियन्ते तदा "स्वप्रकाशं ज्ञानम्"-इति वाग्व्यवहारोऽपि तत्र कथं स्यात्, धर्मोपग्रहेणैव तत्प्रवृत्तेरित्यत आह-। [a]"अत एवे"ति। प्रकृत(१)वाग्व्यवहारस्तु लक्षणया कथञ्चित्समर्थनीय इत्यर्थः॥ ननु यदि निर्द्धर्मकमेव तत्स्वप्रकाशं ज्ञानं, तदा "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादिबोधितं तत्र नित्यत्वमपि न स्यादित्यत आह-। [b]"कालानवच्छेदे"ति। कालतदवच्छेदयोः परमार्थसतोरभावात् कालविशेषोपरागनिबन्धनमनित्यत्वं ब्रह्मणो नास्ति इति तद्विरुद्धं नित्यत्वं तत्रोपचरितं; यथा तवैव 'नीलं तमः'-इत्यत्र नीलविरोधिरक्तत्वाद्यभावनिबन्धनो नीलत्वोपचार इत्यर्थः॥ ननु व्याप्नोतीति ब्रह्मेत्युच्यते, तथाच निरुक्तिबलाद्, उपनिषदि विभुत्वेन श्रवणाच्च, ब्रह्मणो वैभवमवश्यमङ्गीकर्त्तव्यमिति न तन्निर्धर्मकम्, अत एव च नाऽद्वैतम्? इत्यत आह-। [c]"देशे"ति। देशतदवच्छेदयोः परमार्थसतोरभावाद्देशविशेषोपरागनिबन्धनमूर्तत्वविरहनिबन्धनो वैभवोपचारः पूर्ववदेवेत्यर्थः॥ तर्हि निर्धर्मके ब्रह्मणि कथं सर्वात्मकत्वव्यवहारः? कथं चाऽद्वैतव्यवहारः? तयोर्धर्मनिबन्धनत्वादत आह-। [d]"प्रकारे"ति। घटादौ प्रतिनियतघटत्वादिप्रकारसंसर्गाधीनोऽसर्वात्मकत्वव्यवहार इति तद्विरहाद्ब्रह्मणि सर्वात्मकत्वव्यवहार इत्यर्थः॥ ननु द्वैताभावोऽद्वैतं, तस्य च ब्रह्माधिकरणं, नतु तदेव ब्रह्म, अभावस्याधिकरणभिन्नत्वात्तथाच तमादाय द्वैतमेवेत्यत आह-। [e]"सौगते"ति। सौगतैः प्राभाकरैश्चाधिकरणस्वरूपमेवाऽभावोऽभ्युपगम्यते नैयायिकैरपि 'घटाभावे पटो नास्ति' इत्यादिप्रतीतेरधिकरणस्वरूपमात्रालम्बनत्वाभ्युपगमाच्च प्रकृते(२)ब्रह्मैव द्वैताभावोऽङ्गीक्रियते॥

**मू० [a]भ्रमविषयनिषेधवच्च प्रतियोगिनः सर्वथैवासिद्धापि**

(१) ननु यदि ज्ञानं वाग्व्यवहाराऽविषयः, कथं तर्हि भवता वाचा व्यवह्रियते इत्यत आह-प्रकृतेति। लक्षणया, ज्ञानविषयतत्सम्बन्धित्वेनैव जहल्लक्षणयेत्यर्थः।

(२) केषुचित्पुस्तकेषु "प्रकृतं ब्रह्मैव"-इति पाठः, तदपेक्षया 'प्रकृते'-इति साधुः, 'प्रकृते'-इति पदान्तरस्य तत्राऽकल्पनात्।

न काचित् क्षतिः । [b]तदेतत्तु श्रुत्या प्रमाणेनो[c]पलक्षणन्यायात् तात्पर्य्यतः प्रकाश्यते ; [d]तेन परमार्थतोऽभिधानाभिधेयभावविरहे तात्पर्य्यतः, श्रुतिस्तस्मिन्नविद्यादशायां पराभ्युपगमरीत्या प्रमाणमित्युच्यते।

टी० ननु द्वैताभावश्चेदद्वैतं तदा प्रतियोगितया द्वैतमभ्युपगन्तव्यम्, तथाच कथमद्वैतं, द्वैतेनैव द्वैतादित्यत आह—। [a]"भ्रमे"ति । नहि निषेधे प्रमितप्रतियोगिकत्वं तन्त्रम्, किं तर्हि, प्रतीतप्रतियोगिकत्वं, लाघवादिति भावः । प्रमितप्रतियोगिकत्वमेव तन्त्रं निषेधे, भ्रमविषयोऽपि ज्ञानान्तरेण प्रमित एव-इत्यादिविस्तरः यद्यपि भेदप्रकाशे(१), तथापि ज्ञानान्तरमप्यप्रमेति हृदयम् ॥ ननु यदि ब्रह्मणो वाग्व्यवहाराऽविषयत्वं-तदा तत्र श्रुतिरपि न प्रमाणं भवेदित्यत आह—। [b]"तदेतदि"ति । उपनिषदां ब्रह्मणि तात्पर्य्याधीनमेव प्रामाण्यं, नतु ब्रह्म पदार्थः, वाक्यार्थो वा, धर्म्मग्रहं विना शक्तेर्ग्रहताद्देश्चाऽनिरूपणात् । "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"—इति नित्यविज्ञानानन्दपदैराविद्यके एवार्थे प्रत्येकं गृहीतशक्तिभिः संभूयोच्चारणबलात् तात्पर्य्यबलाच्चाऽविद्यादशायां ब्रह्म बोध्यते इति तत्र श्रुतीनां प्रामाण्यमित्यर्थः ॥ [c]"उपलक्षणन्यायादि"ति । यथोत्तृणत्वादिकं काकादिपदैरवाच्यमपि बोध्यते तात्पर्य्यबलात्, यथा च "गच्छ गच्छसि चेत्कान्त ! पन्थानः सन्तु ते शिवाः । ममापि जन्म तत्रैव भूयाद् यत्र गतो भवान्"—इत्यादावपदार्थोऽपि गमनाभावः प्रतीयते(२)इति भावः॥ ननु सर्वथैवाऽवाच्ये तात्पर्य्यमपि दुर्घटमित्यत आह—। [d]"तेन परमार्थत" इति । पारमार्थिकं वाच्यवाचकभावं न मन्यामहे, नतु काल्पनिकमपि (३)इति भावः ॥ ननु तात्पर्य्यमपि तत्प्रतीतिप्रयोजकत्वं(४)वा मीमां-

---

(१) भेदप्रकाशे=भेदसिद्धौ, अत्र 'वक्तुं शक्यते'—इति शेषः ।

(२) अत्र 'तथा'—इति शब्दोऽध्याहर्तव्यः पूर्वं यथाशब्दस्य सान्निध्यात् ।

(३) अत्रापि "न मन्यामहे"—इत्यनुवर्त्तनीयम् ।

(४) क्वचित्पुस्तके 'तत्प्रतीतिप्रयोजनकम्'—इति पाठः, क्वचित्तु 'तत्प्रतीतिप्रयोजनकत्वम्' इति ।

सकानामिव, तत्प्रतिपिपादयिषया वा नैयायिकानामिव, स्यात्, तथाच तदादाय पुनर्द्वैतापत्तिरित्यत आह—। [e] "पराभ्युपगमे"ति ॥

मू० [a]वस्तुतस्तु स्वात्मसिद्धमेव चिद्रूपम् । (१)

* [b]ननु च स्वप्रकाशत्वं ज्ञानस्येत्यनुपपन्नमिदं, क्रियाकर्मभावस्य भेदव्यतिरेकेणानुपपत्तेः । [c]कार्या क्रिया हि कर्मणो भवति, कर्म च कारणं(२) क्रियायाः, नच स्वेनैव स्वनिष्पादनं शक्यं, [d]पूर्वापरभावविशेषस्य हेतुहेतुमद्भावरूपत्वात्, नच तस्मादेव तदेव पूर्वमपरं च संभवति [e]तद(३)नवच्छिन्नकालविशेषस्य तत्पूर्वशब्दार्थत्वात्, तदा च तस्य सद्भावस्वीकारे स एव कालस्तदवच्छिन्नस्तदनवच्छिन्नश्चेति विरोधात् * । मैवम्,

टी० ननु त्वन्मते परमार्थतः किमत्र प्रमाणमत आह-। [a] "वस्तुतस्त्वि"ति । यद्यपि चिद्रूपस्यात्मनः सिद्धत्वं त्वया दुरुपपादं, (नहि प्रमाणमन्तरेण तदुपपादयितुं शक्यं, वैपरीत्यमेव तथाऽसति किं न स्यात्. पारिशेष्यादिप्रमाणाभिधानं तव द्वैतापादकं, प्रमाणाभिधाने चापर्य्यवसानं समानं) तथापि तदितरखण्डनयुक्त्यवष्टम्भादिदमुक्तम् (४) ॥

(१) { प्रसाध्य स्वप्रकाशत्वं विज्ञानैकरसात्मनः ।
कर्तृकर्मविरोधोऽथ खण्ड्यते कर्मलक्ष्म च ॥ }

(२) क्वचित्पुस्तके 'कारकम्'-इति पाठः, सोऽपि नाऽयुक्तः क्रियां प्रति कारणस्यैव कारकत्वात् ।

(३) कार्यानवच्छिन्नकालविशेषस्य कार्य्यपूर्वशब्दार्थत्वात्, कार्य्यपूर्वकाले च कार्य्यस्य सद्भावस्वीकारे एक एव कालः कार्य्याऽवच्छिन्नोऽनवच्छिन्नश्चेति विरोधात्-इति निदप्रतीकं क्रमशः प्रत्यक्षरव्याख्यानम्

(४) ब्रह्म सिद्धम्'-इत्येतद् ब्रह्माभिन्नस्य जगतः खण्डनयुक्तिभिरसिद्धत्वप्रतिपादनेन स्वयमेव सिद्ध्यति, निरधिष्ठानकनिषेधायोगात्; न तु प्रमाणेन तत्साधनापेक्षेतिभावार्थः

ननु "स्वेन प्रकाश्यते" इति स्वप्रकाशपदं कर्मव्युत्पन्नं(१), तच्चानुपपन्नं, क्रियाकर्मभावस्य भेदघटितत्वादित्याशङ्कते-। [b]"ननु चे"ति ॥ ननु क्रियाकर्मभावस्याऽभेदे को विरोधः ? इत्यतआह-। [c]"काय्य"ति । अभेदे जन्यजनकभावो विरुद्ध इत्यर्थः ॥ एतदेव कथमत आह-। [d]"पूर्वापरे"ति । विशेषः=नियमगर्भत्वं, तथाच नियतपूर्ववर्तित्वं हेतुत्वं, तन्निरूपितनियताऽऽनन्तर्य्यं हेतुमत्त्वं, तच्चाभेदे विरुद्धमित्यर्थः ॥ एतदेव कथमत आह । [e]"तदनवच्छिन्न"ति । कार्य्यानवच्छिन्नोहि कालः कार्यपूर्वकालः, कार्यमेव च कारणं, तथाच स्वा(२)नवच्छिन्ने काले स्वमित्येको विरोधः, स्वकाल एव स्वाऽकाल इत्यपरः, तदवच्छिन्न(३)एव कालस्तत्प्रागभावावच्छिन्न इत्यर्थः॥

मू० [a]क्रियायाः कर्मजन्यतानियमानङ्गीकारात्, [b]सर्वथैवानागतविषयविज्ञाने तदसम्भवात्; [c]क्वचिज्जनकतामादाय च कर्मणि कारकत्वव्यपदेशात् । [d]करण(४)व्यापारविषयत्वाद्वा परसमवेतक्रियाफलभागित्वाद्वा कर्मलक्षणाद् (विनापि क्रियाजनकत्वेन) कर्मव्यवहारोपपत्तेः । [e]किंच(५)तत् कर्मत्वं यत्स्वं प्रति विरुद्ध्यते ? । * परसमवेतक्रियाफलभागित्वम् * ?-इति चेन्न, [f]अपादानस्यापि व्याप्तेः(६) । * [g]अपादानं कर्मापि * ?-इति चेन्न, 'वृक्षात्पतति पर्णम्'-इति वत् 'वृक्षं पर्णं पतति'-इत्यपि स्यात् ।

(१) कर्मव्युत्पन्नं=कर्मव्युत्पत्तिसिद्धम् ।

(२) स्वशब्देन सर्वत्र प्रकृते कार्य्यं ग्राह्यम् ।

(३) 'स्वकाल एव स्वाऽकालः'-अस्यैव विवरणं-तदवच्छिन्न इत्यादि ।

(४) क्रियाजनकत्वेन विनापि, करणव्यापारविषयत्वाद्वा परसमवेतक्रियाफलभागित्वाद्वा कर्मलक्षणात् कर्मव्यवहारोपपत्तेः-इत्यन्वयः । कर्मलक्षणात्=कर्मपदप्रवृत्तिनिमित्तात्, लक्षणं तु कर्मणोऽसङ्कीर्णं न भवत्येव ।

(५) पूर्वं क्रियायाः कर्मजन्यतां क्वचिदङ्गीकृत्य पर्य्यहार्षीदिदानीं कर्मत्वमेव न निरूपणगोचर इत्याह-किञ्चेति ।

(६) कर्मलक्षणस्याऽपादानव्यापकत्वादित्यर्थः (कर्मलक्षणस्याऽपादानेऽतिव्याप्तिरिति तु फलितम्) । 'अपादानस्यातिव्याप्ते'रिति क्वाचित्कः पाठस्तु कथञ्चिद्व्याख्ययोजनेऽपि दुरूहयोजनतयोपेक्षितः ।

टी० स्यादयं विरोधो यदि कर्म कारकं(१)भवेत्तदेव तु नास्तीत्याह—। [a]"क्रियाया" इति ॥ ननु नियतपूर्ववर्त्तित्वे सत्यपि कथमस्याऽकारणत्वमतआह—। [b]"सर्वे"ति। भाविव्यक्तिविषयकज्ञानेच्छादौ व्यभिचाराच्नियतपूर्ववर्तितैवास्य नास्तीत्यर्थः ॥ ननु यद्येवं, तदा पाणिनेः कारकमध्ये कर्मपरिगणनं किं निबन्धनमित्यत आह—। [c]"क्वचिदि"ति। 'आत्मानं जानामि'इत्यादौ कर्मणः क्रियाजनकत्वमपि सम्भवतीति तथा परिगणनमित्यर्थः ॥ ननु तथाप्यतीतादिसाधारणकर्मपदप्रवृत्तिनिमित्ताभावात्कथमनुगतः कर्मव्यवहारः ? इत्यत आह—। [d]"करणे"ति। अनागतादिकर्मणि करणस्य चक्षुरादे(२)र्लिङ्गादेर्वाप्रत्यासत्त्यादि-लिङ्गपरामर्शादिलक्षणव्यापारविषयत्वात्तद्व्यवहार इत्यर्थः ॥ अपिच, त्वया निरुच्यमानं कर्मलक्षणं कथञ्चिदपि विचारं न सहिष्यते इत्याह—। [e]"किञ्चे"ति। परपदं कर्मभिन्नपरं, तथाच परसमवेतायाः क्रियाया यत्फलं तद्भागित्व(३)मित्यर्थः ॥ 'वृक्षात्पर्णं पतति' इत्यत्र वृक्षस्याऽपादानस्य (पर्णगतपतनक्रियाया यत्फलं विभागस्तच्छालिनः) कर्मत्वं स्यादित्याह—। [f]"अपादानस्ये"ति ॥ नन्वपादानस्य कर्मत्वमपि स्यात् को दोष इत्याह—। [g]"अपादानमि"ति ॥ अपादानस्य कर्मत्वे "कर्मणि द्वितीया"इत्यनुशासनबलात् 'वृक्षं पर्णं पतति' इत्यपि प्रयुज्येतेत्याह—। [h]"वृक्षादि"ति ॥

भू० [a]* विवक्षातःकारकाणि भवन्तीति तदविवक्षया नैवम् *?—इति चेन्न, [b]वस्तुतः सतस्तादृप्यस्य यदि विवक्षा स्यात्तदा तदपि(४)स्यात्। * [c]अपादानस्य कर्मत्वं न विवक्ष्यते इति शाब्दिकसंप्रदायोऽयम्* ?—इति

(१) कारकं, क्रियाकारणमित्यर्थः।

(२) चक्षुरादेरलौकिकप्रत्यासत्त्यादिलक्षणव्यापारविषयत्वात् लिङ्गादेर्वा लिङ्ग रामर्शादिलक्षणव्यापारविषयत्वादनागतकर्मणि कर्मत्वव्यवहार इति विभागः, एकदे न्वयस्तु शरैः शातितपत्राणीत्यादिवच्च विरुद्धः।

(३) 'काष्ठं छिनत्ति'-इत्यत्र काष्ठेतरकुठारादिसमवेतक्रियाया यत्फल धोभावस्तद्भागित्वं भवति काष्ठस्य कर्मण इति लक्षणसमन्वयः।

(४) तदित्यव्ययं, प्रयोगार्थं प्रयुक्तम्; स त्याग इत्यर्थः।

चेत्, [b]तर्हि तत्र निवृत्त(१)सर्वकर्मव्यवहारेपि स्वकृतकर्मलक्षणानुरोधेन कर्मत्वमभ्युपगच्छता वस्तुमात्रं कर्मेत्याद्यपि लक्षणं सावकाशितं स्यात् । कथं च लोकोत्तर(२)प्रज्ञेन निवृत्तसर्वकर्मव्यवहारेपि स्वकृतकर्मत्वमस्तीत्यधिगतम् ? । *अपादानेतर [e]दीदृशं कर्म *?–इति चेन्न, [f]तत्रापि 'नदी वर्द्धते'–इत्यादौ तद्वृद्धेरप्राप्ततीरभागादिप्राप्तिफलायाः सकर्मकत्वापत्तेः ।

टी० ननु वृक्षस्य सत्यपि कर्मत्वेऽपादानत्वमेव विवक्षितमिति पञ्चम्येव भवति न द्वितीयापीत्याह–। [a]"विवक्षात"इति ॥ वास्तवं यदि कर्मत्वं तदा विवक्षायाः=इच्छायाः प्रयोक्तृमात्रतन्त्रत्वेन कदाचित्कर्मत्व-विवक्षया प्रयोगोपि स्यादित्याह–। [b]"वस्तुत"इति ॥ ननु भवेदेवं यदि प्रयोक्तृमात्राधीना विवक्षा स्यात्त्वेवं, किंतु शाब्दिकसंप्रदायानुरुद्धा, तथाच ग्रामगमनादिवत्(३) 'वृक्षं पर्णं पतती'त्यपि न प्रयुज्यते इत्याशङ्कते–[c]"अपादानस्येति ॥ अपादानात् सकलकर्मव्यवहारविरहाद्व्यवहर्त्तव्यस्य कर्मत्वस्यापि निवृत्तिः, त्वया परं स्वलक्षणाऽनुरोधेन कर्मत्व-तत्रेष्यते तदा प्रमेयत्वमेव लक्षणं क्रियतां किं परसमवेतेत्यादिविशेषलक्षणभारेणेत्याह–। [d]"तर्ही"ति । यद्यपि नेदं(४) कर्मलक्षणं, किंतु कर्मपद-

(१) निवृत्तः सर्वेषां कर्मव्यवहारो यस्मिन्नपादाने तस्मिन्नित्यर्थः ।

(२) लोके उत्तरा=उद्गता प्रज्ञा यस्य स लोकोत्तरप्रज्ञस्तेन ।

(३) अत्र "ग्रामाद्गमनमित्यादिवत्"-इति पाठ उचितस्तथैव दृष्टान्तसङ्गतिसम्भवात्, तथाच गतिपतत्योः संयोगानुकूलव्यापारार्थकत्वाऽविशेषेपि यथा ग्रामं गच्छतीत्येतदर्थं ग्रामाद्गच्छतीति प्रयोगो न सांप्रदायिकस्तथा वृक्षात्पर्णं पततीत्यस्यार्थं वृक्षं पर्णं पततीत्यपि न प्रयुज्यते इत्यर्थः;–इत्यस्मद्गुरुचरणाः श्री७मद्रामनिश्रशास्त्रीणः । श्रीमन्तो भागवताचार्यास्तु-स्थालीपुलाकन्यायादिपाठवत् "ग्रामगमनादिवत्" इत्यपि पाठो नायुक्तः, दृष्टान्तश्चायंव्यतिरेकी, तथाच यथा 'ग्रामं गच्छती'ति प्रयुज्यते, न तथा वृक्षंपर्णं पततीति प्राहुः । अहं तु 'इत्यपि न' इत्यपिशब्दस्वारस्यानुरोधेन यथाश्रुतपाठ-स्वारस्यानुरोधेन च–यथा 'ग्रामगमन' इति निर्विभक्तिकपदप्रयोगः सांप्रदायिके नैव युज्यते तथा 'वृक्षं पर्णं पतति' इत्यपि नेत्यनुमन्ये। क्वचित्पुस्तके 'ग्रामगामादिवत्'–इति पाठः ।

(४) इदं=परसमवेतक्रियाफलभागित्वम् ।

प्रवृत्तिनिमित्तमात्रं, (लक्षणं तु कारकाणामन्योन्यव्यावृत्तं नास्त्येव, उपधेयसाङ्कर्यात्,) तथापि पदार्थान्तरलक्षणप्रणयनप्रयासोऽपि तवानर्थक एव स्यादिति हृदयम् ॥ [e]"ईदृशमि"ति । परसमवेतक्रियाफलभागीत्यर्थः ॥ [f]"तत्रापी" ति । "नदी वर्द्धते" इत्यत्र, तीरस्य जलसमवेतक्रियाफलतीरसंयोगभागिनः कर्मत्वात्(¹), तथाच "नदी तीरं वर्द्धते"—इति प्रयोगः स्यादित्यर्थः ॥

मू० [a]"अपादानेतरदितिस्थाने क्रियानाशकेतिकरणे[b] प्यस्य दोषस्य [c]तादवस्थ्यात्, विनाशलक्षणायां वृद्धौ तदसम्भवाच्च, [d]'वृक्षं त्यजति' इत्यादावकर्मत्वप्रसङ्गाच्च, [e]'आत्मानं जानामि' इत्यत्र [f]परत्वाभावादव्याप्तेः । [g]* तत्राप्युपाधिभेदात्परत्वं, कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्युपहितस्यैवात्मनो ज्ञेयत्वाभ्युपगमात् * ?—इति चेन्न, यतोऽस्तु तावद्यथाकथञ्चिदेवं, [h]तथाप्यध्यात्मविदो निरुपाधिमात्मानं जानतो ज्ञानं नात्मकर्म्मकं स्यात्, 'पच्यते फलं स्वयमेवे'त्यादौ च कर्मकर्त्तरि का गतिः स्यात् ? ।

टी० ननु क्रियानाशकपरसमवेतक्रियाफलभागित्वं कर्मत्वं, न वृक्षस्याऽपादानस्य यद्विभागलक्षणं पतनक्रियाफलं तत् क्रियानाशकं किंत्वधः संयोगस्तत्र क्रियानाशकं फलं, तद्भागिभूम्यादेस्तत्र कर्मत्वमिष्यत एवेत्याशङ्क्य परिहरति-। [a]"अपादाने"ति ॥ [b]"अस्ये"ति । 'नदी वर्द्धते'—इत्यत्रातिव्याप्तिलक्षणस्येत्यर्थः ॥ [c]"तादवस्थ्यादि"ति । तत्रा तीरनीरसंयोगस्य क्रियानाशकत्वादित्यर्थः ॥ दोषान्तरमाह—। [d]"वृ मि"ति । तत्रापि वृक्षपर्णविभागस्य क्रियानाशकत्वाभावा(²)दित्यर्थः मूललक्षणेऽपादानातिव्याप्तिं समर्थ्याव्याप्तिमाह—। [e]"आत्मानमि"ति [f]"परत्वाभावादि"ति । आत्मनः कर्मभिन्नत्वाभावादित्यर्थः ॥ योऽय

(१) 'कर्मत्वम्'-इत्यपि पुस्तकान्तरे पाठः साधुरेव ।

(२) अधोदेशसंयोगस्यैव क्रियानाशकत्वेन विभागस्य तदभावादित्यर्थः ।

षगुणोपहितस्यात्मनः कर्मत्वं, केवलस्य च तद्भिन्नत्वात्परत्वमिति विशिष्टाऽविशिष्टभेदेन प्रकृतेऽपि लक्षणसत्त्वान्नाव्याप्तिरित्याह—। [g]"तत्रापी"ति । यथाकथञ्चिदित्यस्वरसात् । कर्मभिन्नत्वमुपाधीनां, नतूपहितस्यात्मनोऽपि इति तदवस्थैवाव्याप्तिः—इत्यस्वरसबीजम् ॥ अभ्युपेत्य दोषमाह—। [h]"तथापी"ति । युञ्जानस्य(१)केवल एवात्मा ज्ञाता, ज्ञेयश्च, निरञ्जनादिश्रुतिबलादित्यर्थः ॥ कर्मकर्तरि परसमवेतक्रिया नास्तीति तत्राव्याप्तिरित्याह—। [i]"पच्यते" इति ॥

**मू० ॥ [a]"सर्वज्ञमीश्वरं मन्यमानेन च नित्यज्ञाने(२) तस्मिन् भगवति फलनाश्रकत्वस्यानभ्युपगमात्तं प्रत्येतल्लक्षणाऽसिद्धेः । [b]तस्माद्व्याकरणकारैः शब्दसिद्ध्यर्थं नदी(३) वृद्ध्यादिवत्कर्म्मापि परिभाषितमित्यलं तदनुगतलक्षणगवेषणया । *करण(४) व्यापारविषयः कर्म्म*?—इति चेन्न, हस्तेन रामेण शरेण—इत्यादावतिप्रसङ्गात् । लक्षणं विनापि, क्रियाजनकत्वे सति व्यापारोद्देश्यत्वेन कर्मव्यवहारोपपत्तेः । [c]शेषं चेश्वराभिसन्धौ(५) स्वप्रकाशवादे निर्वक्ष्यामः (६) ।**

---

(१) युञ्जानस्य = योगिनः ।

(२) अत्र 'नित्यज्ञानाधारे तस्मिन्भगवति'-इत्यर्थकरणापेक्षया 'भगवति वर्त्तमाने नित्यज्ञाने'-इत्यर्थः श्रेयान् ।

(३) यथा वस्तुतो नदीत्ववृद्धित्वयोरसतोरपि पाणिनिना "यूस्त्र्याख्यौ नदी" "वृद्धिरादैच्"-इत्यादिसञ्ज्ञा शब्दसिद्ध्यर्था कृता नसार्वत्रिकी तथा कर्मसञ्ज्ञापीत्यर्थः।

(४) बहुषु पुस्तकेषु करणेत्यादिकर्मव्यवहारोपपत्तेरित्यन्तो ग्रन्थो नास्ति; मन्ये तद्युक्तमेव, "इत्यलं तदनुगतलक्षणगवेषणया" इत्युपसंहारानन्तरं पुनः "करणव्यापार"-इत्यादिना लक्षणान्तरोत्थापनस्याऽयुक्तत्वात् ।

(५) खण्डनकारेणेश्वराभिसन्धिकैवल्याभिसन्ध्यादिनाम्ना चत्वारोऽभिसन्धयः प्रणायिषत, तममुमर्थमुपक्रम्य भूमिकायां भूय्युपन्यास्यमिति तत्रैवाऽनुसन्धेयम् ।

(६) { क्रियायाः कर्मजन्यत्वावश्यम्भावो न भाविकः । किञ्च किञ्चन नो कर्मलक्ष्म वक्तुं च शक्यते ॥ ५ ॥ तस्मात् क्रियाकर्मभावानुपपत्तिरुदाहृता । चिद्रूक्तेः स्वप्रकाशत्वे नास्तीत्येतावतोदितम् ॥ ६ ॥ विषयो विषयाद्भिन्नो भवत्येवेति दुर्ग्रहः । परप्रकारैरेवाथ खण्ड्यतेऽत्र प्रघट्टके ॥ ७ ॥ }

***[d]ननु चाऽभेदे विषयविषयिभावस्यैवासङ्गतत्वं, विषयित्वं हि विषयसंबन्धिता, [e]संबन्धश्च भेदमन्तरेणासम्भवदवस्थितिः, [f]संबन्धमितेः संबन्धिस्वरूप(१)भेदमितिव्यतिरेके वैपरीत्यावधारणात् *? । मैवम् ।**

टी० ईश्वरज्ञानस्य हि विश्वमेव कर्म्म, नच सा ज्ञानक्रिया फलनाश्या, नित्यत्वादिति तत्राव्याप्तिरित्याह–। [a]"सर्वज्ञमि"ति । 'फलनाशकत्वस्य' इति बहुव्रीहिः ॥ ननु कर्म्मादिप्रसिद्धिः किंनिबन्धनेत्यत आह–। [b]"तस्मादि"ति ॥ ननु धात्वर्थतावच्छेदक(२)परसमवेतक्रियाफलभागित्वं कर्मत्वं, तेन गमनस्योत्तरसंयोगो धात्वर्थतावच्छेदक(३)स्तद्भागी ग्रामादिः कर्म ; पतनस्याधः संयोगः फलं, नतु विभागः, तेन तद्भागिनोऽपादानस्य न कर्मत्वं ; त्यजेश्च पूर्वदेशविभाग एव धात्वर्थतावच्छेदक इति तद्भागिनो वृक्षस्य कर्मत्वाद् 'वृक्षं पर्णं त्यजती'ति भवत्येव ; वृद्धेरवयवोपचयस्य नावच्छेदकं तादृशं फलं, येन तद्भागितया तीरादेः कर्मत्वं स्यादित्यत आह–। [c]"शेषं चे"ति । ज्ञानादिक्रियाया अपि न तादृशं फलं, ज्ञाततादेर्निराकरिष्यमाणत्वात्, संस्कारस्य चाऽनावश्यकत्वादकर्मकत्वापत्ते(४)रिति भावः ॥

---

ननु माभूत् स्वप्रकाशे कर्मक्रियाविरोधः विषयविषयिभावविरोधस्तु स्यादित्याह–। [d]"नन्वि"ति ॥ विरोधमूलमाह–। [e]"संबन्धश्चे"ति ॥ तत्र हेतुमाह–। [f]"संबन्धमितेरि"ति । यत्र संबन्धिनोः स्वरूपभेदप्रमा तत्रैव संबन्धप्रमा, प्रकृते च संबन्धिभेदप्रमानिवृत्त्या संबन्धप्रमा-

---

(१) सम्बन्धिनोः स्वरूपं=सम्बन्धिस्वरूपं, तस्य भेदमितिः = भेदप्रमा, तस्या व्यतिरेके = ऽभावे, सम्बन्धमितेर्वैपरीत्यावधारणात् = अभावनिश्चयादित्यर्थः ।

(२) धात्वर्थतावच्छेदकस्य फलेऽन्वयः ।

(३) गमनं हि पूर्वदेशपरित्यागपुरःसरमुत्तरदेशसंयोगाऽनुकूलो व्यापारस्तत्र भवत्येवोत्तरसंयोगो धात्वर्थतावच्छेदक इत्यर्थः ।

(४) ज्ञानादिक्रियाणा अकर्मकत्वापत्तेरित्यर्थः ।

निवर्तते (1)तन्निवृत्तौ च प्रमेयस्य(2)निवृत्तिरिति नाभेदे विषयविषयिभावसम्बन्ध इत्यर्थः । यद्वा, भिन्नसम्बन्धिप्रमा सम्बन्धप्रमाकारणमतः कारणनिवृत्त्या कार्यनिवृत्तिरित्यर्थः ॥

मू० "विषयविषयिभावो हि सम्बन्धो न सम्बन्धिस्वरूपाद्भिन्नः, तथाभूतत्वेऽपि(3) चान्ततस्तत्सम्बन्धस्यापि स्वाश्रयात्मकत्वमभ्युपगम्यमनवस्थाभयात्, [b]तथा सति च सैव(4) यथा सम्बन्धमितिः सम्बन्धस्वरूपात्सम्बन्धिनोर्भेदमनादायैव पर्यवस्यतीत्यभ्युपगन्तव्यम् [c]स्वभावसम्बन्धस्येतरसम्बन्धमर्यादातिशायित्वात् [d]तथा विनापि सम्बन्धिभेदं विषयविषयिभावात्माऽयं सम्बन्धः पर्यवसास्यति, तदवगमोऽपि तथावगमव्यतिरेकेणैव भविष्यति को विरोधः? । * 'नचैवं घटतज्ज्ञानयोर्यादृग्विषयविषयिभावस्ततो मात्रया(5)ऽपि स्वप्रकाशे विषयविषयिभावाऽन्यत्वे बाध्यतैकत्र स्यात् * । अस्त्येव ह्यविद्याविद्यमाने घटतज्ज्ञाने बाध्यत्वं, परमार्थसति तु स्वप्रकाशे पारमार्थिकत्वमिति द्वयो[f]रननुगमेऽपि न दोषः ।

(1) व्यापकनिवृत्त्या व्याप्यनिवृत्तेरावश्यकत्वादिति भावः । यद्यपीदं वाक्यं स्वभावाद् व्याप्यनिवृत्त्या व्यापकनिवृत्तिमभिधत्ते तथापि प्रकृते साध्यसाधनयोः समव्याप्तिकत्वाद्व्यापकनिवृत्त्या व्याप्यनिवृत्त्यभिप्रायकमेवेत्येके प्राहुः; परे तु कारणनिवृत्त्या कार्यनिवृत्त्यभिप्रायकोऽयं ग्रन्थ इत्येव व्याचक्षते ।

(2) प्रमेयस्य = सम्बन्धस्य ।

(3) तथाभूतत्वेऽपि = सम्बन्धिस्वरूपाद्भिन्नत्वेऽपि ।

(4) साऽन्तिमसम्बन्धमितिः सम्बन्धिस्वरूपाद्भेदमनादायैव पर्यवस्यतीत्यभ्युपगन्तव्यं यथा, तथा प्रथमसम्बन्धमितिरपि स्यादिति भावः ।

(5) मात्रया = लेशतोऽपि, वैलक्षण्ये विरुद्धयोरुभयोः पारमार्थिकत्वायोगादेकत्र बाध्यता स्यादित्यर्थः ।

टी० [a]"विषयविषयिभाव"इति । त्वयापि विषयविषयिभावः सम्बन्धः सम्बन्धिभिन्नो नाऽभ्युपगम्यते, अन्यथा, तस्यापि सम्बन्धस्य सम्बन्धान्तरमभ्युपेयमेवं पर्य्यवसानं न स्यादित्यर्थः ॥ भिन्नसम्बन्धिमितेः सम्बन्धमितिं प्रति न कारणत्वं, न वा व्यापकत्वं,व्यभिचारादित्याह—। [b]"तथासती"ति ॥ ननु सम्बन्धान्तरापेक्षया कथमिदं वैषम्यमत आह—। [c]"स्वभावे"ति ॥ परमते स्वरूपसम्बन्धस्य सम्बन्धिद्वयात्मकत्वमुपपाद्य तद्दृष्टान्तेन स्वमते एकसम्बन्धिमात्रात्मकत्वं स्वरूपसम्बन्धस्योपपादयति—। [d]"तथा विनापी"ति ॥ ननु सम्बन्धान्तरापेक्षया स्वरूपसम्बन्धस्य वैषम्यमस्तु, त्वया तु स्वरूपसम्बन्धापेक्षयापि वैषम्यमुच्यते, इत्येकस्याऽवास्तवत्वमत आह—। [e]"नचे"ति । भेदे सति योऽयं विषयविषयिभावः स एव लोकसिद्धोऽपि बाध्यते, बाधस्याभिधास्यमानत्वात्; यथा सर्वलोकसिद्धः शरीरादावात्मव्यवहारो, यथा वा तमसि नीलव्यवहार इत्यर्थः ॥ [f]"अननुगमेपी"ति । लोकसिद्धविषयविषयिभावस्य भेदघटितत्वं, स्वप्रकाशविषयविषयिभावस्य चाऽभेदघटितत्वम्,—इत्यननुगमो न दोषः, भेदघटितस्य बाध्यत्वेनैकरूपतामात्रपरिशेषादननुगमस्यैवापास्तत्वात् । यद्वा, स्वरूपसम्बन्धः क्वचित्पारमार्थिकः क्वचिदपारमार्थिक इत्यननुगमेऽपि न दोष इष्टत्वादित्यर्थः ॥

मू० [a]अथवा, स्वात्मना सह क्रियाकर्म्मभावो विषयविषयिभावो वा स्वप्रकाशार्थ इति नाभ्युपेयमेव, [b]यथा तु भवतां सत्तासम्बन्धादितरत्र सद्व्यवहारव्यवस्था (सत्ता तु स्वयमेव सद्रूपा, नचैतावता स्वात्माश्रयता तस्याः) तथा ज्ञानमपि स्वत एव सिद्धस्वरूपम् ।

टी० ननु, सिद्धत्वेन कर्मत्वमसिद्धत्वेन च क्रियात्वं, तदुभयं चैकदा विरुद्धम्; एवं 'विषयविषयिभावः संबन्धः संबन्धिद्वयादभिन्नः'—इति

कथंचिदनवस्थादिभयेनाङ्गीकृतं (१); 'य एव संबन्धः स एव संबन्धी(२) स एव चापरः(३) संबन्धी'–इति तु सर्वथा दुर्घटं, केनानुरोधेनाभ्युपेयं ? कथं वा स्वपरिभाषामात्रेण व्यवहारसमर्थनम् ? (४) । यदि लोकसिद्धो विषयविषयिभावो नाद्वैतं सहते तदा तदपि त्यज्यतामित्याशयेनाह(५)–। a "अथवे"ति ॥ b "यथा तु भवतामि"ति । * न च सत्ता न सद्व्यवहारहेतुः किंतु सत्तासमवायः, स च यथा घटादौ तथा सत्तायामपि, तस्य संबन्धत्वेन द्विष्ठत्वात्; सामान्यान्त्यविशेषेषु सत्तैकार्थसमवायात्; तदेकार्थ(६)समवायोऽपि हि तत्समवाय एवेति वाच्यम् * । तर्हि सत्तासमवायः स्वरूपत एव सन्निति वक्तव्यम्, तथा च यथा सत्तायां वा तत्समवाये वा स्वरूपतः सद्रूपत्वमस्त्ययं तथा परसिद्धिर्ज्ञानात् ज्ञानसिद्धिस्तु स्वत एवेत्यर्थः ।

मू॰ a"अथवा, यथा बहुव्रीहिसमासे तद्गुणसंविज्ञाने गुण(७)मादायैव प्रधानस्यान्यपदार्थस्य बहुव्रीहिसिद्धपदप्रतिपाद्यता तथा विज्ञानस्याऽविषयमपि स्वात्मानमादायैव स्वविषयव्यवहारप्रवर्तनं समर्थ्यताम् । b सोऽयं गुरूणां सविषयकविज्ञानस्वप्रकाशतापक्षो न ब्रह्मस्वप्रकाशतापक्षः, तत्र विषयाभावात् । 'एतावन्मा-

(१) अत्रापि 'विरुद्धम्'–इत्यनुषञ्जनीयम् ।

(२) सम्बन्धी=सम्बन्धप्रतियोगी ।

(३) अपरः सम्बन्धी = सम्बन्धाऽनुयोगी ।

(४) 'समर्थनम्'-इत्यन्तं पूर्वपक्षग्रन्थः; तदग्रे 'इति चेत्'-इत्यध्याहृत्य 'यदि लोकसिद्धः'-इत्यादिः सिद्धान्तग्रन्थो योजनीयः ।

(५) केषुचित्पुस्तकेषु 'इत्याशयेनाहे'त्यस्य स्थाने इत्याशङ्क्याह'-इति पाठो दृश्यते सोऽयं 'समर्थनम्'-इत्यन्तपूर्वपक्षग्रन्थानवबोधेन कैश्चिदाधुनिकैः प्रकॢप्त इत्यालक्ष्यते ।

(६) ननु, एकार्थसमवायस्य विशेषेषु सद्व्यवहारोपपादकत्वेऽपि शुद्धसमवायस्य कथं तदुपपादकत्वमित्यत आह–तदेकार्थेति ।

(७) गुणं = गौणं समस्यमानकरणादिपदार्थम् ।

**त्रेण तु स्यात्,-यथा स्वाऽविषयेपि कुटादौ बहुव्रीहि वाक्यं व्यवहारं प्रवर्तयति-इति, तथा ज्ञानमविषयेप्यात्मन्यविद्यादशाया(१)मिति।**

टी० ननु, "ज्ञानं स्वत एव सिद्धमि" त्यनुपपन्नम्। "स्वत"-इति पञ्चम्या सिद्धिं प्रति स्वस्य हेतुत्वमभिधीयते, सिद्धिश्च द्वयी-ज्ञप्तिरुत्पत्तिर्वा न स्वस्माद्भवितुमर्हति, हेतुहेतुमद्भावस्य ज्ञाप्यज्ञापकभावस्य वा संबन्धस्य भेदघटितत्वात्। सत्ता तु सत्तया नोत्पाद्यते ज्ञाप्यते वा; किंतु विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वादिना सदन्तरगुणेन (२) 'सत्ता सती'-इति गौणो व्यपदेश इति महद्वैषम्यमित्याशये (३) नाह-। a"अथवे'ति। यथा लम्बकर्णादिपदं स्वविषये शक्त्या (४), लक्षणया वाऽन्यपदार्थे व्यवहारं प्रवर्तयदेव स्वाविषयेपि समस्यमानपदार्थे व्यवहारं प्रवर्तयति तथा ज्ञानं स्वविषये घटादौ व्यवहारं प्रवर्तयत्स्वाविषयेपि स्वस्मिन् व्यवहारं प्रवर्तयतीति, व्यवहारस्य ज्ञानसाध्यत्वात्; स्वभिन्नज्ञानसाध्यत्वस्य गौरवेणापास्तत्वादित्यर्थः॥ ननु, 'स्वविषये ज्ञानं व्यवहारं प्रवर्तयत्स्वस्मिन्नपि व्यवहारं प्रवर्तयति'-इति वेदान्तिनामनभिमतं, विषयाऽनभ्युपगमादित्यत आह-। b"सोयमि" ति। गुरूणां=प्राभाकरगुरूणां, मान्यानां वा॥ अविषये व्यवहारप्रवर्तनं गुरूणामिव वेदान्तिनामपि तुल्यमिति तन्मात्रेतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिपदं दृष्टान्त इत्याह-। c"एतावन्मात्रेणे"ति। कुटः=घटः, "घटः कुटनिपावस्त्री"-

---

(१) 'अविद्यादशायाम्' = इत्यतोनन्तरं 'व्यवहारं प्रवर्तयति'--इत्यनुषञ्जनीयम्।

(२) सदन्तरगुणेन = द्रव्यगुणकर्माऽन्यतमगुणेन।

(३) इत्याशयेनाह, इति = पूर्वपक्षिणा आशयं हृदि निधायाऽस्वरसेन पक्षान्तरमाहेत्यर्थः। अस्यैवार्थस्याऽनवबोधात् केश्चिदत्र 'इत्याशङ्क्याह'-इत्येव पाठः क्लृप्तः, स चाऽसङ्गतः, बहूनामनुग्रहस्य न्याय्यत्वाद्गतिसम्भवाच्च। एवमग्रेपि।

(४) स्वविषये ऽन्यपदार्थे शक्त्या, लक्षणया वा, व्यवहारं प्रवर्तयदिति सम्बन्धः, वैयाकरणानां मते शक्त्या व्यवहारं प्रवर्तयन्नैयायिकानां च लक्षणयेति ध्येयम्।

इति कोशा(१)त्। "गाङ्कुटादिभ्यः" इत्यादिसूत्रस्थकुटपदं वा दृष्टान्तः। कुटादौ=कुटादिस्थले, यद्बहुव्रीहिवाक्यं तत्स्वाविषयेऽपि व्यवहारं प्रयोजयतीति योजना; न तु(२)सप्तम्योः सामानाधिकरण्यम्॥ ननु, स्वाविषये स्वस्मिन् ज्ञानं व्यवहारप्रवर्तकमित्यत्रापि तवाऽद्वैतवादिनो न दृष्टान्तोऽस्ति, दृष्टान्तस्य व्यवहारस्य च ब्रह्मगोचरस्याऽनभ्युपगमादित्यत आह—। [d]"अविद्ये"ति॥

मू० [a]तदेवं यद्यदन्यत्र(३)दृष्टवैधर्म्यं स्वप्रकाशे पर्य्यवसास्यति तत्सर्वमन्यथानुपपत्तिरेव स्वप्रकाशसाधकतया प्रदर्शिता स्वीकारयिष्यति। [b]तद्यथा—अन्यो ज्ञाताऽन्यश्च ज्ञेय इत्यन्यत्र दृष्टमहमिति व्यवहारान्यथानुपपत्त्या त्याज्यं; तथाऽन्यज्ज्ञानमन्यज्ज्ञेयमिति जानामीति व्यवहारान्यथानुपपत्त्या त्याज्यं; [c]सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिस्तथादृष्टतामात्रबलमवलम्ब्य प्रवृत्तं तर्कशतमपि बाधते।

टी० ननु, कुटादावपि तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहेरनुशासनबलाल्लक्षणया, शक्त्या वा, कुटोऽपि विषय एव; तथाच व्यवहारानुरोधात्स्वप्रकाशेऽपि कर्मक्रियाभावो विषयविषयिभावो वाऽवश्यमङ्गीकर्त्तव्यः, स चाऽभेदे सर्वथानुपपन्न इति कथं स्वप्रकाशत्वम्?। न च दृष्टान्तमात्रादिष्टसिद्धिः, इति प्रमाणं किंचिदावश्यकमत आह—। [a]"तदेवमि"ति। ज्ञानस्य ज्ञानान्तरप्रकाश्यत्वेऽनवस्था, शेषासिद्धा सर्वासिद्धिरनिर्मोक्षापत्तिश्चेत्यन्यथानुपपत्त्या स्वप्रकाशताऽवश्यमङ्गीकर्त्तव्या, सा च यावता विना न सिद्ध्यति तावदवश्यमङ्गीकर्त्तव्यम्; अतो विषयविषयिभावं क्रियाकर्मभावं वा कथमद्वैतेऽप्यर्था-

(१) का. २। वैश्य व.। श्लो. ३२।

(२) अस्मिन्द्वितीयवर्णके "स्वाऽविषये" "कुटादावि"ति सप्तम्योः पूर्ववर्णके प्रदर्शितसामानाधिकरण्यवत्सामानाधिकरण्यं नेत्याह-नत्विति।

(३) अन्यत्र=लोके कर्मक्रियाभावो विषयविषयिभावो वा भेदे दृष्टस्ततो वैधर्म्यं ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वेऽभेदे कर्मक्रियाभावादिः।

पत्तिर्न साधयिष्यतीत्यर्थः ॥ ननु, यदन्यत्रादृष्टं तदप्यन्यथानुपपत्तिः साधयतीत्यप्यदृष्टमेवेत्यत आह—। [b]"तथ्यमि"ति। ज्ञातुर्ज्ञेयत्वं, ज्ञानस्य च ज्ञेयत्वमन्यत्रादृष्टचरमप्यहमिति व्यवहारान्यथानुपपत्त्या, जानामीति व्यवहारान्यथानुपपत्त्या च, त्वयाभ्युपेयते, तथा प्रकृतेपीत्यर्थः ॥ नन्वन्यथानुपपत्तेः कथमयं महिमा? कथं वाऽन्यथानुपपत्तिरेव दृष्टेन न बाध्यते? इत्यत आह—। [c]"सर्वत"इति। यदि तज्ज्ञानं क्रिया स्यात्तदा कर्म न स्यात्, यदि विषयः स्यात्तदा विषयि न स्यात्, यदि स्वं न विषयीकुर्यात्तदा स्वस्मिन् व्यवहारं न प्रवर्तयेत्—इत्यादितर्कशतमप्यन्यथानुपपत्तिबाध्यमेव, नतु तद्बाधकमित्यर्थः ॥

मू० [a]तदिदमाहुः,—"प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि"(१)इति। [b]तस्मात्—

अन्यथानुपपत्तिश्चेदस्ति वस्तुप्रसाधिका।
पिनष्टि दृष्टवैमत्यं(२)सैव सर्वबलाधिका ॥ ६ ॥
वाच्यान्यथोपपत्तिर्वा त्याज्यो वा दृष्टताऽऽग्रहः।
नह्येकत्र समावेशश्छायाऽऽतपवदेतयोः ॥ ७ ॥ इति।

[c]तदित्थं त्वदङ्गीकृतसद्विचारलक्षणोपपन्नैरेवंविधैर्विचारैः स्वप्रकाशता भवता सुप्रतिपदा; [d]अस्माभिस्तु संवेदनबलादेव स्वतःसिद्धरूपं विज्ञानमास्थीयते इति।

टी० ननु, तवैवं प्रौढिमात्रं नतु प्रमाणिकानामिदमनुमतमत आह—। [a] "तदिदमि"ति । यत्रादृष्टे प्रमाणं प्रवर्तते तददृष्टमपि (नित्यं ज्ञानम्; अशरीरी कर्त्ता; सुखदुःखात्यन्ताभाववानात्मा; निःस्पर्शं मूर्त्तं,यथा मनः; जातमप्यविनाशि, यथाध्वंसः; अनुत्पन्नमपि विनाशि,यथा प्रागभावः; स्वयमेव स्ववृत्ति, यथा प्रमेयत्वं) प्रामाणिकैरभ्युपगम्यते इत्यर्थः। अर्था-

(१) "अदृष्टशतभागोऽपि न कल्प्यो निष्प्रमाणकः"—इत्युत्तरार्द्धम्।
(२) दृष्टवैमत्यं = प्रत्यक्षविरोधं, पिनष्टि = परिहरतीत्यर्थः।

पत्तेरन्यथोपपत्तिमात्रं बाधकं, प्रकृते तु सा नास्त्येवोक्तयुक्तेरित्यर्थः ॥ उक्त मर्थं श्लोकद्वयेन संगृह्णाति—। [b]"तस्मादि"ति ॥ नन्वर्थापत्त्या स्वप्रकाशतासिद्धावपि द्वैतं तदवस्थमेव, स्वप्रकाशज्ञानभिन्नाया अर्थापत्तेर्विचारस्य चैतादृशस्यं त्वयाप्यभ्युपगमादित्यत आह—। [c] "तदित्थमि"ति । नेयमर्थापत्तिर्न चायं विचारो मयाभ्युपेयते किंतु त्वदभ्युपगमेन त्वं बोध्यसे इति न द्वैतापत्तिरित्यर्थः ॥ तर्हि स्वप्रकाशज्ञानसिद्धिरपि कथं तवेत्यत आह—। [d]"अस्माभिरि"ति । यद्यपि तदेव ज्ञानं(१)प्रकाशकं, प्रकाश्यम्, अभ्युपगन्तव्यम्, अभ्युपगमः, अभ्युपगन्तृ(२), स्वप्रकाशत्वेन परबोधनं, बोध्यश्च परः, बोधकं वचनं चेति संकलयतो महासाहसिकत्वमसंकलयतश्च द्वैतापत्तिस्तथापि प्रपञ्चबाधाया वक्तव्यतया तत्रैव पर्य्यवसास्यतीति हृदयम् । यद्यपि यत्स्वप्रकाशं ज्ञानं त्वयाभ्युपगतं तस्य सर्वोऽयं प्रपञ्चः, स्वं च विषय इत्यस्तु, तथाच तद्विषयतया न प्रपञ्चमिथ्यात्वं, नाप्यद्वैतं, प्रपञ्चस्यैव सत्त्वात्; नापि तादृशे(३)तत्र प्रमाणान्तरापेक्षा, स्वतः सिद्धत्वात्; नाप्यस्माकमपसिद्धान्तः, ईश्वरज्ञानस्य तादृशस्यास्माभिरभ्युपगमात् ; नापि ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यतापत्तोक्तदोषः, तेनैव सर्वविषयकेण सर्वदोषनिरासात्; तथाच स्वबधाय कृत्योत्थापनमेतत्–स्वप्रकाशज्ञानसाधनम् । *तस्य प्रपञ्चो विषय इत्यत्र किं प्रमाणम्*?—इति चेत्, प्रपञ्चविषयतायामपि तस्यैव ज्ञानस्य प्रमाणत्वात्; त्वन्मते स्वप्रकाशतायामिव । अस्माकं तु तद्भिन्नमपि धर्मिग्राहकं(४)प्रमाणमस्ति, न च तज्ज्ञानविषयीकृतं(५)प्रपञ्चं खण्डनयुक्तयोऽप्यपनेतुमीशते, सुदृढप्रमाणसिद्धत्वात् । तस्मात्,–"त्वया निर्माय दत्तेऽस्मिन् स्वप्रकाशैकमन्दिरे । न्यासीकृतः प्रपञ्चोऽयं नापह्नोतुं तवार्हति । प्रकाशपाशबद्धानां प्रपञ्चानां विमोचने । प्रभवन्तु स्वयं बाध्याः

(१) तदेव ज्ञानं प्रकाशकप्रकाश्याद्यष्टविधरूपेण व्यवस्थितं विचारयतो महासाहसिकत्वमित्यन्वयः ।

(२) 'अभ्युपगन्ता चे'त्यपि क्वचित्पाठः । (३) तादृशे = स्वप्रकाशज्ञाने ।

(४ ईश्वरप्रवृत्तिर्ज्ञानप्रयोज्या प्रवृत्तित्वादस्मदादिप्रवृत्तिवदित्याकारकमीश्वरज्ञानलक्षणधर्मिसाधकमनुमानमेवेश्वरज्ञाने प्रपञ्चविषयकत्वमपि प्रसाधयिष्यतीत्यर्थः-

(५) ईश्वरज्ञानविषयीकृतमित्यर्थः ।

कथं खण्डनयुक्तयः" तथापि प्रपञ्चखण्डनयुक्तयस्त्वया बाधितुमशक्या इति हृदयम् ॥

मू० [a]'एवं च सति सौगतब्रह्मवादिनोरयं विशेषो यदादिमः सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति (तदुक्तं भगवता लङ्कावतारे (१)–[b]"बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते । अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः(२)" इति) 'विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सदसद्भ्यां विलक्षणं ब्रह्मवादिनः संगिरन्ते। तथाहि–नेदं सद्भवितुमर्हति, वक्ष्यमाणदूषण(३)ग्रस्तत्वात् । नाप्यसदेव, तथा सति लौकिकविचारकाणां(४) सर्वव्यवहारव्याहत्यापत्तेः। यदपि 'निर्वक्तुमसामर्थ्ये गुरव उपास्यन्तां येभ्यो निरुक्तयः शिक्ष्यन्ते'–इत्युपालम्भवचनं तत्तदा शोभेत यदि मेयस्वभावाऽनुगामिनीयमनिर्वचनीयतेति न ब्रूयुः, वक्तृदोषादिति च वदेयुः। [d]'यस्तु वादी निरुक्त्यभिमानं धत्ते स निर्वक्तुं नतु शक्ष्यति, वक्तव्यदोषात्(५) ।

टी० ननु, यदि विचारोपि त्वया नाभ्युपेयते तदा माध्यमिकमतप्रवेशात्तवापि दर्शनमदर्शनमेवेत्यत आह–। [a]"'एवं चे"ति । आदिमः=सौगतः, भगवता=बौद्धेन (६), समन्तभद्रो भगवान्मारजिल्लोकजिज्जि-

---

(१) विद्यासागरास्तु "अलङ्कारावतारे"–इति पाठं व्याचक्षते ।

(२) देशिताः=उपदिष्टाः सन्तः ।

(३) लक्षणाधीना हि लक्ष्यव्यवस्थितिर्लक्षणानि चाऽनुपपन्नानीत्यादिदूषणग्रासादित्यर्थः ।

(४) लौकिकविचारकाणां, लौकिकानां परीक्षकाणां चेत्यर्थः ।

(५) भेदप्रपञ्चस्य स्वतः परतो वा सिद्ध्यसम्भवरूपाद्वक्तव्यदोषात्, अद्वैतागमेन प्रतिपक्षोपाधो बाधरूपाद्वा ।

(६) अत्र 'बुद्धेन'–इति पाठस्समुचितः । 'बौद्धेन'–इति पाठे तु बुद्ध एव बौद्ध इति कथञ्चिद्व्याकरणीयम् ।

न"—इति कोशात्; लङ्कावतारसूत्रादागमग्रन्थः ॥ [b]"बुद्ध्ये"ति। यथा बुद्ध्यतिरिक्तः पदार्थो बुद्ध्या विविच्यमानो विचारं न सहते तथा बुद्धिरपि विविच्यमाना विचाराऽसहत्वाद्निरभिलप्या=अनिर्वचनीया, निःस्वभावा=असतीत्यर्थः (१) ॥ सौगतदर्शनात् स्वदर्शनं भिनत्ति—। [c]"विज्ञानव्यतिरिक्तमि"ति। 'भवितु(२)मर्हति'—इत्यधिकमपि लौकिकमनुरुद्ध्योक्तम्। मेयस्यायं स्वभावो यदस्य निर्वचनमशक्यं न तु निर्वक्तुः(३); स च तदा स्याद्यदि कोपि शक्नुयान्निर्वक्तुं, येपि गुरव उपासनीयास्तेपि निर्वक्तुमकुशला एवेत्यर्थः ॥ त्वमपि गुरुर्भूत्वा मां शिक्षय यदि पारयसीत्याह—। [d]"यस्त्वि"ति॥

मू० *[a]नच ते दोषाः स्वकमपि घ्नन्तो जातयः कथं न स्युरिति वाच्यम्*, [b]यतो निर्वचनीयत्वं बाध्यते तै दोषैः स्वयमप्यनिर्वचनीयैरेव, अनिर्वचनीयैरेव च तैर्व्यवह्रियते एवेति कुतोऽस्मान् प्रति व्याघातः स्यात् [c]तज्जातित्वस्य च निरुच्य योजयितुमशक्यत्वात्। * [d]ननु"सदसत्पक्षयोर्दोषदर्शनादनिर्वचनीयता"—इति ब्रुवाणस्य किं सदसत्त्वसंशयः? किं वा सदसत्त्वपक्षबहिर्भावाभ्युपगमः? [e]आद्ये भवितव्यं तावत्सदसत्त्वयोरन्यतरेणेत्येकपक्षदोषस्याभासत्वं, [f]तच्च सत्त्वपक्षदोषस्यैवाऽभ्युपेयमावश्यकत्वात्।

टी० ननु(४)"वक्ष्यमाणदूषणग्रस्तत्वात्"—इत्ययमपि हेतुर्वक्ष्यमाणदूषणग्रस्त एव, तथाच स्वव्याघातकतया जात्युत्तरमेतत्; यथा(५)'नेदं

(१) बुद्धेर्निःस्वभावत्वोपवर्णनं भावार्थो नत्वक्षरार्थः।

(२) ननु मूले"नेदं सद्भवितुमर्हति"—इत्यत्र"नेदं सत्"—इत्येव पर्य्याप्तं किं भवितुमर्हतीत्यधिकोक्त्या, अर्थाऽव्यतिरेकात्पुनरुक्तेश्चेति तत्राह—भवितुमिति ॥ "लौकिकमि"ति, लोके धार्य्यं धारितं, ग्राह्यं गृहीतम्, इत्यादौ यथा पुनरुक्तिर्न दोषस्तद्वदिहापीति भावः।

(३) 'न तु निर्वक्तुः"—इत्यत्र 'स्वभावः'—इत्यनुषज्यते, निर्वक्ता चात्र सदोषपुरुषस्तेन न "यदि कोपि शक्नुयात्"—इत्यग्रिमग्रन्थासङ्गतिः।

(४) न्यायाऽलङ्कारग्रन्थेऽनिर्वचनीयतादूषणं यदभाणि तदनुवदति—नन्विति।

(५) जात्युत्तरमेवोदाहरति—'यथा नेदम्' इत्यादिना। इदं = धूमलक्षणं साधनं,न

साधकं, सर्वथाऽनुपलभ्यमानोपाधिशङ्काग्रस्तत्वात्'–इत्यादि ; तर्ह्यादि दोषाणामपि बाध्यत्वं, तदा प्रपञ्चः कथं बाध्यतां तैरित्याशङ्कते–। "[a]नचे" ति ॥ बाध्यैरेव दोषैर्जगद्बाध्यमित्यङ्गीकृत्य प्रवृत्तं मां प्रति न स्वव्याघातदोषावकाश इत्याह–। [b]"यत"इति ॥ ननु, स्वव्याघातकं दोषं प्रयुञ्जानस्त्वं जातिवादी निरनुयोज्यानुयोगेन निग्रहस्थानेन निगृहीत इति जितमस्माभिरित्यत आह–। [c]"तज्जातित्वस्ये"ति । वक्ष्यमाणदोषैर्जातिलक्षणमपि निर्वक्तुमशक्यमेवेति जातित्वमव्यवस्थाप्याहं निग्रहीतुमशक्य इत्यर्थः ॥ यथा, शब्दे नित्यत्वानित्यत्वयोर्द्वयोरपि दोषदर्शनादुभयकोटिकः संशयस्तथा प्रपञ्चे सत्त्वासत्त्वयोर्दोषदर्शनात्संशयो वा ? कोट्यन्तराभ्युपगमो वा ?–इति विकल्प्य सत्त्वपक्षोऽयं (१) शङ्कते–। [d]"नन्वि"ति॥ [e]"आद्ये"इति । परस्परविरहस्वभावकोटिकसंशयधर्मिणा एककोट्यात्मकत्वावश्यकत्वात् तस्यां वास्तव्यां कोटौ दोषा नूनमाभासा इत्यर्थः ॥ [f]"तच्चे"ति । आभासत्वमित्यर्थः ॥

मू० [a]यदि तावत्सत्त्वपक्षस्तदा सत्त्वपक्ष दोषः [b]कथं संगच्छेत, [c]अथाऽसत्त्वपक्षस्तदा सर्वासत्त्वे तद्दोषः कथं सद्भाववान् भवितुं प्रभवेत् । [d]द्वितीयस्तु व्याघातादेवाऽसंभवी, "परस्पर(२)विरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः" इति ? *। तदेतदनाकलितपराभिसन्धेः प्रत्यवस्थानम् । यो हि सर्वमनिर्वचनीयसदसत्त्वं (३) ब्रूते स कथमनिर्वचनीयतासत्त्वव्यवस्थितौ पर्य्यनुयुज्येत, सापि हि कृत्स्नप्रपञ्चपरसर्वश

वह्निलक्षणसाध्यसाधकं, सर्वथाऽनुपलभ्यमानोपाधिशङ्काग्रस्तत्वादित्युक्ते भवति स्वोक्तस्यापि "सर्वथाऽनुपलभ्यमानोपाधिशङ्काग्रस्तत्वात्"–इत्यस्य हेतोर्व्याघातः, तस्यापि धूमलक्षणसाधनवत्सर्वथाऽनुपलभ्यमानोपाधिशङ्काग्रस्तत्वात्; अत एव च जात्युत्तरत्वं, घातकमसदुत्तरं जातिरि"ति वचनात् ।

(१) 'सत्यपक्षोऽयम्'–इत्यपि क्वचित्पाठः ।

(२) कुसमाञ्जलावुदयनोक्तं व्याघातमेवोपपादयति–परस्परेति । "नैकतापि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधतः"–इत्युत्तरार्द्धम् ।

(३) अनिर्वचनीये=निर्वचनानर्हे, सत्त्वासत्त्वे यस्य तदनिर्वचनीयसदसत्त्वम् ।

न्दाभिधेयमध्यनिविष्टैव। [f]परस्यैव व्यवस्थयैवं पर्य्यवस्यति–निर्वचनप्रतिक्षेपादनिर्वचनीयत्वं, विधिनिषेधयोरेकतरनिरासस्येतरपर्य्यवसायिताया [g]स्तेनाभ्युपगमात्। [h]ततः परकोयरीत्येदमुच्यते,–'अनिर्वचनीयत्वं विश्वस्य पर्य्यवस्यति' इति। [i]वस्तुतस्तु, वयं सर्वप्रपञ्चसत्त्वाऽसत्त्वव्यवस्थापनविनिवृत्ताःस्वतः सिद्धे चिदात्मनि ब्रह्मतत्त्वे केवले भरमवलम्ब्य चरितार्थाः सुखमास्महे।

टी० आवश्यकत्वमेवाह–। [a] "यदि तावदि"ति॥ [b] "कथमि"ति पारमार्थिकत्वदुष्टत्वयोरेकत्रासंभवादित्यर्थः॥ असत्त्वपक्षेऽपि सत्त्वपक्षदोषस्याभासत्वमुपपादयति–। [c]"अथे"ति। तद्दोषः–सत्त्वपक्षदोषः॥[d]"द्वितीय"इति। सदसत्त्वपक्षबहिर्भाव इत्यर्थः॥ मदभिमतायामनिर्वचनीयतायां विकल्प्य दोषाभिधान प्रकारान्तरेण (१)निर्वचीयतायाः सत्त्वव्यवस्थित्यै त्वया कृतं, सोऽयं दोषाभिधानलक्षणः पर्य्यनुयोगो न मयि घटते, यतोऽनिर्वचनीयताख्यस्यापि धर्मस्याऽनिर्वचनीयतैव मदभिमतेत्याह–। [e]"यो ही"ति॥ ननु, यद्यनिर्वचनीयता न त्वया व्यवस्थापनीया तदा कथं व्यवतिष्ठेतेत्यत आह–। [f]"परस्ये"ति॥ [g]"तेने"ति। परेणेत्यर्थः॥ [h]"तत"इति। अनिर्वचनीयत्वं मया न साध्यते किंतु 'निर्वचनखण्डनेन पारिशेष्यादनिर्वचनीयत्वं सिद्ध्यति'–इति ब्रूमः॥ नन्वनिर्वचनीयत्वं मा साध्यतां, परिशेषसिद्धानिर्वचनीयताभ्युपगमेनापि द्वैतापत्तिस्तदवस्थेत्यत आह–। [i]"वस्तुतस्त्व"ति। परिशेषसिद्धेप्यनिर्वचनीयत्वे मम नाभ्युपगमः,अपि तु त्वं तथा बोध्यसे इत्यर्थः। भरम्–अध्यवसायम्॥

मू० [a]ये तु स्वपरिकल्पितसाधनदूषणव्यवस्थया विचारमवतार्य तत्त्वं निर्णेतुमिच्छन्ति तान् प्रति ब्रूमः–न सा-

(१) प्रकारान्तरेण = सत्त्वप्रकारेणैव, निर्वाच्यत्वस्य सत्त्वव्यवस्थित्यर्थमित्यर्थः क्वचित्तु "अनीर्वचनीयताया,: सत्त्वव्यवस्थित्यै"–इति पाठस्तत्र प्रकारान्तरेण = अनिर्वचनीयत्वप्रकारेणैवानिर्वचनीयतायाः सत्त्वव्यवस्थित्यर्थमित्यर्थः।

ध्वीयं भवतां विचारव्यवस्था, भवत्कल्पितव्यवस्थयैव व्याहतत्वात्। [b]अत एवाऽस्मदुपन्यस्यमानदूषणस्थिति-विषयाः पर्य्यनुयोगा निरवकाशाः, [c]त्वद्व्यवस्थयैव त्वद्व्यवस्थाया व्याहत्युपन्यासात्। *[d]नचोपन्यास एव निर्बन्धकारणम्*, विचारोपन्यासस्य(१)सदसत्त्वोपगमाद्युदासीनैर्विचार्य्यमित्युपेत्यैव परं विचारप्रवर्तनायाः शक्यत्वामित्यावेदितत्वात्। [e]यदि तु "विचारस्य सत्त्वमनभ्युपेत्या न विचारयितुं शक्यम्"—इत्युच्यते, तदा प्रमाणमव्यापार्य्य(२)न तदीयसत्त्वाभ्युपगमोपि शक्यतेऽतिप्रसङ्गात्; इति विचारस्यापि विचार्य-ग्रहणेऽनवस्थया विचारारम्भ एवाऽशक्यः स्यात्। *[f]नच पूर्वपूर्वसिद्धस्वाद्विचारे विचारान्तरमिदानीमगवेषणीयम्(३)*। [g]विचारस्य पूर्वसिद्धत्वे विचार्य्य-रूपस्वविषयव्यवस्थितत्वात् तस्य, विचार्य्यमपि पूर्वमेव विचारितमित्यनारम्भ एव विचारस्य।

टी० ननु, तर्हि सदसत्त्वविचारेऽपि किमर्थं ते प्रवृत्तिरित्यत आह—[a]"येत्वि"ति। अस्मभिमततत्त्वदूषमात्रेण विचारैस्त्वदभ्युपगतविचारमर्यादया प्रवर्तामहे इत्यर्थः॥ [b]"अत एवे"ति। यतः परपरिकल्पितसाधनदूषण-व्यवस्थयैव प्रवर्तामहे नतु स्वयं साधनदूषणादिव्यवस्थामभ्युपगच्छामो। येन

---

(१) विचारोपन्यासनिष्ठे ये सत्त्वाऽसत्त्वे तदुपगमाद्युदासीनैरित्यर्थः, एकदेशान्वयश्च "मरैः शातितपत्त्राणि" इति वत् दोषावहः। "विरोधोपन्यासस्य"—इति क्वाचित्कः पाठस्तु प्रामादिकः।

(२) प्रमाणमव्यापार्य्याऽप्रवर्त्याऽनुपन्यस्येति यावत्। तदीयसत्त्वाऽभ्युपगमः= विचारसत्त्वाभ्युपगमोऽपि न, शशशृङ्गादेरपि सत्त्वाभ्युपगमप्रसङ्गात्; तथाच प्रमाणं व्यापार्य्य विचारसत्त्वाङ्गीकारे प्रमाणव्यापारोऽपि कथात्मकविचारान्तरे, तस्यापि च सत्त्वाभ्युपगमो विचारान्तरे, वक्तव्य इत्यनवस्थानात्प्रथममेव मतिकर्दमे विचारारम्भणमेवाशक्यमापद्येतेत्यर्थः।

(३) "इदानीं न गवेषणीयम्"—इत्यपि पुस्तकान्तरे दृश्यमानः पाठः साध्वेव।

तदाश्रिता अद्वैतव्याघातादयो दोषाः स्युरित्यर्थः ॥ "अत" इत्यस्यातिदेश्यमाह—। [c] "त्वद्व्यवस्थये"ति ॥ ननु, विचारे व्याघातोपन्यासस्त्वया कर्त्तव्य इति विचारस्य, व्याघातोपन्यासस्य च, सत्त्वमभ्युपगतमिति द्वैतापत्तिरेवेत्यत आह—। [d] "नचे"ति । 'प्रमाणादेरिव विचारव्याघातोपन्यासयोरपि सत्त्वमनभ्युपगम्यैव विचारे प्रवृत्तिः शक्या'—इत्युक्तत्वादित्यर्थः ॥ प्रथमं मतिकर्द्दमेन विचारप्रवृत्तिरेव न स्यात्'—इत्युक्तं स्मारयति—। [e] "यदि-त्वि"ति ॥ ननु, विचारस्यापि विचार्य्य ग्रहणे विचाराप्रवृत्तिः स्यात्, नत्वेवं, किं तर्हि पूर्वमेव विचारः सिद्धः? (१)इत्यत आह—। [f] "नचे"ति ॥ विचारसिद्धिर्विचार्यसिद्धिनान्तरीयकी, ज्ञानस्येव विचारस्यापि सविषयकत्वात्; तथाच किं विचारेण, विचार्य्यसिद्धेस्तत्फलस्य संपन्नत्वादित्याह—। [g] "विचारस्ये"ति ॥

मू० [a] "अथ*विचार्य्यविशेषस्य पूर्वमसिद्धत्वात् तदर्थं विचारारम्भः? *, [b] तर्हि विचारविशेषस्यापि तद्विषयकस्य पूर्वमसिद्धिरेवेति वृथा शुष्क(२)चर्वणम् । [c] यदि च त्वद्दर्शनरीत्याभिधीयमानमस्माभिर्बाधं बाधसे तदा स्वाभ्युपगतरीतिबाधाभिधायितैव ते स्यात् । [d] अस्माभिर्निर्वाह्यमानस्य त्वया खण्डनयुक्त्यैव बाधेऽस्माकमेव जेतृता, " [e] खण्डनयुक्तयो बाधिकाः, निर्वाह्यपक्षश्च बाध्यः"—इत्यस्याऽस्मदुक्तपक्षस्य त्वयैव निर्वाहात् ।

टी० ननु, विचारलक्षणस्य विचार्य्यस्य पूर्वसिद्धत्वेपि प्रपञ्चसत्त्वासत्त्वलक्षणस्य विचार्यविशेषस्य न पूर्वसिद्धत्वमिति तदर्थमयं विचारः स्यादेवेत्याह—। [a] "अथे"ति ॥ तर्हि स विचार्य्यविशेषो यस्य विचारस्य

(१) पूर्वमेव विचारः सिद्धः। अनादिसिद्ध इत्यर्थः तथा च बीजाङ्कुरवदनादित्वान्नानवस्थेति भावः ।

(२) शुनः शुष्कास्थिचर्वणं यथा वृथा तथेदमित्यर्थः ।

विषयः सोऽप्यसिद्ध एव, तत्सिद्धौ विचार्यविशेषस्यापि सिद्धत्वप्रसङ्गात्' एवं 'ततः पूर्वपूर्वसिद्धत्वाद्विचारे विचारान्तरमिदानीमगवेषणी(१)यम्'—इति यदुक्तं तच्छुष्कचर्वणमित्याह—। [b]"तर्ही"ति ॥ ननु, प्रवर्त्यतां विचारः, तत्र विचारे त्वदुक्ता दोषा मया युक्त्यन्तरेण बाधनीया इत्यपर्यवसानं स्यादित्यत आह—। [c] "यदि चे"ति ॥ ननु, दोषा अपि हेत्वाभासादयस्त्वया खण्डिता एव, तदेव खण्डनमादाय त्वयोद्भाव्यमाना दोषा मयापि खण्डनीया, इत्यहमेव जेष्यामित्यत आह—। [d] "अस्माभिरि"ति। यद्यपि तस्यां कथायां त्वदुपन्यस्तदोषाणां परेण खण्डनयुक्त्या बाधने परस्य जेतृता, न तव, उपन्यस्तदोषस्य त्वयाऽनिर्वाहात्; तथापि परेण खण्डनयुक्तीनां बलवत्त्वं तावदङ्गीकृतमित्येतावतैव मम जेतृतेति (२)हृदयम् ॥ कथं जेतृतेत्यत आह—। [e] "खण्डने"ति ॥

मू० [a]तस्मात्त्वया निर्वाह्यमस्माभिस्तु खण्डनीयमितीदृश्यामेव परं कथायां त्वन्निर्वाह्यनिर्वाहे तव जयो नान्यथेति। [b]तदेवं भेदप्रपञ्चोऽनिर्वचनीयः,ब्रह्मैव तु परमार्थसदद्वितीयमिति स्थितम् (३)।

*[c]नन्वद्वैते किं प्रमाणम् ?*। [d]प्रश्न एव तावदद्वैतमनङ्गीकुर्वतो नोपपद्यते। [e] प्रमाणं यत्राद्वैते (४)पृच्छ्यते तस्याऽप्रतीतौ कथमेवंभूतः प्रश्नः संगच्छते। नहि

(१) 'न गवेषणीयमि'त्यपि क्वाचित्कः पाठः साधुरेव।

(२) यथा निर्व ह्यार्थः खण्डनयुक्तिभिर्बाध्यस्तथा खण्डनयुक्तयोऽपि ताभिरेव बाध्या इत्येतावतैव मम जेतृतेति भावः।

(३) किमस्ति मानमद्वैते इतीष्टे प्रष्टुमेव न।
मतत्वे वाऽमतत्वे वेत्येतत्प्रस्तूयतेऽधुना॥

(४) "यत्राम द्वैते" इत्यपि पाठः।

प्रमाणमात्रं भवता पृच्छ्यते, किंनाम विषयविशेषनियतम्, तच्च(१)तदोपपद्यते यदि तादृशं ते प्रतीतिमारोहेत्, प्रश्नस्य वाग्व्यवहारविशेषत्वात्, व्यवहारस्य च स्वज(२)नकज्ञानविषयनियतत्वात्। अन्यथा व्यवहाराणां विषयनियमप्रयोजकस्यान्यस्यासंभवेन व्यवहारविषयपारिप्लवापत्तेः ।

टी० ननु, ब्रह्माद्वैतं त्वया निर्वाह्यं, तन्मया खण्डनीयं, प्रपञ्चखण्डनमप्यन्ततस्त्वया निर्वाह्यं, तत्र प्रतिखण्डनं मया कर्त्तव्यमित्यपर्य्यवसानं तदवस्थमेवेत्याशङ्क्य कथासन्दर्भमुपसंहरति—। "तस्मादि"ति । यद्यपि "त्वया ब्रह्माद्वैतं स्थापनीयं, मया खण्डनीयम्, इतीदृश्यामेव कथायां मया वक्तव्यं, नान्यत्रे"ति परेणापि वक्तुं शक्यते,* नचैवं कथैव न(३)स्यादिति वाच्यम्*, इष्टापत्तेः; अनिष्टत्वे चास्योभयसमाधेयत्वात्(४)। *ब्रह्म स्वतःसिद्धमेव न तत्र साधनापेक्षा *;—इति चेत्, प्रपञ्चोपि सर्वजनसिद्ध एव न तत्र साधनापेक्षेति तुल्यम् । * सर्वजनसिद्धत्वमपि त्वयोपपादनी(५)यम् *?—इति यदि, तदा स्वतःसिद्धत्वमपि त्वयोपपादनीयमिति तुल्यम् । *तर्हि वितण्डा कथैव न स्यादुभयोरपि स्थापनाप्रस-

(१) तदिति सामान्ये नपुंसकं, स विषयविशेषनियतप्रमाणप्रश्न इत्यर्थः । तदोपपद्यते यदि तादृशं = विषयविशेषनियतं प्रमाणं, ते प्रतीतिमारोहेत् विषयश्चाद्वैतमेवेति भावः ।

(२) स्वस्य = व्यवहारस्य जनकं ज्ञानं स्वजनकज्ञानम्, तस्य यो विषयस्तेन नियतत्वान्नियमेन तद्गोचरत्वादित्यर्थः ।

(३) कथा हि समयबन्धपूर्विका, समयबन्धश्च माण्डनिकेन सद्वैतं ब्रह्म स्थापनीयमित्येव, इदानीं खण्डने प्रवृत्तेन तेन स उपेक्षित इत्यग्रे कथैव न स्यादित्यर्थः । यद्वा, वैतण्डिकेनाप्यद्वैतव्यवस्थापने वितण्डा कथैव न स्यादित्यर्थः ।

(४) यथा माण्डनिकेन सद्वैतं ब्रह्म स्थापनीयमित्यस्ति समयबन्धस्तथा खाण्डनिकेन तत्खण्डनीयम् (अर्थादद्वैतं व्यवस्थापनीयम् ) इत्यपीति तदनिर्वाहे कथाऽभावप्रसङ्गस्तस्यापि तुल्य इत्यवश्यं तेनापि समाधेयत्वादिति भावः ।

(५) त्वयोपपादनीयम् = त्वयैवोपपादनीयं, (स्वकपोलकल्पितमिति यावत्) ।

द्भात् *?—इति चेत्, शक्ति(१)जिज्ञासया प्रपञ्चवादिनामप्यन्योन्यं तत्संभवात्, तथापि खण्डनयुक्तयो बलवत्य इत्यत्रैव हृदयम् ॥ स्वपक्षमुपसंहरति—। [b] "तदेवमि"ति ॥

---

ननु "ब्रह्मैव परमार्थसत्"—इति त्वयोच्यते, तथाच प्रतिज्ञैवेयं तत्र प्रमाणमुपन्यस्तुमर्हतीत्याह—। [c] "नन्वि"ति ॥ उत्तरमाह—। [d] "प्रश्न एवे"ति । प्रश्न एव तावत् प्रमाणमिति विच्छिद्यापि(२)योजयन्ति । प्रश्नान्यथानुपपत्तिरेवाद्वैतसाधिकेत्यर्थः ॥ तामेवाह—। [e] "प्रमाणमि"ति । अद्वैतज्ञानमन्तरेण तन्नियत(३)विषयप्रमाणप्रश्न एवानुपपन्न इत्यर्थः ॥ नन्वद्वैतमजानानस्यापि तत्प्रमाणप्रश्नः स्यादित्यत आह—। [f] "प्रश्नस्ये"ति । 'अद्वैते किं प्रमाणम्' ?—इत्ययं वाग्व्यवहारस्तावज् ज्ञानजन्यः, तथाच तज्ज्ञानविषयविषयत्वध्रौव्यमेवास्य; अन्यथा स्वजनकज्ञानविषयाऽतिक्रमे व्यवहाराणां व्यवहर्त्तव्यनियमो न स्यादित्यर्थः ॥

**मू०** [a]यदि चाद्वैतं प्रश्नविषयः प्रतीतमुच्यते तदा तत्प्रतीतिस्तेप्रमा वा स्यात् ? अप्रमा वा ? । आद्ये यदेव तस्याः प्रमायाः करणं तदेवाद्वैते प्रमाणं तवापि संप्रतिपन्नमिति वृथा तस्य प्रश्नः । * [b]नच वाच्यं सामान्यतोऽद्वैतप्रमाणसिद्धौ(४)भूतायामपि विशेषतः प्रमाणप्रश्नः *, [c]यतः सामान्यसिद्धावेवाऽद्वैतसिद्धौ विशेषविचारः काकदन्तविचारवत्स्यात्; [d]सामान्यसिद्धिरेव च विशेषमप्या-

---

(१) शक्तिजिज्ञासया = परप्रतिपादनसामर्थ्यज्ञानेच्छया, प्रपञ्चवादिनां = स्थापनावादिनां, तत्संभवात् = वितण्डाकथासम्भवादित्यर्थः । अत्रैतद्विदका अपि वितण्डां कुर्वते इति भावः ।

(२) अपिशब्देन 'प्रश्न एव नोपपद्यते'—इत्यन्वयस्तु प्रसिद्ध एवेति समुच्चीयते ।

(३) तद्=अद्वैतं, नियतो विषयो यस्य प्रमाणस्य तद्विषयकः प्रश्न इत्यर्थः ।

(४) अद्वैतप्रमाणसिद्धौ भूतायाम् = अद्वैतप्रमाणसिद्धौ सत्याम् ।

क्षिप्यानयन्ती विशेषमपि ते कथितवती किमत्र प्रश्नेन, [c]परिगणितेषु हि प्रमाणप्रकारेषु मध्ये यत्रैव दोषं न प्रमिणोषि तत्रैव विशेषे सामान्यस्य विश्रान्तेः। [f]यदि च परिचितचरेषु प्रमाणप्रकारेषु सर्वेष्वेव दोषं प्रमिणोषि तदा प्रमाणान्तरमाक्षिप्यापि सामान्येन विश्रमणीयमेव (१)।

टी० नन्वेतावताऽद्वैतप्रतिपत्तिरायाता, प्रमाणानुयोगस्तदवस्थ एवेत्यत आह—। [a]"यदि चे"ति। अद्वैतमनुमाय, श्रुत्वा, दृष्ट्वा वा तवायं प्रश्नः; तथाचानुमानं, शब्दः, इन्द्रियं वा, तत्र प्रमाणमिति त्वयैव ज्ञायते किं प्रश्नेनेत्यर्थः॥ ननु, प्रश्नान्यथानुपपत्तिः प्रमाणसामान्यसाक्षिणी भवतु प्रमाणविशेषजिज्ञासा तद्विशेषाभिधानमन्तरेण कथं निवर्ततामित्याशङ्क्याह—। [b]"नचे"ति॥ अद्वैतसिद्धिरस्मदपेक्षिता, त्वया चाऽनुमता, किमत्र विशेषजिज्ञासयेत्याह—। [c]"यत"इति॥ ननु, तथापि विशेषं पृच्छतः किमुत्तरमत आह—। [d]"सामान्ये"ति। नहि निर्विशेषं सामान्यमिति भावः॥ नन्वेतावता विशेषत्वेनैव विशेषः सिद्धो नत्वनुमानादिभावेन, तादृशी च सिद्धिरपेक्षितेत्यत आह—। [e]"परिगणितेष्वि"ति॥ ननु परितेषु सर्वत्र दोषं पश्यत एव ममायं प्रश्नः? इत्यत आह—। [f]"यदिचे"ति॥

मू० [a]यदि च 'का प्रमाणव्यक्तिरसौ'?—इति प्रश्नार्थः परिशिष्यते, तदा न सर्वा व्यक्तिर्विशेषतो निर्देष्टुं शक्यते-इति तदनिर्देशेपि न नः किंचिदपचीयते। [b]यदि च द्वितीयः, तदानीमद्वैतप्रतीतिमप्रमां मन्यमानस्य तव 'अप्रमाविषये किं प्रमाणम्?'—इति कथं न प्रश्नो व्याहन्यते। [c]अथ "अप्रमा सा मम मते, त्वन्मते तु प्रमैवेति तत्करणं

(१) निर्विशेषसामान्याऽयोगादिति भावः।

प्रमाणं पृच्छयते ?"-इति ब्रूषे, नैतदप्युपपद्यते, तदा ह्यैते ज्ञानं यदुत्पद्यते तत्करणं मया प्रमाणरूपं वक्तव्यमित्यत्र ममाऽनियमात्। यदि नाम मया सदाऽद्वैतमभ्युपेयते तावता किं तावकीनस्य तज्ज्ञानस्य करणमवश्यं प्रमाणं स्यात्? [d]वस्तुतो वन्हिमत्यपि पर्वते यदि कश्चिद्बाष्पं धूमं प्रतीत्य ततो वह्निमनुमिनोत्येतावता किं वाष्पविषयं धूमज्ञानं करणं प्रमाणमेष्टव्यम्?-इति।

टी॰ नन्वनुमानत्वादयोऽपि प्रमाणत्वविशेषाः सामान्यमेव, तेन तत्रापि विशेषजिज्ञासया प्रश्नः? इत्यत आह-। [a]"यदि चे"ति॥ 'अद्वैतप्रतीतिरप्रमा'-इति पक्षं दूषयति-। [b]"यदि चे"ति। यद्यपि 'अप्रमाविषये किं प्रमाणम्?' इत्याकारो न मम प्रश्नो येन व्याघातः स्यात्, नच(१)तत्प्रकारप्रश्नेऽपि व्याघातः, नहि यदप्रमाविषयस्तत्कदापि न प्रमाणविषयः, तथाप्यापातस्फूर्तिको व्याघात इत्यर्थः॥ त्वदभिमानमनुरुध्याऽयं प्रश्नो मम तु बाधितविषयतया सर्वत्राद्वैतज्ञानमप्रमैवेति न व्याघात इत्यत आह-। [c]"अथे"ति॥ विषयाऽबाधेऽपि क्वचि(२)त्कारणं दुष्टं दृष्टं, तथाच 'अद्वैतविषयं तथापि ज्ञानं प्रमैव(३)दुष्टकरणजन्या'-इति संभावनायां कथं तत्र मया प्रमाणं वक्तव्यमित्याह-। [d]"वस्तुत"इति। अत्र, यद्यपि 'कति ते पुत्राः'?-इति प्रश्नमात्रप्रत्याशया पुत्रान् संभावयतो दार(४)परिग्रहेष्युदासीनस्य,सर्वजनप्रसिद्धप्रपञ्चविद्वेषिणः शशशृङ्गकूर्मरोमगगनारविन्दादि-

(१) अप्रमाविषये किं प्रमाणमित्याकारप्रश्नेऽपि न व्याघातो न हि यदप्रमाविषयस्तच कदाचित्प्रमाणविषयः, पूर्वक्षणाद्यवच्छेदेन रजतत्वेनाऽप्रमाज्ञानविषयस्यापि शुक्त्यादेः कालान्तरे शुक्तित्वेन प्रमाणज्ञानविषयत्वादित्याह-न चेति।

(२) क्वचित् = वन्हिमत्पर्वतधर्मिकबाष्पलिङ्गकवन्ह्यनुमित्यादौ संवादिभ्रमे।

(३) प्रमाऽत्राबाधितार्थगोचरं ज्ञानं, न तु प्रमाणकरणकं ग्राह्यम्।

(४) दारपरिग्रहेष्युदासीनस्य कति ते पुत्राः ?-इति प्रश्नमात्रप्रत्याशया पुत्रान्संभावयतस्ते कः प्रतिमल्लः ( प्रतिभटः, वारयितेति तु फलितम् ) इत्यन्वयः।

प्रमाणप्रश्नबलायातमनन्तं प्रपञ्चं साधयतः, कस्ते ऽतिमल्लः, कथं वा 'ब्रह्म नास्तीत्यत्र किं प्रमाणम्' ?—इत्यनेन प्रश्नेन ब्रह्मनास्तितैव न सिद्ध्येत् । कथायां यस्य यस्य पदार्थस्याभावस्त्वया साध्यस्तस्य तस्य प्रमाणप्रश्नबलात् तत्तत्सत्ता तदानीमेव वाद्यन्तरेण साधनीया इति दुस्तरं व्यसनम् वस्तुतो(१) 'ब्रह्माद्वैतं घटादिवृत्ति न वा'—इति मध्यस्थविप्रतिपत्तौ 'ब्रह्माद्वैतं घट(२)वृत्ती'ति विधिकोटिपरिग्रहे त्वया कृते तत्र प्रमाणप्रश्ने प्रमाणवचनमेवोचितं, कथासंप्रदायस्य तवापोष्टात्वत्; तद्विप्लवे पुनर्दुस्तरमव्यसनमेव, तथापि वक्ष्यमाण(३)प्रमाणावष्टम्भादेतदुक्तमिति हृदयम् ॥

मू॰ [a]"अस्तु वा प्रश्नोऽयं यथातथा, श्रुतिरेवाद्वैते प्रमाणमिति ब्रूमः । श्रूयते खलु "एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किंचन" इत्यादि । [b]श्रुतिप्रामाण्यं सिद्धार्थप्रामाण्यं चेश्वराभिसन्धौ साधयिष्यते । सिद्धार्थानां(४)श्रुतीनामन्यपरत्वमपि यदि स्यात्तथापि पद(५)समन्वयबलेन तासु प्रतीयमानमर्थमबाधितमादायैव तासामन्यपरिभवनात्(६), [d]धियां स्वतःप्रामाण्यस्य बाधकैकापोद्यत्वात् ।

टी॰ एतेनैवानुशयेनाह—। [a]"अस्तु वे'ति ॥ नन्वनृत(७)व्याघातपुन-

---

(१) 'वस्तुत'—इत्यस्य प्रमाणवचनमेवोचितमित्यनेनान्वयः ।

(२) अत्र घटादिवृत्तीति पाठः समुचितः, प्रतिज्ञाया विप्रतिपत्त्यनुगुणत्वौचित्यादित्यनुमन्ये ।

(३) "श्रुतिरेव प्रमाणम्"—इति वक्ष्यमाणं प्रमाणप्रतिवचनमवष्टभ्यैव प्रश्नखण्डनाभिधानमित्याशयः ।

(४) सिद्धार्थानाम् = अहेयानुपादेयार्थप्रतिपादिकानाम् ।

(५) पदानामेकमेवाद्वितीयमित्यादीनां य उपक्रमादिभिर्लिङ्गैर्ब्रह्मणि समन्वयस्तत्पर्येणाभिधायित्वं तद्बलेनेत्यर्थः ।

(६) अन्यस्य द्वैतावगाहिप्रत्यक्षादेः परिभवनात् तिरस्करणादित्यर्थः । अनन्यपरीभवनादित्यपि क्वचित्पाठः, तत्राद्वैतैकमात्रपरत्वादित्यर्थः ।

(७) अनृतदोषो यथा पुत्रकामेष्टा 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेते'ति, नेष्टौ संस्थितायां पुत्रजन्म दृश्यते । दृष्टार्थस्य वाक्यस्याऽनृतत्वाददृष्टार्थमपि वाक्यम् 'अग्निहोत्रं जुहुयात्

रुक्तादिदोषेभ्यः श्रुतीनामेव न प्रामाण्यं, प्रामाण्ये वा सिद्धार्थश्रुतीनां न प्रामाण्यं, विधिप्रत्ययसमभिव्याहृतवाक्यस्यैव ज्ञानद्वारा व्यवहारजनकत्वेन प्रवर्तकज्ञानं प्रति सामर्थ्यावधारणात्; नच "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', इत्यादिश्रुतीना कार्यापराग(१)स्तथाच न प्रामाण्यमित्यत आह—।[b] "श्रुती" ति ॥ ननु, यत्परः शब्दः स शब्दार्थः, न त्वासां श्रुतीनां ब्रह्माद्वैतपरत्वं, किं तर्हि, मुमुक्षुणा ब्रह्मैवैकमुपासनीयमित्यत्र तात्पर्यं, तथाचोपासनायामेवासां प्रमाणत्वं, नतु ब्रह्माद्वैतेपीत्यत आह—।[c] "सिद्धार्थानामि"ति। विशेषणं(२)चैतत् प्रकृतश्रुत्यपेक्षया। "एकं,ब्रह्म"इतिपदसमन्वयबलेन प्रतीयमानोर्थः स चोपासनापरत्वेप्यबाधित एव वाच्य इत्यर्थः ॥ ननु "आदित्यो यूपो यजमानः प्रस्तरः"—इत्यादौ पदसमन्वयबललभ्यसामानाधिकरण्यश्रुतेरप्रामाण्यं यथा, तथाऽस्याः किं नेत्यत आह—।[d] "धियामि"ति। तत्र तत्र बाधकात् प्रतीयमानोर्थस्त्यज्यतेऽत्र न बाधकमित्यर्थः ॥

मू०* ननु,(३)नाऽद्वैतश्रुतीनामृजावर्थे(४)प्रामाण्यं संभवति, प्रत्यक्षादिबाधात्;ततश्चा[h]न्यत्रैव क्वचित्तात्पर्यं कल्प्यम*?। मैवम्। यदद्वैतश्रुतेर्बाधकं प्रत्यक्षादि मन्यसे तदात्मीये विषये घटपटादेर्भेदे नियत एवोत्पद्यते, 'नतु

स्वर्गकाम'इत्याद्यनृतमिति ज्ञायते। विहितव्याघातदोषश्च 'उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यमि'ति विधाय 'श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति, शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोती'ति। पुनरुक्तदोषो यथा अभ्यासे देयमाने 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' इति।

(१) कार्य्यं परागः=क्रियोपरागः, हेयोपादेयार्थप्रतिपादकत्वमिति यावत्।

(२) ननु, 'सिद्धार्थानामि'त्येतद्विशेषणं व्यर्थं, यावता क्रियाऽभिधायिनीनामपि श्रुतीनां तात्पर्यतो ब्रह्मण्येव समनुगतत्वेनाऽबाधितार्थमादायैवाऽन्यपरिभावकत्वं भवता प्रसाधनीयमित्यत आह-विशेषणं चैतत्प्रकृतश्रुत्यपेक्षयेति। प्रकृतश्रुतिस्तु—"एकमेवाऽद्वितीयमि"त्यादिरूपा।

(३) { अद्वैतश्रुतिबाधाय नाध्यक्षादि प्रकल्प्यते। अल्पाल्पविषयत्वेनेत्येतत्प्रस्तावयत्यथ ॥ }

(४) ऋजावर्थे=सिद्धार्थे।

प्रत्यक्षादिकं भूतभाविवर्त्तमानसकलव्यक्तिभेदग्राहि जायमानमावयोः सम्प्रतिपन्नमस्ति, [d]तादृशेन ज्ञानेन चोत्पद्यमानेन सर्वज्ञतां तदा तव श्रद्दध्यां यदि जानासि मम चेतसि किं वर्त्तते इति । [e]यदि च प्रत्यक्षादि किंचिन्मात्रविषयं तदा तद्विषयादन्यत्रापि प्रवर्त्तमानाऽद्वैतश्रुतिस्तेन न बाधितुं शक्यते, स्वविषयमात्रे प्रमया विपरीतविषयज्ञानबाधनात्; अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । [f]मा हि भूद्(१)अग्नीषोमीयपशवालम्भनविधिना सर्वभूताहिंसाश्रुतेर्वैयर्थ्यम् ।

टी० ननु, प्रकृतेपि बाधकमस्तीति शङ्कते—। [a]"नन्वि"ति ॥ [b]"अन्यत्रे"ति । ईश्वरैकत्वं वा ब्रह्मैकोपास्यत्वं वा प्रतिशरीरमेकैकात्मत्वं वा यद्बोध्यं तत्रैव च सामर्थ्यमित्यर्थः ॥ ननु, घटपटमात्रभेदविषयकं प्रत्यक्षं श्रुतिबाधकमिति नोच्यते, किंतु सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या सकलपदार्थभेदविषयकमेकं प्रत्यक्षमिष्यते, तत्कुक्षिस्थितानां(२)भेदार्भकाणां न किंचिद्भयं श्रुतिडाकिन्या इत्यत आह—। [c]"नतु प्रत्यक्षादिकमि"ति । त्वयेष्यमाणत्वमतन्त्रमित्यर्थः ॥ तादृशज्ञाने प्रमाणाभावमाह—। [d]"तादृशेने"ति ॥ ननु, घटपटादिनियतविषयमेव प्रत्यक्षं श्रुतिबाधकमस्तु किमत्याहित(३)मित्यत आह—। [e]"यदी"ति ॥ [f]"मा हि भूदि"ति । "न हिंस्यात्सर्वा भूतानि"—इत्येका श्रुतिः, "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इत्यपरा, तत्र चानयाऽग्नीषोमीयपशावेवाऽहिंसाश्रुतिर्बाध्यते नत्वन्यत्रापि, विषयभेदादित्यर्थः ॥

(१) अतिप्रसङ्गमेव स्फुटयति—मा हि भूदिति । माभूदिति तु विद्यासागराभिमतः पाठः । विरुद्धार्थग्राहितामात्रेण बाधकत्वमेकविषयत्वाभावेपि चेद्धिंसाविषयत्वेन तदभावविषयत्वस्य विरोधात्पश्वालम्भनविधिना सर्वभूताऽहिंसाविधेर्वैयर्थ्यं=निर्विषयत्वमप्रामाण्यं स्यात्तन्माभूदित्यर्थः ।

(२) तत्कुक्षिस्थितानाम्=सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिकुक्षिनिविष्टानाम् ।

(३) अत्याहितम् = भयम् "अत्याहितं महाभीति"रिति कोशात् । अस्यैवार्थस्याऽविज्ञानात्क्वापि पुस्तकेषु 'किमन्याहितमि'ति प्रकल्पितः पाठो दृश्यते ।

मू० [a]"यदा चैवं, तदा बाधिकायाः प्रत्यक्षधियो बाध्यायाश्चाऽद्वैतबोधने श्रुतिर्निराबाधा सती तयोरैक्यं बोधयतीति तत् प्रत्यक्षादि कथं स्वात्मान(१)मेव बाधेत । [b]घटेन(२), पटेन तद्भेदेन च स्वविषयेण सह तस्या एव धियः श्रुत्या सर्वस्याद्वैतं गोचरयन्त्या कथं नाभेदे प्रामाण्यमासादयितव्यम्, तत्राबाध्यमानत्वात् । [c]नहि (३)तस्या धियः स्वात्मा वा, स्वात्मना सह घटपटादेर्भेदोपि वा, विषयः । [d]'घटपटौ(४)भिन्नावि'त्येवमाकारा हि सा जायते, नतु 'अहं घटात् पटाच्च भिन्ना, मत्तो वा तौ भिन्नौ'—इति । [e]स्वप्रकाशतापि स्वमात्रे साक्षिणी, नतु यतो यतः प्रकाशो भिद्यते ततस्ततस्तस्य भेदेपि । [f]अन्यथा तत्तदपि स्वप्रकाशकुक्षौ निक्षिपन्ती न कथमद्वैते एव पर्यवस्यति ।

टी० ननु, समाने एव विषये बाध्यबाधकभावोऽस्तु किमेतावतेत्यत आह—।[a]"यदाचे"ति । बाध्यबाधकधियोरैक्ये बाध्यबाधकभावाऽभाव एवेत्यर्थः ॥ बाधकाभिमतप्रत्यक्षस्य विषयेण सहा; भेदः श्रुतिविषय इत्याह—।[b]"घटेने"ति ॥ तदेवोपपादयति—। [c]"नही"ति ॥ कथमेवमत आह—। [d]"घटपटावि"ति ॥ मीमांसकशङ्का(५)मपनयति—। [e]"स्वप्रकाश-

---

(१) बाध्यबाधकधियोरैक्ये बाध्यायाः श्रौतधियो बाधने प्रत्यक्षेण स्वात्मन एव बाधः कृतः स्यादिति भावः ।

(२) घटेनेति, सर्वस्याऽद्वैतं गोचरयन्त्या श्रुत्या घटेन, पटेन, तद्भेदेन च स्वविषयेण (घटपटौ भिन्नावित्येवं विधभेदग्राहिप्रत्यक्षविषयेण) सह तस्या धियः (भेदग्राहिप्रत्यक्षधियः) अभेदबोधने प्रामाण्यं कथं नासादयितव्यम्—इत्यन्वयः ।

(३) नहीति, स्वविशिष्टभेदग्रहणे यतः स्ववृत्त्यापातादित्यर्थः ।

(४) घटपटाविति यदाकारा बुद्धिर्जायते तदाकारवानेवार्थस्तद्विषय इति नियमाद्बुद्धिधर्मिकबुद्धिप्रतियोगिकभेदाकारत्वाभावाच्चानया तत्सत्त्वं भासत इत्यर्थः ।

(५) बुद्धेः स्वप्रकाशत्वात्स्वभेदग्राहकत्वमुपपद्यते इति मीमांसकशङ्का ।

ते"ति ॥ ननु, यतो यतः प्रकाशो भिद्यते तत्सर्वं स्वप्रकाशज्ञानविषय एवेत्यत आह-। [f]"अन्यथे"ति । स्वप्रकाशबलेन तत्सर्वं तदा भासेत यदि तदपि स्वं भवेत् तथा च स्वभिन्नत्यापि सर्वस्य स्वप्रकाशज्ञानात्मत्वे पुनरद्वैतमेव पर्यवस्येदित्यर्थः ॥

मू० *[a]नच तया धिया स्वस्य, स्वविषयस्य च स्वरूपावगाहने स्वरूपलक्षणो भेदः प्रकाशित एव स्यादिति वाच्यम् *, "पुरोवर्त्ति रजतमि"ति भ्रान्तौ पुरोवर्त्यात्मनो रजतात्मनश्च प्रकाशे भेदग्रहापत्तेः । [b]धर्मविशेषमन्तर्भाव्य स्वरूपस्य भेदत्वे धियोऽपि तथा स्यादिति सैव धीर्न तत्प्रकाशस्तस्मिन्सन्निकर्षाद्यपेक्षायां धियः प्राकृतदसंभवात् । [c]*आत्मवदात्मधर्म्मेऽपि सन्निकर्षानपेक्षा सा*?–इति चेन्न, [d]ग्रहणत्वस्मृतित्वप्रमात्वादावपि तथैव स्यादिति

टी० ननु, स्वप्रकाशज्ञानस्य स्वं विषय इति विषयाद् (१) घटपटादेः स्वस्य स्वरूपभेदः कथं न विषयो भवेदित्यत आह-। [a]"नचे"ति । स्वरूपभेदग्रहस्याऽभेदग्रहपरिपन्थित्वे भ्रमः क्वापि न स्यात्तस्य(२) ते आरोप्यारोपविषयग्रहपूर्वकत्वात्, तस्य चारोपपरिपन्थित्वादित्यर्थः ॥ ननु, स्वरूपमात्रं न स्वरूपभेदः, किंतु परस्परवैधर्म्यविशिष्टं स्वरूपं तच्च शुक्तिरजतयोर्न गृहीतमिति चारोपानुपपत्तिरित्यत आह- [b]"धर्म्मे"ति । तर्हि धियोऽपि स्वरूपमात्रं न भेदः, किन्तु वैधर्म्यालिङ्गितं स्वरूपं, वैधर्म्यं च स्वस्य(३) प्रकाशत्वेऽपि न स्वविषयः, किंतु संयुक्त(४)समवेतसमवायेन प्रत्या

(१) घटपटादेर्विषयादित्यन्वयः ।

(२) तस्य=भ्रमस्य, आरे प्यारोपविषयग्रहपूर्वकत्वात्,=आरोप्यं रजतादिरारोपविषयोऽधिष्ठानं शुक्त्यादिस्तदुभयस्मरणग्रहणपूर्वकत्वात, तस्य च=आरोप्य रोपविषयस्वरूपभेदग्रहणस्य च, आरोपपरिपन्थित्वात्=भ्रमपरिपन्थित्वेन त्वयाङ्गीकारादित्यर्थः।

(३) स्वस्य=ज्ञानस्य, प्रकाशरूपत्वेऽपि न ज्ञानविषय इत्यर्थः ।

(४) मनःसंयुक्त आत्मा, तत्समवेतं ज्ञानं, तत्र समवायो ज्ञानत्वादेर्धर्मस्येत्यर्थः ।

सत्त्या मनसा तद्ग्रहो भवेत्, नच[१]स्वोत्पत्तेः पूर्वं स्वघटितसंयुक्तसमवेतसमवायः प्रत्यासत्तिः संभाव्यते इत्यर्थः ॥ ननु, यथा प्रत्यासत्तिमन्तरेण स्वग्रहस्तथा स्वधर्मग्रहः स्यात् को दोष इत्यत आह[२]—। [c]"आत्मवदि"ति ॥ [d]"ग्रहणत्वे"ति । तथाच ग्रहणत्वस्मरणत्वसंशयो न स्याच्च स्याच्च प्रामाण्याऽप्रामाण्यसंशय इति भावः ॥

मू० [a]तदेवं सा बुद्धिः श्रुत्या घटपटात्मतया व्यवस्थाप्यमाना कथमात्मनः[३]स्वस्मादेव भेदे प्रमाणीभवितुं प्रभवतीति[b] बाधिकायां बुद्धौ घटपटयोर्भेदे प्रमात्वाभावमासादयन्त्यां श्रुतिस्तत्र[४] तत्राप्रतिद्वन्द्वित्वाऽसङ्कुचितस्वतः प्रामाण्यबललब्धतत्तदर्थैक्यान्यथानुपपत्तिसहायसम्पदऽजय्या तयोरप्यभेदं बोधयन्ती न प्रतिहन्तुं शक्येति न[५] क्वचिदपि प्रतिहतप्रसरा सती सर्वाद्वैतप्रमापिकेति । [c]भेदप्रमान्यथानुपपत्त्या च वैपरीत्यमशक्यम् ।

टी० ननु, तया धिया स्वस्य स्वरूपभेदोऽपि मा गृह्यतां किमनिष्टमित्यत आह—। [a]"तदेवमि"ति । घटपटभेदग्राहकं यत्प्रत्यक्षं तदादि

(१) नच ज्ञानोत्पत्तेः पूर्वं ज्ञानघटितनिरुक्तप्रत्यासत्तिरित्यर्थः। अयं भावः-सन्निकर्षस्य बुद्धिजन्मार्थत्वाद्बुद्धेः प्रागेवासौ वक्तव्यो न च तत्संभवति बुद्ध्यभावे तत्समवेतधर्मसन्निकर्षासंभवादन्यथाऽन्योन्याश्रयादित्यर्थः ।

(२) इत्यत आह, 'इति चेन्न'-इत्यन्तं सिद्धान्त्याहेत्यर्थः, अत आत्मवदित्यादेः पूर्वपक्षग्रन्थत्वेपि नाऽयुक्तिः। एवमग्रेप्येवंविधस्थले ज्ञेयम् ।

(३) आत्मनः = स्वाभिन्नघटस्य, स्वस्मात् = स्वाभिन्नघटादित्यर्थः ।

(४) बाध्यबाधकबुद्ध्योर्बाध्यबुद्धेश्च स्वविषयेरभेदबोधनेऽप्रतिद्वन्द्वित्वान्न सङ्कुचितत्त्व तत्स्वतःप्रामाण्यं चेति तथोक्तम्, तस्य बलं = सामर्थ्यं, तेन लब्धमप्रतिद्वन्द्वितयाऽसङ्कुचितस्वतःप्रामाण्यबललब्धं,तच्च तत्तदर्थस्यैक्यं चेति तथोक्तं, तस्य याऽनुपपत्तिःसैव सहायस्तस्य संपत् तयाऽजय्या क्वचिदपि प्रतिहन्तुं न शक्येति सर्वाद्वैतप्रमापिकेत्यर्थः ।

(५) श्रुतिः क्वचिदपि प्रतिहतप्रसरा न सती सर्वाऽद्वैतप्रमापिकेति सम्बन्धः ।

श्रुत्या घटपटाभिन्नं कृतं तदा घटपटभेदग्राहकतैव तस्य न निर्वहेदित्यर्थः॥ ननु, घटपटयोर्भेदे सा धीः प्रमाणमतस्तद्द्वयेन श्रुतिस्तत्र कथं प्रवर्तेत तथाच घटपटौ विहायाऽन्यत्राद्वैतं सिद्ध्यति ननु तयोरपीत्यत आह—। [b]"बाधिष्यामि"ति। घटपटभेदग्राहिणी या बुद्धिस्तया सह घटपटयोरभेदं गृहीतवती श्रुतिः घटपटयोरभेदमन्तरेणानुपपद्यमाना तयोरप्यभेदमानयति। किंच, पटाभिन्नबुद्ध्यभिन्नत्वाद् घटोपि पटाऽभिन्नः साधयितुं पार्य्यते एवेति तदु(१)पष्टम्भोपि श्रुतेः। न चास्याः परग्राह्यं प्रामाण्यं, येन तद्बाधायापि द्वैतं निर्वहेदिति न किंचिदस्याः श्रुतेः परिपन्थीत्यर्थः॥ ननु, घटपटभेदप्रमेव तद्भेदमन्तरेणानुपपद्यमाना सर्वत्र श्रुतिमपसारयिष्यतीत्यत आह—। [c]"भेदप्रमे"ति॥

मू० [a]'तत्राद्वैतश्रुत्या सन्दिह्यमानस्य प्रमात्वस्यैवासिद्धेः' [b]भेदधीमात्रस्य च द्विचन्द्रादिबोधवदन्यथाप्युपपत्तेः।

टी० श्रुतिप्रामाण्यमुभयसिद्धं, प्रत्यक्षप्रामाण्यं चान्यतरमात्रसिद्धमिति परिपन्थिश्रुतिदर्शनात्तत्रापि तत्र(२)सन्देहः स्यादिति भेदप्रमान्यथानुपपत्तिर्दुर्बला न श्रुतिपरिपन्थिनीत्याह—। [a]"तत्रे"ति॥ ननु सन्दिह्यतां प्रामाण्यं, भेदज्ञानमगृहीतप्रामाण्यमेव श्रुतिबाधकं स्यादित्यत आह—। [b]"भेदे"ति। अन्यथासिद्धिशङ्काकलङ्कितस्य न विरोधिज्ञानप्रतिबन्धकत्वमित्यर्थः। यत्र, यद्यपि (३) सर्वभूताहिंसाश्रुतिरग्नीषोमीयपश्वालम्भनबोधिकया श्रुत्या सङ्कोच्यते नतु बाध्यते, प्रत्यक्षेण तु प्रवृत्तमात्रेणाद्वैतश्रुतिर्बाध्यत एवातो न क्वाप्यस्याः प्रसरः, नहि 'घटपटौ भिन्नौ' एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'—इति ज्ञाने संभवतो विरोधात्। * दैत्यः पशुर्हिंस्यः, सर्वभूतमहिंस्यमित्यनुपपन्नम् *?—इति चेत्तत्र सर्वपदक्षतपदयोर्विषयसङ्कोचेन दैत्यपशु-

---

(१) घटपटाभेदाग्रहणमपि विषयतया श्रुतेरावश्यकमित्यर्थः।

(२) तत्र = प्रत्यक्षे, प्रामाण्यसन्देहः स्यादित्यर्थः।

(३) मा हिंस्याद्भूतानीत्याग्नीषोमीयपश्वालम्भनविधिना सर्वभूताहिंसाश्रुतेर्वैयर्थ्यमित्याहितोपलमर्यमाशिष्य समाधत्ते—यद्यपीत्यादिना।

भिन्नं सर्वमहिंसयमिति सामञ्जस्यसंभवात्, इह 'घटपटभिन्नं सर्वमेकमि'ति समञ्जसे(१) क्रियमाणे महदसमञ्जसं, त्वदभ्युपगताद्वैत(२)भङ्गात्। * क्रमेण(३) तयोरप्यभेदोऽर्थापत्त्या पर्य्यवस्येत् * ?—इति चेत्तर्हि न श्रुतिरद्वैते प्रमाणं, बाधविषये कुण्ठितत्वात्। किंच, तत्त(४)त्प्रत्यक्षशार्दूलमुखकुहरसंप्रविष्टं भेदमवलोक्य पलायमाना श्रुतिरियमबला प्रतीयमानं स्वार्थजातं संत्यजन्ती ब्रह्मानुचिन्तनमात्रपरैव स्यात्। किंच, "बाधव्याधभयोद्विग्नतमाऽद्वैतश्रुतिमृगी, ब्रह्मारण्येऽपि विश्वासं कथमासादयिष्यति" सर्वमभिन्नमिति श्रुत्यर्थः स्वस्मात्सर्वमभिन्नमेवेत्येतावताप्युपपद्यते एव। 'नेह नानास्ति किंचन"—इत्यपि किंचन वस्तु न नानेत्येवमप्युपपद्यते। नहि किमपि वस्तु नाना, सर्वस्य वस्तुनः प्रत्येकमेकत्वात्। किंच, ब्रह्माद्वितीयमिति सकलानुमतमेव। किंच, यदि ब्रह्ममात्रावशेषं जगदिति बोध्यं, तदा "ब्रह्मैवैकम्"—इति स्यान्न तु "एकमेव ब्रह्मे"ति। किंच, यथा 'एक एव नरपतिरत्र, नतु नाना'इति वाक्यं द्वितीयं नरपतिमेव निषेधति नतु पुरुषान्तरमपि नास्तीति(५)ततः प्रतीयते। किंच, तात्पर्य्याधीनं श्रुतिप्रामाण्यमतः कुत्रार्थे तात्पर्य्यमित्यनिश्चयाद् दुर्बलायाः श्रुतेरेव सर्वत्र प्रत्यक्षेण बलवता बाधः। किंच, चैत्रस्य घटपटभेदज्ञानं, मैत्रस्य कटकुट(६)भेदज्ञानं, देवदत्तस्य नटविटभेदज्ञानम्, इति तत्तदन्यसर्वाद्वैतार्थत्वे श्रुतेर्वाक्यभेदः(७)।

---

(१) सामञ्जस्ये इति सूचितम्।

(२) घटपटयोर्भेदव्यवस्थितावच्छेदकावच्छेदेनाभ्युपगताद्वैतभङ्गादित्यर्थः।

(३) घटपटभेदविषयकबुद्धेः स्वविषयादभेदव्यवस्थितौ तदन्यथानुपपत्त्या क्रमेण घटपटयोरप्यभेदो व्यवतिष्ठेतेत्यर्थः।

(४) तत्तत्प्रत्यक्ष=घटपटादिभेदावगाहिप्रत्यक्षमेव शार्दूलस्तन्मुखकुहरे=तन्मुखविवरे, प्रविष्टं भेदं विलोक्येत्यर्थः।

(५) इति = इत्यमेव, ततः = एकमेवाऽद्वितीयमितिवाक्याद्ब्रह्मसजातीयब्रह्मान्तरनिषेधः प्रतीयते—इति कथंचिद्व्याख्येयम्। वस्तुतस्त्वयं दृष्टान्तपरो ग्रन्थः, दार्ष्टान्तिकपरस्तु कथञ्चिद्गलितो वा ऽध्याहर्तव्यो वेति प्रतिभाति।

(६) कुटो घटः, "घटः कुटनिपावस्त्री"ति कोशात्।

(७) वाक्यभेदस्तु एकस्यैव वाक्यस्य युगपद्विभिन्नार्थद्वयाऽभिधायकत्वम्।

किंच, अभेदज्ञानस्य 'तानेव(१)तित्तिरीन्' 'तानेव शालीन्'—इतिवदेक धर्मोपग्रहेणाप्युपपत्तिः, भेदग्रहस्तथा नान्यथोपपादयितुं शक्य इति प्रत्य क्षमेव बलीयः । किंच, सर्वमभिन्नं, घटपटौ भिन्नाविति बुद्ध्योः प्रामाण्ये संभवति बाध्यबाधककल्पनापि, नहि(२)प्रमेयत्वादिनापि सर्वमभिन्नं न मन्यामहे, तथापि(३)"आपाततो यदिदमद्वयवादिनीनाम् इत्यादावेव तात्पर्य्यम् ॥

मू० [a]"'एकम्–इत्युपादाय यद् एवकारमप्युपादत्ते श्रुतिः "एकमेवेदम्"–इतिरूपा, तदैकान्तिकमैक्यं बोधयतीति भेदाभेदेनाप्यशक्यसमर्थनं–घटपटादिभेदग्राहिप्रत्यक्षादिप्रामाण्यमिति ।

टी० ननु श्रुत्याऽभेदः, प्रत्यक्षेण च भेदो बोध्यते, द्वयं च प्रमाणमनुरोध्यं, ततो भेदाभेद एवास्त्वित्यत आह–। [a]""एकमि"ति । यद्यपि ब्रह्मण एकत्वं प्रपञ्चाभावे प्रपञ्चाभेदे चोपपद्यते इति कथमियं श्रुतिरेकताऽवधारिका(४) यद्यपि च प्रपञ्चमिथ्यात्वं शङ्कराचार्याद्यनुमतं नतु प्रपञ्चब्रह्मणोरभेद इत्यभेदबोधकतया श्रुतिव्याख्यानेऽपसिद्धान्तः, यद्यपि च घटाद्यभेदे ब्रह्मणोऽपि जडत्वमिति स्वप्रकाशानन्दरूपत्वविरोधस्तथाप्यापाततो यदिदमित्यादौ वक्ष्यमाणेऽर्थे एव तात्पर्य्यम् ॥

मू० *[a]बुद्धेर्विरम्य व्यापाराभावात् कथमित्थम् *?–इतिचेन्न [b]श्रुतितो द्रागेव जातायाः सर्वविषयाया अद्वैतधियो(५)-

(१) पूर्वदृष्टसजातीयतित्तिर्य्यादिदर्शने यत्र तानेव तित्तिरीन् (विहगविशेषान्) पश्य, तानेव शालीन (तण्डुलानि)पश्येत्यभेदावगाहिनी प्रत्यभिज्ञा, सा तित्तिरित्वशा) लित्वलक्षणैकधर्मोपग्रहपूर्विका यथा, तथा प्रकृतेप्यभेदज्ञानस्योपपत्तिरित्यर्थः ।

(२) सर्वमभिन्नमित्युक्तमुपपादयति–नहीति । प्रमेयत्वादिनाऽभेदः, घटत्वपटत्वादिना तु भेद इति भावः ।

(३) तथापीत्येतद्दूरव्यवहितेन यद्यपीत्यनेनाऽन्वेति । आपातत इति, अद्वैतप्रतिपादनमप्यापातत एवेति निर्गलितार्थः ।

(४) 'विधायिका'–इत्यपि क्वचित्पाठः ।

(५) अद्वैतधिय एवं विधविचारसोपानपरम्पराम् (क्रमिकाऽभेदविषयकप्रतिप-

समुद्भूय एवंविधविचारसोपानपरम्परामारोहन्त्यो नानाविषयेषु तत्प्रामाण्यविषयाः क्रमेण परिनितिष्ठन्तीत्युच्यमानत्वात् । * 'ननु, यदि नामप्रत्यक्षवित्त्या तया घटपटभेदोल्लेखिन्या स्वात्मना सह घटपटयोर्भेदो न गोचरीक्रियते तावता कथं तस्याः स्वविषयेण सहाऽद्वैते श्रुतिः प्रामाण्यमासादयितुमीष्टे' बुद्ध्यन्तरेण तथा सार्द्धं घटपटयोरपि भेदमुल्लिखता तत्रा-

ननु 'प्रत्यक्षविरोधादापाततः श्रुतिजबुद्धिः स्वस्मादेवाभेदं विषयाणां विषयीकृत्य क्रमेणार्थापत्त्यादिबलाद् विषयाणामन्योन्यमभेदं विषयीकरिष्यती'त्यनुपपन्नं शब्द(१)बुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावादित्याह—। [a] "बुद्धे"रिति ॥ श्रुतित एकदैव जातायाः सर्वाभेदबुद्धेः सर्वविषये प्रामाण्यं प्रत्यक्षबाधेन प्रतिबन्धात् झटिति दुर्ग्रहमिति तत्तद्विषयप्रत्यक्षबाधनिरासक्रमनिबन्धनः प्रामाण्यग्रहक्रमो नतु बुद्धेर्विरम्य व्यापारतेत्याह—। [b] "श्रुतित"इति । यद्यपि बाधो(२)बुद्धिमेव प्रतिबध्नाति नतु तत्प्रामाण्यग्रहमिति कथं न बुद्धेः श्रुतिलक्षणस्य शब्दस्य वा विरम्य व्यापारता तथापि "अत्यन्ताऽसत्यपि(३)ज्ञानमर्थे शब्दः करोती"त्यभिप्रेत्यैतदुक्तम् ॥ घटपटभेदग्राहिप्रत्यक्षेण स्वात्मना सह घटपटयोर्भेदो न गृहीत इति तत्र श्रुतिर्लब्धपदा तयोरप्यभेदं विषयीकरिष्यतीति यदुक्तं तत्र शङ्कते—। [c] "नन्वि"ति । घटपटभेदग्राहिप्रत्यक्षं घटपटौ न भवत इति ज्ञानान्तरेण तद्भेदोऽपि सुग्रह एवेति तत्रापि श्रुतिर्न प्रभवतीति शङ्कार्थः ॥

त्तिपरम्पराम्) आरोहन्त्योऽस्मद्बुद्धयो नानाविषयेषु तत्प्रामाण्यविषयाः (अभेदबुद्धिप्रामाण्यविषयाः) क्रमेणपरितिष्टन्तीत्यन्वयः ।

(१) शब्द एकं बोधं जनयित्वा विरतव्यापारो न शाब्दबोधान्तरं जनयति, तथा बुद्धिरप्येकस्मिन्नर्थे ज्ञाततां संस्कारं वा जनयित्वा न ज्ञाततान्तरं संस्कारान्तरं वा, एवं कर्माप्येकत्र विभागमुत्पाद्य न विभागान्तरमित्यर्थः ।

(२) "घटपटौ भिन्नौ—"इत्याकारको बाधः, बुद्धिं—श्रुतिजाऽभेदबुद्धिमित्यर्थः ।

(३) अत्यन्तासत्यर्थः शशशृङ्गादिस्तत्रापि चेच्छब्दो ज्ञानं जनयति किमुत सत्यभूते ऽद्वैते इति भावः ।

— द्वैतश्रुतेर्बाधादेव"। मैवम्।



मू० "तर्हि तस्या अपि विषयमापाततः परित्यज्य यथैवापरया बुद्ध्या घटपटभेदबुद्धेर्घटाच्च पटाच्च भेदो विषयीक्रियते तस्याः स्वविषयेण सहाऽद्वैते श्रुतिः प्रामाण्यमवलम्ब्य लब्धपदा घटपटतद्भेदबुद्धिभिः सह द्वितीयस्या बुद्धेरभेदे पर्यवस्यन्ती सर्वेषामेव तेषामभेदे विश्राम्यति। [b] एवं च सति यत्रैव गत्वा बाधबुद्धिपरम्पराविच्छेदो विषयान्तरसंचारोच्छेदभयादनवस्थाभयाच्चाभ्युपेयस्तस्यामेव बुद्धौ पदमारोप्याऽद्वैतश्रुतिः सर्वं तद्विषयविषयिप्रवाहमद्वैते स्थापयन्ती न केनापि प्रमाणेन क्वचिदपि विषये बाधितुं शक्या। तस्मात्--

[c] सुदूरधावनश्रान्ता (१) बाधबुद्धिपरम्परा।
निवृत्तावद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते॥ ८॥

टी० यावद्दूरं बाधबुद्धिपरम्परोदयस्तत्रापाततः कुण्ठापि श्रुतिर्बाधबुद्धिपरम्परानिवृत्तौ चरमबुद्धौ पदमारोप्य तद्विषयविषयिप्रवाहाद्वैतं बोधयिष्यतीति परिहरति--। [a] "तर्हि तस्या अपी"ति। प्रमाण्यावलम्बनम्=अबाध्यत्वेन व्यवस्थितत्वं; पदलाभः=सहकारिसाचिव्यं; पर्यवसानमभेदबोधनं; विश्रामः=स्वजनितसकलाऽद्वैतधीप्रामाण्यासादनम्। ननु भवेदेवं यदि भेदबुद्धिधाराविश्रामः स्यान्न त्वेवमत आह--। [b] "एवं

(१) सुदूरधावनश्रान्ता, भूरिकृतानुसरणाऽलसेति यावत्। इदमत्राकूतम्-- "अरिर्मित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रं ततः परम्। तथाऽरिमित्रमित्रं च विजिगीषोः पुरःसराः॥ पार्ष्णिग्राहस्ततः पश्चात्आक्रन्दस्तदनन्तरम्। आसारावनयोश्चैव विजिगीषोस्तु पृष्ठतः॥ अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः। अनुग्रहे संहतानां व्यस्तानां च वधे प्रभुः। मण्डलाद्बहिरेतेषामुदासीनो व्यवस्थितः" इति विजिगीषो राज्ञो द्वादश राजमण्डलम्. तत्र खलु यथा लोके कश्चिद्विजिगीषुर्दूरे प्रस्थितः परवाहिनीं विजित्य निवृत्तो पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते तथा बाधबुद्धिपरम्पराऽद्वैतपरम्पराजयाय दूरं प्रस्थिताऽनवस्थाना क्वचिन्निवृत्तौ पार्ष्णिग्राहैरद्वयाम्नायैर्विजीयते इति। क्वचिद् "विनिवृत्ताऽद्वयाम्नायैः"-- इति पाठः।

चे"ति । विषयान्तरसंचारदर्शनेनाऽनिर्मोक्षप्रसङ्गभयेन च विश्रामसिद्धेरित्यर्थः ॥ [c] "सुदूरे"ति अद्वयाम्नायैः=अद्वैतश्रुतिभिः । पार्ष्णिग्राहैः=पृष्ठतोवर्त्तिभिर्विपक्षैरित्यर्थः । यद्यपि चरमबुद्धिज्ञाने चरमत्वव्याघातः, तदज्ञाने च कुत्र श्रुतेः पादारोपणं, श्रुतिप्रवृत्त्यर्थं त्वयैव तदुपस्थापने पुनश्चरमत्वव्याघातः, तदैव तथापि समं भेदग्रहश्च; अनुपस्थापने श्रुतिप्रवृत्त्यनुत्पादनम्, तथाच "सुदूरधावनाऽश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्पराऽविनिवृत्ताऽद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्न जीयते"-- इति परेणापि पठितुमुचितं(१), तथापि स्वप्रकाशसिद्धमेव ब्रह्माद्वैतमिति भावः ॥

मू० [a] *नच यत्र तस्य प्रतिपत्तुर्बुद्धिधाराविश्रान्तिस्तत्र पुरुषान्तरबुद्धिर्भेदे प्रमाणं स्यात * । [b] तथापि पुरुषान्तरेण भिन्नतया सा(२)प्रतीयते इत्यत्र प्रमाणं त्वया वाच्यम् । [c] नहि तदपि पुरुषान्तरेणैव, [d] न च संभाव्यमानम्, श्रौतेन निश्चयेन तन्निवर्तनात्; [e] तथाप्यनवस्थानादिति । [f] अथ ब्रूषे-*यदा कियद्दूरं बुद्धिपरम्परया सा बाधिता भवत्यद्वैतश्रुति(३)स्तदा तन्न्यायाद् यापि बुद्धिःशेषं गत्वा नाऽनुव्यवसीयते तत्रापि तद्बा-

(१) अत्र यत्खण्डनभूषामणिकृतो रघुनाथस्य शङ्करमिश्रमतमनूद्य "नच तत्पुरुषान्तबाधबुद्धिमपेक्ष्य तस्याश्चरमत्वात् । मया तदुपस्थापने त्वया तदैव भेदो ग्राह्यः-इत्यपि न, मयाऽभेदं गृहीत्वैव तदुपस्थापनात् । यथा तव भेदग्रहस्तद्विरोधी तथा ममाऽद्वैतग्रहस्यापि भेदग्रहविरोधित्वादित्यलं काव्यरचनाकुशलानां तेनैव स्वशिष्यानामोदयतां खण्डनकथया"-इति खण्डनं, तच; खण्डनकोटेः सर्वतो बलवत्त्वेन युक्त्या विचार्यमाणेऽस्याप्यर्थस्याऽप्रतिष्ठितत्वात्स्वप्रकाशसिद्धमेव ब्रह्म, न तु श्रुतियुक्तिभिस्तत्प्रसाधनापेक्षेत्यत्रैव तात्पर्यात् ।

(२) सा=अन्तिमबुद्धिः, स्वविषयाच्छिन्नतया प्रतीयते- इत्यत्र प्रमाणं त्वया वाच्यं, नच तद् वक्तुं शक्यमनवस्थानादिति भावः । क्वचित्तु "सा प्रमीयते"-इति पाठः ।

(३) अद्वैतश्रुतिर्बुद्धिपरम्परया कियद्दूरं बाधिता भवति यदा, तदा या बुद्धिः शेषं गत्वा (शेषमवशिष्टां कक्षां गत्वा) नानुव्यवसीयते (ज्ञानान्तरवेद्या न भवति) समानन्यायात्तत्राप्यद्वैतश्रुतेर्बाधो गम्यते इत्यर्थः । तन्न्यायादित्येतद्व्याचष्टे-यत्रेति, यत्र=कतिपयबुद्धिपरम्परायां, साऽद्वैतश्रुतिर्बाध्यते तत्तुल्यन्यायत्वाद्=अन्तिमबुद्धेरपि बुद्धित्वाऽविशेषादित्यर्थः ।

धोऽवगम्यते, यत्र सा बाध्यते तत्तुल्यन्यायत्वादन्तिमबुद्धेरपि'–इति । मैवम् । किं कियतीषु बुद्धिषु व्याप्यव्यापकौ कावप्यवलम्ब्य व्याप्तिग्रहरूपयैव धिया शेषबुद्धौ बाधं व्युत्पादयसीत्थमद्वैतश्रुतेः ? किं वा बुद्ध्यन्तरदृष्टव्याप्तिसनाथया पक्षधर्म(1)हेतुमुल्लिखन्त्या बुद्ध्यान्तिमबुद्धिविषयया ? ।

टी० ननु विषयान्तरसंचारदर्शनादनवस्थाभयाच्च बुद्धिधाराप्रवाहविच्छेदसिद्धावपि पुरुषान्तरबुद्ध्या तद्बुद्धिधाराविषयविषयिपर्यन्तभेदग्राहिण्या श्रुतेर्बाधोऽस्त्वित्यत आह–। [a] "नचे"ति ॥ [b] "तथापी"ति । पुरुषान्तरेण चरमबुद्धेर्भेदो गृह्यते–इति यदि त्वया कथायामेव प्रमापणीयं तदा तत्रैव प्रमाणे श्रुतिप्रवृत्तिः, एवं(2)तत्रतत्रेति पुनरनवस्था, प्रमाणानुपदर्शने च तव पराजय एवेत्यर्थः ॥ ननु न मया तत्र प्रमाणं वाच्यं, किं तर्हि, पुरुषान्तरेणैव वाच्यमतो नानवस्थेत्यत आह–। [c] "नही"ति । पूर्वदोषतादवस्थ्यादिति(3) भावः ॥ ननु यद्यपि मदीयान्त्यबुद्धेः स्वविषयाद्भेदो मया न गृह्यते, यद्यपि च 'पुरुषान्तरेण गृह्यते'–इति मया प्रमाणयितुं न शक्यते, तथापि संभाव्यते तावत्, संभावनापि च विरोधिन्येव विपरीतनिश्चयस्येति कथं तत्राप्यद्वयश्रुतिप्रवृत्तिरित्यत आह–। [d] "नचे"ति । संभावनया प्रमाणाऽप्रवृत्तावनुमानादिकमपि न प्रवर्ततेत्यर्थः ॥ ननु तर्कादिना विपरीतशङ्कानिवृत्तावनुमानादि प्रवर्तते, न तु तस्य सत्यामेव, प्रकृते तु तथाविधतर्को नास्ति यः संभावनां विहन्यादत आह–। [e] "तथाप्यनवस्थानादि"ति । यद्यपीयमनवस्था तुल्यैव, संभाव-

(1) पक्षस्य यो धर्मः हेतुर्बुद्धित्वादिस्तमुल्लिखन्त्याऽनुमानरूपया धियेत्यर्थः ।

(2) एवं तत्रतत्र प्रमाणे प्रमाणान्तरप्रदर्शने त्वऽनवस्थेत्यर्थः ।

(3) पुरुषान्तरेणापि प्रमाणप्रदर्शने तत्प्रदर्शितप्रमाणे प्रमाणान्तरं पुनस्तत्प्रमाणे प्रमाणान्तरमन्येन प्रदर्शनीयमिति पुनरप्यनवस्थानाद् अप्रदर्शने च तत्रैव लब्धपदायाः श्रुतेस्सर्वाभेदे पर्यवसानादित्यर्थः ।

ना(१)मनुपनयत(२)स्तत्रापि श्रुतिविषयाऽनुपन्यासात्; तथा "व्याघातो यदिद"मित्यादावेव तात्पर्यम् ॥ या या बुद्धिः सा सा स्वविषयाद्भिन्ना, घटपटौ भिन्नाविति बुद्धिवदिति त्रिचतुःकक्षायां बुद्धिधारायां व्याप्त्यव-धारणादन्तिमबुद्धावपि तद्बलात्स्वविषयभेदसिद्धौ क्व श्रुतेरवकाश इत्याशङ्कते—। [f] "कथ"मिति ॥

मू० "नाद्यः व्याप्तिबुद्धिर्यदि विषयविशेषेपि स्वातन्त्र्येण बाधाऽक्षमिकोपेयते तदा सैव विशेषबुद्धिरपि स्यादिति गतमनुमानकथया। अथानुमितिमभ्युपैषि, [b] तदा सा नात्मानमपि धर्मीकृत्य प्रवर्त्तते इति तत्रैव दत्तपदा (३) सर्वामद्वैतश्रुतिः परम्परामालम्बते—इत्युक्तमावर्त्तते। [c] अथ * सर्वा विवादाध्यासिता बुद्धयः स्वविषयेभ्यो भिन्ना, बुद्धित्वाद्, घटपटबुद्धिवदिति सामान्याकारेणात्मानमपि धर्मीकृत्यात्मनोपि स्वविषयाद्भेदं साधयिष्यत्यनुमा? *—इति मन्यसे, मैवम्, [d] एवमपि विषयिणो विषयस्याऽभेदं बोधयन्ती श्रुतिरनुमानमप्यनवकाशयति।

टी० व्याप्तिधीरेव तत्र प्रमाणम्? तदुपलम्भादनुमानं वा प्रमाणम्? —इति विकल्प्य दूषयति(४)—। [a] "नाद्य" इति। व्याप्तिग्राहकप्रमाणस्यैव विशेषोपस्थितौ सामर्थ्येनुमानं प्रमाणमनवकाशमेव(५) स्यादित्यर्थः।

---

(१) सर्वथापि भेदस्याऽसंभाव्यमानत्वेऽभेदोपि श्रुत्याऽशक्योऽभावनः स्यादिति भेदसंभावनापूर्वकस्यैव तस्य वक्तव्यत्वेन यथायथा भेदसम्भावनायामनवस्था तथातथा तदभेदबोधनेपि पर्यन्ततो यत्रैवाऽभेदो न बोधनीयस्तदारभ्याऽमूलमभेदलोप इत्यभिप्रेत्याह—संभावनेति।

(२) "अपनयतः"—इत्यपि क्वचित्पाठः।

(३) तत्रैव दत्तपदाऽद्वैतश्रुतिः सर्वामद्वैतपरम्परामालम्बते—इति सम्बन्धः।

(४) आद्यं पक्षं दूषयतीत्यर्थः।

(५) पक्षधर्मताबलेनाऽनुमानेनैव हि वन्ह्यादेः पर्वतीयत्वादितत्तद्विशेषसिद्धिः, व्याप्त्यैव च तत्सिद्धावनुमानं निरर्थकमेव स्यादित्यर्थः।

अन्तिमबुद्धिः स्वविषयाद्भिन्ना बुद्धित्वादाद्यादिबुद्धिवदित्यनुमानं तदुपस्थापकमिति द्वितीयमाशङ्क्य निराकरोति–। [b] "तदे"ति। अनुमितावेव पदमारोप्याऽद्वैतश्रुतिः सर्वाभेदबोधिका तर्हि स्यादित्यर्थः ॥ नन्वनुमितिमपि पक्षेत्तर्भाव्य विषयाद्भेदः साधनीय इति तत्र श्रुतिप्रवृत्तिरनुपपन्नेत्याशङ्क्ते– [c] "अद्ये"ति ॥ एतावता च विषयाद्बुद्धेर्भेदः सिद्धो नतु बुद्धेरपि विषयस्य, अप्रतिज्ञानात्, तथा च बुद्धितो विषयस्याभेदबोधने निर्व्यापारान्यिनी श्रुतिः सर्वाभेदबोधने पर्यवस्यतीति परिहरति–। [d] "एवमपी"ति ॥

मू० [a] विषयिविषययोर्मिथो भेदेपि साध्ये अस्तु हेत्वनुयोगः([1]) । [b] परबुद्धिस्तद्विषयांश्च प्रति निराबाधा सती श्रुतिरेकस्या बुद्धेर्विषयादपरामपरस्याश्च विषयात्परामभेदबोधाय धावन्ती सर्वाद्वैते एव पर्य्यवस्यतीति । ※ [c] नच शक्यमनुमातुं–सर्वस्या बुद्धेर्विषयात्सर्वा बुद्धिर्भिन्नेति ※, [d] मा भूदन्यबुद्धिविषयादात्मनोपि ([2]) बुद्धिर्भिन्नेति । ※ नचात्मव्यतिरिक्तादित्युक्ते निस्तारः स्यात्※, अद्वैतवादिनः सर्वाभेदमिच्छतः क्वचिदपि तदसिद्धा([3])विशेषणाऽप्रसिद्धेरिति । [e] एतेन "सर्वं भिन्नम्"–इति वाक्येन, विना बाधं स्वतः प्रमाणेन, सत्प्रतिशब्दा ([4]) सेयमद्वैतश्रुतिरित्यप्यनवकाशं प्रत्यवस्थानं मन्तव्यं, [f] यस्मात्कस्मादपि भेदे मिथ्यातः ([5])सत्यभेदोपगमेन [g] सिद्धसाधनात्;

(१) हेत्वनुयोगः हेत्वाभासत्वमित्यर्थः । यद्वा, हेतुविषयकः पर्य्यनुयोगः (विचारः)–किं बुद्धित्वं हेतुः ? विषयत्वं वा ?–इत्यादिरूप इत्यर्थः ।

(२) अन्यबुद्धिविषयादात्मनोपि (सकाशाद्) बुद्धिर्भिन्ना मा भूदिति (हेतोः) सर्वस्या बुद्धेर्विषयात्सर्वा बुद्धिर्भिन्नेति नच शक्यमनुमातुमिति सम्बन्धः ।

(३) आत्मव्यतिरिक्तत्वाऽसिद्धेरित्यर्थः ।

(४) प्रतिद्वन्द्विहेतुना सत्प्रतिपक्षितत्ववदस्ति–"सर्वं भिन्नम्"इति प्रतिद्वन्द्विशब्दो यस्याः श्रुतेः सा तथा ।

(५) ब्रह्म मिथ्या न–इति मिथ्याभूताद्घटपटादेः सत्यस्य ब्रह्मणो भेदोपगमेन सिद्धसाधनादित्यर्थः ।

टी० ननु 'बुद्धिविषयौ मिथो भिन्नावि'त्येव प्रतिज्ञेयमिति न तत्रापि श्रुतिप्रवृत्तिरित्याशङ्क्य निराकरोति—। [a] "विषयी"ति। अत्र बुद्धित्वं न हेतुः, विषयभागेऽसिद्धेः, विषयत्वं न हेतुः, बुद्धिभागेऽसिद्धेः, । उभयगतं प्रमेयत्वादिकं व्यभिचारीत्यर्थः ॥ अभ्युपेत्य दूषयति—। [b] "परे"ति। स्वस्वविषयाभ्यां मिथो भेदसिद्धावपि परविषयेण सह भेदाग्रहात्तत्रैव श्रुतिप्रवृत्तिः सर्वाद्वैतपर्यवसायिनीत्यर्थः ॥ ननु सर्वा बुद्धयः सर्वबुद्धिविषयेभ्यो भिन्ना, बुद्धित्वात्; सर्वे विषयाः सर्वबुद्धिभ्यो भिन्ना, विषयत्वादिति परस्परं बुद्धिविषययोर्भेदसिद्धौ न श्रुतेरवकाश इत्यत आह— [c] "नचे"ति ॥ तत्र किं स्वव्यतिरिक्ताद्विषयाद्भिन्नेति साध्यते? विषयमात्राद्वा —इति विकल्प्य द्वितीयं दूषयति—। [d] "मा भूदि"ति॥ बाधं व्युदस्य सत्प्रतिपक्षं व्युदस्यति—। [e] "एतेने"ति। यद्यपि लौकिकवाक्यात् श्रुतेरेव बलवत्त्वमिति न तेन प्रतिरोधः तथापि वाक्यार्थे श्रुतितात्पर्यग्रहे सति तथा, नतु तात्पर्याग्रहदशायामपि तद्बलवत्तेति भावः ॥ [f] "यस्मादि"ति। यद्यपि मिथ्यात्(१) इत्यलीकं, तच्च न भेदप्रतियोगि, तथापि मिथ्यासत्यभेदव्यवहारस्त्वयाप्यनुरुध्यते इति भावः ॥ [g] "सिद्धसाधनादि"ति। मिथ्याप्रतियोगिभेदबोधकलौकिकवाक्येन सत्यसकलाऽभेदबोधकश्रुतेः सामञ्जस्यादित्यर्थः ॥

मू० [a] सर्वस्मादिति स्वतोऽप्यापत्तेः; स्वव्यतिरिक्तादिति चाद्वैतवादिन्यव्यवच्छेदकम्। तदेवम्—

[b] हेत्वाद्यभावसार्वज्ञ्ये सर्वं पश्यताऽऽस्थिते।
किञ्चित्तु त्यजता दत्ता सैव द्वाराऽद्वयश्रुतेः ॥ ९ ॥

अत एव च—

[c] आद्यधीवेद्यभेदीयाऽप्यन्यथानुपपन्नता।
स्वज्ञानापेक्षणादन्ते बाधते नाद्वयश्रुतिम् ॥ १० ॥

(१ "मिथ्यात"-इत्यत्र मिथ्यापदप्रतिपाद्यं यद्यप्यलीकमित्यर्थः। यद्यपि वेदान्तिकसिद्धान्ते मिथ्याऽलीकयोर्भेदः, तथापि पारमार्थिकत्वेन नित्यालीकत्वं भेदाऽप्रतियोगित्वं चाऽभिप्रेत्यैतदुक्तम्।

[d]न च संस्कारारूढदृढान्वयव्यतिरेकान्वयव्यतिरेका-
न्वयप्रतिपत्त्युत्पत्तिप्रतिबन्धः शक्यशङ्कः ।

टी० ननु 'सर्वस्मात्सर्वं भिन्नमि'त्युक्ते क्व सामञ्जस्यमित्यत
आह—। [a]"सर्वस्मादि"ति । तस्यापि(१) सर्वपदार्थान्तर्गतत्वादित्यर्थः ।
यद्यपि ब्रह्मणो यतःकुतश्चिदद्वैतसाधने स्वस्मादेव तत्सिद्धौ सिद्धसाधनं,
सर्वस्मादद्वैतसाधने मिथ्यातोऽप्यद्वैतसिद्धिप्रसङ्गः, तथापि स्वसाक्षिक(२)मेव
ब्रह्मेत्येव हृदयम् ॥ [b]"हेत्वादी"ति । आदिपदेन दृष्टान्तोपग्रहः । सर्व-
पक्षीकरणं सार्वज्ञ्यमन्तरेणानुपपन्नमित्यर्थः । आस्थिते= वीकृते । एतद्दोषद्ु-
यभयेन यदि पक्षात्किंचिद्बहिर्भाव्यं तदा श्रुतिप्रवेशे तदेव द्वारं स्यात्तत्रैव
सावकाशा श्रुतिः सर्वाद्वैतं बाधयिष्यतीत्यर्थः ॥ [c]"आद्ये"ति । आद्या
धीः='घटपटौ भिन्नावि'ति भेदधीः, तद्वेद्यो यो भेदो=घटपटभेदः, तदी-
यान्यथानुपपन्नता=तदन्यथानुपपत्तिः, सापि शेषं गत्वा नाद्वयश्रुतिं बाधते,
कुतः? स्वज्ञानापेक्षणात्(३),तथाचानुपपत्तिज्ञाने(४)सावकाशा श्रुतिः सर्वाद्वै-
तपर्यवसन्ना स्यादित्यर्थः । यद्यप्यन्यथानुपपत्तिज्ञाने त्वयोपानीय दत्ते तदै
व(५) तद्भेदग्रह इति न श्रुतेरवकाशः, यदि सर्वं भिन्नं स्यात्तदा घटपटौ
भिन्नावि'ति प्रत्यक्षेण गृहीतो घटपटयोरपि भेदो न स्यादित्यनुपपत्तिज्ञा-
नेन सकृद्बाधिता श्रुतिस्तत्रापि न सावकाशा, तथापि "तत्स्वप्रकाशपर-
मार्थेचिदेव भूत्वे"त्यत्र तात्पर्य्यम् ॥ उत्पन्नश्रौताद्वैतधीबाधं निरस्याऽये-
यताज्ञानात्तदुत्पत्तिप्रतिबन्धं निरस्यति—। [d]"नचे"ति । भ्रमयोदर्शनप्रच-
वसंस्काराद्रूढोन्वयः=सत्त्वं, यस्य व्यतिरेकस्य=भेदस्य, तस्य यावन्वयव्यति-
रेकौ, ताभ्यां योन्वयः=संबन्धो व्याप्तिलक्षणो—यो घटादिः स पटादेर्भिन्नो

(१) स्वस्यापीत्यर्थः ।
(२) स्वसाक्षिकं= स्वतः सिद्धं, न तु तत्र साधनान्तरापेक्षेति भावः ।
(३) अयमर्थः—प्रतीयमानैवाऽनुपपन्नता भेदं साधयतीति वाच्यम्, अर्थानुपपत्ति-
दर्शनादुपपादके बुद्धिरर्थापत्तिः इति स्वीकारात्; तथा चानुपपत्तेः स्वगोचरज्ञानात्स्व-
भेदाप्रसाधकत्वेन तत्रैव दत्तपदा श्रुतिः सर्वाऽद्वैते पर्यवस्यतीति ।
(४) अनुपपत्तिविषयकज्ञाने इत्यर्थः
(५) अनुपपत्तिविषयकज्ञानसमकालमेव तयैव ज्ञातयानुपपत्त्या स्वविषयकज्ञा-
नादपि स्वस्य भेदो गृहीतः, अभेदे हि प्रत्यक्षसिद्धो घटपटयोरपि भेदो न सिद्ध्येदित्यर्थः ।

यः पटादिर्न सो घटादिरित्येवमाकारः, तेन व्याप्तिप्रत्ययेन प्रतिपत्तेरद्वैतबुद्धेरुत्पत्तिप्रतिबन्धो न शक्यशङ्क इत्यर्थः। यद्वा, संस्काराद्दृढोऽत एव दृढान्वयो=दृढपदो, यो व्यतिरेको=भेदस्तस्यान्वयो 'भिन्नमिदमि'ति ज्ञानं, व्यतिरेकश्चाऽ'भिन्नमि'ति निश्चयस्ताभ्यामन्वयप्रतीतेः=श्रौतसंसर्गप्रतीतेरुत्पत्तिप्रतिबन्धो न शक्यशङ्क इत्यर्थः। सर्वलोकप्रसिद्धभेदप्रमा(१)बलादद्वैतश्रुत्या संसर्गबोध एव न संभवत्ययोग्यतानिश्चयादिति भावः। यद्यपि यत्रक्वचिदुत्पन्नं भेदप्रत्यक्षमेव सर्वाद्वैतप्रतिपादकश्रुतिबाधकमतो न श्रौतप्रतिपत्त्युत्पत्तिप्रतिबन्धः शक्यशङ्क एव, तथाप्युत्पत्तिप्रतिरोधेऽपि स्वप्रकाशप्रामाण्यावष्टम्भादिदमुक्तम् ॥

मू० यतः-

[a] "अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि।
अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतःप्रामाण्यनिश्चलाम् ॥ ११ ॥
[b] असंसर्गाग्रहस्यापि मन्ता शंसत्यबाधिते।
अत्यन्तऽसदसंसर्गाग्रहं संसर्गलग्नकम् ॥ १२ ॥

टी० "अङ्गुल्यग्रे करिशतं विहरति" "मम कर्णकुहरं प्रविश्य सिंहः क्रीडती"त्यादिशब्दादुत्पद्यमानस्य ज्ञानस्यानुभवसिद्धतया शाब्दज्ञाने योग्यताज्ञानस्यायोग्यताज्ञानविरहस्य वा न जनकत्वं, किंतु, ज्ञानमुत्पद्यमानं विषयबाधादप्रमाणतया, तदबाधात् प्रमाणतया, व्यवहर्तुमुचितं; प्रकृते च विषयबाधो नास्त्येवेत्याशयवानाह–। [a] "अत्यन्ते"ति। प्रमामत्र, करोतीत्यनुषज्यते। प्रत्यक्षादिबाधस्त्वाशङ्क्य निरस्त एवेति भावः॥ ननु अयोग्यतास्थले संसर्गज्ञानं नोत्पद्यते, व्यवहारस्त्वसंसर्गाग्रहमात्राधीन

(१) भेदज्ञानं यदि प्रमा स्यात्तदाऽयोग्यताज्ञानाच्छ्रुत्या संसर्गबोधो नोत्पद्येत, नत्वेतदस्ति, भेदस्य खण्डितत्वादित्यर्थः। अत एव 'यद्यपी'त्यनेन भेदप्रत्यक्षमेव श्रुतिबाधकमित्युक्तमपि साधु संगच्छते। वस्तुतस्तु, भेदप्रमैव यदि स्यात्तदा श्रुत्या संसर्गबोधो न स्यात्, नत्वेतदस्ति, भेदाऽभेदयोरुभयोरपि लोकसिद्धत्वात् तथाच यत्रैवाऽभेदप्रमा तत्रैव दत्तपदा श्रुतिः सत्यभेदे पर्यवसास्यति, नातस्तया संसर्गाऽबोधः-एतादृशार्थकरणे यद्यपीत्यनेन 'यत्क्वचिदि'ति, 'सर्वाऽद्वैते'ति च प्रतिपादनं साधूपपादितं स्यात्।

इत्यत आह—। [b] "असंसर्गाग्रहस्ये"ति । असंसर्गाग्रहस्य मन्ता मीमांसकः, स चात्यन्तमसच्चाऽसंसर्गः सत्यस्थले, तस्याऽग्रहो यत्र तत्र तु संसर्गप्रमामेव मन्यते, तथाच तन्मतेऽप्यद्वैतश्रुत्या संसर्गप्रमैव जननीया, विषयाऽबाधादित्यर्थः । सदसंसर्गाग्रहस्तत्र नास्त्येव, विषयबाधस्य निरस्तत्वादिति भावः ॥

मू० [a] अनौचित्या(१)पि तर्केण दुर्बाधैवाद्वयश्रुतिः ।
अनारोपितमूलत्वाद्बलवत्त्वादतादृशा ॥ १३ ॥
[b] प्रवृत्तेना(२)प्यनौचित्यमूलं येन न लूयते ।
तत्राऽनौचित्यसाम्राज्यं वैपरीत्यात्तु नात्र तत् ॥ १४ ॥

टी० नन्वनौचित्यऽविनिगमककल्पनालाघवकल्पनागौरवाणां तर्काणां, तर्कप्रतिरूपकाणां(३) वा, प्रमाणसहकारित्वमुभयवादिसिद्धं, तथाचाऽनौचितीतर्कस्य सकललोकसिद्धभेदतिरस्काराऽनर्हत्वलक्षणस्य प्रकृते सत्त्वाद्भेदग्राहिप्रत्यक्षमेव बलीयो, नत्वभेदविषया श्रुतिरित्यत आह—। [a] "अनौचित्ये"ति । तर्कस्याहार्यारोपरूपतया तदपेक्षया श्रुतेरनारोपितमूलाया बलवत्त्वमिति तर्कोपष्टब्धप्रमाणापेक्षयापि तथेत्यर्थः । अतादृशाऽनारोपितमूलेनेत्यर्थः । केचित्तूद्भावितनिग्रहस्थानेनैवोद्भावितनिग्रहस्थानपरिहारोऽनौचितीतर्कः(४) श्रुतेर्बाधकः स्यादित्याशङ्काभाग इत्याहुः । तच्चिन्त्य-

(१) सकललोकसिद्धो भेदस्तिरस्कर्तुमनुचितः—इत्यनौचितीतर्कः, उचितस्य भाव औचिती, न औचिती अनौचितीत्यक्षरार्थः । अनौचित्यमित्यदन्तोऽपि तत्समाख्या ज्ञेया ।

(२) प्रवृत्तेनापि येन प्रमाणेनाऽनौचित्यस्य मूलं न लूयते=न खण्ड्यते, तत्रैवाऽनौचित्यस्य साम्राज्यं=स्वार्थसाधनसामर्थ्यं भवति, अत्र तु तद्वैपरीत्यात्=अद्वैतश्रुत्याऽनौचित्यमूलस्य पारमार्थिकभेदनिष्ठसर्वजनसिद्धत्वस्य लवनात्, न तद्=अनौचित्यस्य साम्राज्यमित्यर्थः ।

(३) तर्कप्रतिरूपकाणां=तर्कसदृशानां, न तु तर्काऽऽभासानामित्यर्थः, तेषां प्रमाणविरोधित्वेन प्रमाणसहकारित्वस्याऽसम्भवात् ।

(४) पूर्वपक्षिणोद्भावितं श्रुतिबाधलक्षणं निग्रहस्थानमपरिहृत्य बाधत्वेन तदभिमतं श्रुत्या प्रत्यक्षबाधलक्षणेन निग्रहस्थानेन यस्तस्य परिहारः ( प्रतिबन्दी ) वेदान्तिकस्य, सोऽनुचितत्वनौचितीतर्क इत्यर्थः । यद्वा, येनैव घटपटादिभेदावगाहिप्रत्यक्षबाधलक्षणेन निग्रहस्थानेन श्रुतिर्बाध्यते तेनैव प्रत्यक्षप्रतियोगिकविषयानुयोगिकाभेदावगाहनादभेदस्यावच्छिन्नाऽभेदावगाहिश्रुतिबाधोऽपि बाध्यते इत्युद्भावितनिग्रहस्थानेनैवो

म्(१) ॥ नन्वेवमनौचित्यतर्को नास्त्येव, तथाच "दोषं व्यक्तिविवेकेऽमुं कविलोकविलोचने"(२)इत्याद्यग्रे(३)यदुक्तं तदनुपपन्नं स्यादित्यतः सदसदनौचित्ययोर्विषयं विवेचयति-। b प्रवृत्तनापी"ति । अनौचित्यमूलं हि-भेदस्य सर्वजनसिद्धत्वं, तच्च(४)श्रुत्या पारमार्थिकमद्वैतं बोधयन्त्या मूलं व्यावहारिकभेदपरं कृतं, तथाचापारमार्थिकभेदमादाय सर्वलोकसिद्धव्यवहारोपपत्तौ नाऽनौचित्यमिति भावः। "अनौचित्यमूलं व्याप्यव्यापकभावः, तस्य खण्डनमद्वैतश्रुत्ये"त्यपव्याख्यानम्(५), अनौचित्यस्य व्याप्यव्यापकभावमादायाऽप्रवृत्तः, तत्प्रवृत्तौ वा तत्परत्वे सर्वानौचित्यखण्डने खण्डनकारस्याग्रे- "विषवृक्षोऽपि संवर्द्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रत"मित्यादेरनवकाशापत्तेः। "उद्भावितनिग्रहस्थानेने"त्यादिस्वोक्तिविरोधाच्च(६) ॥

मू० a * ननु यद्यदेवोदाह्रियते त्वया-नेत(७)इतोऽस्य भेदो गृहीत इति ततोऽस्याद्वैताम्नायैरभेदबोधने तद्द्वारा सर्वाभेदे पर्य्यवसानात्कथम्-इति, ततस्ततस्तस्य भेदस्तदैव गृह्यते मया, तस्मादुदाह्रियमाणतायामनुदाह्रियमाणतायां च कस्यचिदेतत्प्रत्यवस्थानमस्थाने

द्भावितनिग्रहस्थानपरिहारो वेदान्तिकस्यानुचितः, घटपटाद्यभेदांशे श्रुतिबाधस्यापि सद्भावाद्-इत्यनौचितीतर्कः। अथवा, उद्भावितं निग्रहस्थानं बाधादिरूपं यत्रेति बहुव्रीहिः,तया च स्वयं बाधितेन तर्कादिना बाधपरिहारोऽनुचित-इत्यनौचितीतर्क इत्यर्थः।

(१) चिन्ताबीजं तु स्वमते दोषमनुद्धृत्यापि प्रतिबन्द्यादेर्दानस्य युक्तत्वम्।

(२) "काव्यमीमांसिषु प्राप्तमहिमा महिमाऽऽदृत"-इत्युत्तरार्द्धम्। अस्यार्थः-महिमानामकः कश्चिदालङ्कारिकः काव्यमीमांसाऽभिज्ञेषु प्राप्तमहत्त्वः स्वीयव्यक्तिविवेकनामके ग्रन्थे ऽमुं दोषमनौचित्याख्यम् आदृत=पुरस्कृतवान्। किंभूते ग्रन्थे? कविलोकविलोचने, कविलोकानां चक्षुर्भूते, अनया कारिकया खण्डनकारेणाऽनौचित्ये सम्मतिः प्रदर्श्यते।

(३) चतुर्थपरिच्छेदस्याऽवसाने।

(४) तच्च मूलमिति सम्बन्धः।

(५) केचित्त्वित्यनेन पूर्वमुक्तस्यैवेदमपव्याख्यानं द्रष्टव्यम्।

(६) नहि उद्भावितनिग्रहस्थानतत्परिहारयोर्व्याप्यव्यापकभावोऽस्ति येन तमादायानौचित्यप्रवृत्तिः स्यादिति भावः।

(७) इतइतः=अन्त्यबुध्यादितः, अस्य=उपान्त्यबुध्यादेः। सर्वाऽभेदे पर्यवसानात्कथमिति यद्यदेव त्वयोदाह्रियते-इति सम्बन्धः। ततस्ततः=अन्त्यबुद्ध्यादितः, तस्य=उपान्त्यबुद्ध्यादेर्भेदस्तदैव=कथाकाले एव मया गृह्यते इत्यर्थः।

इति * ?। मैवम् । [b] अन्तिमबुद्धेरद्वैतश्रुतिजबुद्ध्यादितो भेदो न त्वया प्रमित-इति मयोच्यमाने यस्तदीयस्ततो भेदः प्रमातव्यः सन तावत् प्रत्यक्षेण, तत्कालमन्तिमबुद्धेरनुपस्थितेः । [c] यदि च केनचिद्धेतुना वा कयाचिदनुपपत्त्या वा तथा स्यात् तदानीमद्वैतवादिनं प्रति हेतोः साध्याऽविशिष्टतया (१), अनुपपत्तेश्च येन विना सा तदविशिष्टतया, ततःकथमाभासात् प्रमोदयः स्यात् ।

टी० सिंहावलोकितन्यायेन शङ्कते– [a] "नन्वि"ति । कस्यचिद्वस्तुनोऽनुदाह्रियमाणतायां श्रुतिव्यवस्थापनानवकाशः, उदाह्रियमानतायां च भेदग्रहापत्तिरिति(२) प्रत्यवस्थानं खण्डनमस्थाने ऽयुक्तमित्यर्थः ॥ मयोदाह्रियमाणाया अन्तिमबुद्धेः प्रत्यक्षादिना केनापि प्रमाणेन कथायां भेदः साधयितुमशक्य इति परिहरति– [b] "अन्तिमे"ति । यद्यप्यन्तिमबुद्धेरुदाहरणेऽन्तिमत्वव्याघातो, ऽनुदाहरणे श्रुत्यव्यवस्थापनं, मानसप्रत्यक्षेण ततो भेदग्रहश्च तदुदाहरणे, वाक्यजज्ञानसहकृतस्य मनसो बहिरपि प्रवृत्तेः, कविवाक्यवत्(३), तथापि तस्य(४) प्रमाणान्तरत्वापत्तिः ; न वा तादृशप्रत्यक्षे(५) प्रमाणं, तादृश(६) मानसप्रत्यक्षेण सह भेदाग्रहात्तत्रैव श्रुतिप्रवृत्तेरिति

(१) हेतोः साध्याऽविशिष्टतया (साध्याऽभिन्नतया) तत आभासात्कथं प्रमोदयः स्यात्, अनुपपत्तेश्च येन (उपपादकेन) विना सा=(अनुपपत्तिर्भवति) तदविशिष्टतया तत आभासात्कथं प्रमोदयः स्यादित्यन्वयः ।

(२) इतिशब्दो हेतौ ; इति हेतोः कस्यचिदपि वस्तुनः प्रत्यवस्थानं = खण्डनमयुक्तमित्यर्थः ।

(३) यथा कवीनां = क्रान्तदर्शिनां, मानसज्ञानसहकृतं वचोऽतीताऽनागतविप्रकृष्टव्यवहितसूक्ष्मवस्तुषु प्रतिपादकत्वेन सर्वत्रैव प्रवर्तते तद्वदित्यर्थः ।

(४) मानसप्रत्यक्षस्येत्यर्थः ।

(५) बाह्यार्थगोचरमानसप्रत्यक्ष इत्यर्थः ।

(६) किञ्च, मनसाऽन्त्यबुद्ध्यादित उपान्त्यबुद्ध्यादेर्भेदग्रहेऽपि स्वप्रतियोगिको भेदो न गृहीत इति तत्रैव लब्धपदा श्रुतिः सर्वाऽभेदे पर्यवस्येदित्याह–तादृशेति ।

भावः ॥ ननु प्रत्यक्षाभावेऽप्यनुमानमर्थापत्तिर्वा स्यादित्यत आह—। [c]"यदि चे"ति। हेतुना=बुद्धित्वादिना। अनुपपत्त्या=प्रथमगृहीतभेदान्यथानुपपत्त्या। अनुमानपक्षे—'हेतोरि'ति; अर्थापत्तिपक्षे—'येन विने'ति। अनुमानस्यार्थापत्तेर्वा भेदमादाय प्रवृत्तेरद्वैतवादिनं प्रति तदुपन्यासस्यानवकाशादिति भावः ॥

मू० [a]* नच वाच्यं स्वयं मया स भेदो ज्ञायते इति नास्ति पाक्षिकोऽपि (१) मां प्रत्यसिद्ध्यादिरिति *, यतो [b]ऽस्य त्वद्वचनस्य वैयर्थ्यापत्तिः, [c]वचनस्य परार्थत्वात्। मौनमवलम्ब्यावतिष्ठमानश्च भवानऽप्रतिभातो न मुच्यते। * नच स्वयं मया प्रमितो भेदः परं प्रति वचसा केवलं बोध्यते इति वाच्यम् *, त्वद्वचसि परस्याप्रत्ययात्। विजिगीषुं परं प्रति विजिगीष्वन्तरवचनं हि तत्रार्थे तज्जिज्ञासोत्पादनद्वारेण तस्य स्वतस्तदर्थप्रमित्युत्पादनपर्य्यवसायितयोपयुक्तम्, नचाद्वैतवादिनं प्रति तथा कर्त्तुं शक्यते, तं प्रत्यन्यतरासिद्ध (२) रुक्तत्वात्। * [d]नच वाच्यमम वचनात्सन्देहेनापि श्रुतया तत्र सन्दिग्धबाधितभावया नाभेदप्रतिपादनं ते घटते इति *, यस्मादद्वैतं मन्यमानेन भेदासिद्ध्या सर्वत्र साध्याऽविशेषादिदोषप्रतिसन्धायिना संशयस्याप्यनवकाशीकरणमेव स्यात्।

टी० अनुमानमर्थापत्तिर्वा नाद्वैतवादिनं प्रत्युपन्यस्यते, किं तर्हि, स्वत एवान्तिमबुद्ध्या सहभेदोऽनुमीयते इति ब्रूम इत्याशङ्क्य परिहरति—

(१) परार्थाऽनुमानपक्षे एवाऽसिद्ध्यादिर्दोषो न स्वार्थानुमानपक्षेऽपीति भावः।

(२) अन्यथाऽनुपपत्त्या भेदसाधने उपपाद्योपपादकयो र्भेदस्याऽसिद्धेः, अनुमित्या तत्साधने च साध्यसाधनयोर्भेदस्याऽसिद्धेरित्यर्थः।

[a]"नच वाच्यमि"ति ॥ [b]"अस्ये"ति। स्वयं मया स भेदो ज्ञेय इत्यस्येत्यर्थः॥ वैयर्थ्ये हेतुमाह—। [c]"वचनस्ये"ति। परस्य चाद्वैतवादिनये ऽभावादिति भावः। यद्यपि यथाऽद्वैतवादिनं प्रत्यनुमानमनवकाशं तथा भेदवादिनं प्रति शतशः पठ्यमानाप्यद्वैतश्रुतिरनवकाशा, तेन सर्वत्र भेदग्रहात्। क्वचित्प्रत्यक्षतः, क्वचिदनुमानात्, क्वचिदागमाद्, अर्थापत्तेर्वा तस्य यथायथं भेदग्रहसंभवात्। "मया तावदद्वैतश्रुतिभिरद्वैतं प्रतिपाद्यते"—इत्यपि त्वदुक्तं भेदवादिनं प्रत्यनवकाशमेव। नहि यस्य तादृशश्रुत्यर्थेऽश्रद्धा, तस्य त्वद्वचसि श्रद्धा। भेदप्रतिपादकप्रत्यक्षाद्याभासीकरणमपि तं प्रत्यतन्त्रं, तेन स्वनयेन सर्वसामञ्जस्यकरणात्; तथापि स्वप्रकाशे ऽद्वैते तात्पर्यम् ॥ ननु मद्वचनेन निर्णयस्तव मा भूत संशयोपि स्यादेव, तावतैव श्रुतिरनवकाशेत्यत आह—। [d]"नच वाच्यमि"ति। प्रत्यक्षादौ बाधकमाने(१) खण्डिते श्रुतिलक्षणसाधकप्रमाणे च सति बाधक(२)साधकमानाभावलक्षणायां संशययोग्यतायां निरस्तायां संशय एव नास्ति, भवन्वा न स प्रमाणपरिपन्थीति भावः। यद्वा, श्रुतिपरिपन्थिना केनचित्प्रमाणाभासेनापि यदि द्वैतमुपस्थाप्येत तदा संशयः स्यात्, तत्त्व नास्त्येव, प्रत्यक्षस्य निरस्तत्वात्; अनुमानादेः साध्याऽविशेषादिदोषग्रस्तत्वात्; अन्ततो भेदाभावेन तद्घटितविरोधाभावेन विरुद्धनानाकोटिकस्य संशयस्याप्यद्वैतवादिनं प्रत्यनवकाशादित्यर्थः ॥

मू० [a]"तस्मात्—

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित्। आस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः सङ्गरकेलिषु॥ १६॥ अपि च(३), प्रतीयते

(१) अत्र बाधकमानं श्रुतेर्बाधकं ग्राह्यं, न तु संशययोग्यताकुक्षिनिविष्टं, तथा चाऽबाधिताऽद्वैतश्रुतिसद्भावे साधकमानाभावः कथमिति भावः।

(२) बाधकेन जनितं मानं बाधकमानं (बाधः) साधकेन जनितं मानं साधकमानं (सिद्धिः) तदुभयाभावलक्षणायामित्यर्थः।

(३) परकीयबुद्धिविषयस्य विशेषरूपेण साक्षात्कारसम्भवे बुद्धिविषयवैभेदः परेण गृह्येत, भेदज्ञाने विशेषरूपेण धर्म्यादिज्ञानस्य हेतुत्वात्, नत्वेतदस्तीत्याह-अपिचेति।

तावदिदं सामान्यतो, यन्नाम किंचित्परश्चेतसा चिन्तयन्नस्तीति, किंचिद्वा विवक्षुरित्यादि; तत्र परस्य बुद्धिविषयो विवक्षाविषयो वा विशेषतो विनिगमनं विना नैव प्रतीयते, ततोऽन्तिमबुद्ध्यादिभेदो न भवता शक्यप्रमः, परेण(१)तच्चिन्तनादेरपि संभवात्। स्वस्मात्स्वस्य भेदस्याभावात्। ततस्तत्र लब्धपदा कथमद्वैतश्रुतिर्विश्वाभेदे पर्य्यवस्यन्ती त्वया शक्यबाधा स्यात्। तस्मात्–

[c]कथं सामान्यतो(२)ज्ञाते नैव ज्ञाते विशेषतः।
पदरोधस्त्वया कर्त्तुं शक्यः स्याद्द्वयश्रुतेः ॥ १६ ॥

टी० सर्वप्रमाणापेक्षया श्रुतेर्बलवत्त्वेन तद्विषयस्य बलवत्त्वात्तद्वैतवादिनोऽपि बलवत्त्वमित्युपसंहरति–। [a] "तस्मादि"ति ॥ यत्र विषये प्रत्यक्षादिना भेदो दुर्ग्रहस्तत्र श्रुतेः प्रवृत्तिमाह–। [b] "अपि चे"ति। परेण चिन्त्यमानस्य वस्तुनः (यतो भेदो ग्राह्यः) 'तदेव परेणेदानीं चिन्त्यते'-इति विशिष्यानवधारणाद्भेदो दुर्ग्रह इति तदेव(३)श्रुतिविषय इत्यर्थः। यद्यप्यापाततस्ततो भेदाग्रहेऽपि अत्र क्रमेण भेदं गृहीत्वा श्रुतिरपसारणीया, नहि यदेकदा न गृह्यते तच्च कदापि गृह्यते, प्रवृत्तं वा प्रमाणं पश्चात्प्रवृत्तेन बलवता प्रमाणेन नाऽपसार्य्यते, परिचिन्त्यमानत्वावच्छेदेन(४) तत्रापि वा भेदः सुग्रह एव, वस्तुतस्तस्यान्त्यबुद्धित्वादित्यन्यदेतत्, तथापि श्रुतेरापाततस्तत्रावकाश इतिहृदयम् ॥ उक्तमर्थं संकलयति–। [c] "कथमि"ति ॥

---

(१) परेण = भेदप्रमात्रा, तच्चिन्तनादेः = धर्मिप्रतियोगिचिन्तनादेरप्यावश्यकत्वात्तस्य च विशेषरूपेण प्रकृतेऽभावादिति भावः।

(२) सामान्यतो ज्ञाते विशेषतश्च न ज्ञाने कथमद्वयश्रुतेः पदरोधः कर्तुं शक्यः- इत्यन्वयः। क्वचित्तु "नैव सामान्यतो ज्ञातं"-इति पाठः।

(३) अभिन्नं वस्त्वित्यर्थः।

(४) परिचिन्तनस्य परिचिन्त्यमानाद्भेदे साध्ये परिचिन्त्यमानत्वावच्छेदेन तत्रापि = परकीयबुद्धिविषयेऽपि, बुद्धिभेदः सुग्रह एवेत्यर्थः।

मू० * [a] ननु भेदमनङ्गीकुर्वतो भवतः कथं तत्तत्पदपदार्थवैचित्रीव्यवहारो न व्याहन्यते ? * । [b] कथं व्याहन्यते, प्रतिवद्यते हि तत् । [c] किंच, योयं त्वया व्याघात आपादनीयः सोपि कस्माचिदापादकात्, नचापाद्यापादक-मभिद्यमानमापत्त्यै प्रभवेदिति । तस्मात्—

[d] नानात्व(१)मवलम्ब्यापि वदत्यद्वैतवादिनि ।
असिद्धभेदाद्व्याघातः पतेदापादकात्कुतः ॥१७॥(२)

---

[e] इदमपि च विचारमर्हति, यदद्वैतश्रुतीनां बाधकमुपन्यस्यते प्रत्यक्षादि घटपटप्रभृतिभेदग्राहि तदपि कीदृश्यर्थे पर्यवस्यति ?। तथाहि—प्रत्यक्षेण योसौ भेदो गृह्यते स किं स्वरूपभेदः ?—१(३)किमन्योन्याभावः ?—२ किं वैधर्म्यं ?—३ किमन्यदेव वा ?—४। [f] यदि तावत् स्वरूपं भेदः, स नाम(४) घटपटयोर्हि स्वरूपं यत्परस्परस्मा(५)द्भेदः तत्परस्परमनन्तर्भाव्य न संभवति, (भेदो हि

---

(१) नानात्वं व्यावहारिकं, काल्पनिकं वा; नतु पारमार्थिकम् अद्वैतवादिनं प्रति तदसिद्धेः ।

(२) { स्वरूपान्योन्यवैधर्म्यपृथक्त्वेतिचतुर्विधो ।
भेदो न घटतेऽद्वैते वदत्येतत्तु साम्प्रतम् ॥ }

(३) 'स्वरूपमेव भेद'—इति प्रभाकरमतोपन्यासः, 'अन्योन्याभाव'—इति नैयायिकैकदेशिनाम्, भट्टैकदेशिनां मतं—'वैधर्म्यमि'ति, वैशेषिकस्य—'अन्यदेवे'ति, पृथक्त्वं गुण इत्यर्थः ।

(४) बहुषु पुस्तकेषु "स न घटपटयोर्हि स्वरूपम्"—इति पाठः । तत्र स न (स पक्षो नोपपद्यते ) इत्येतावत्पर्य्यन्तं विरामः कर्तव्यः ।

(५) यच्च तत्परस्परं च यत्परस्परं, यत्परस्परस्माद्भेदस्तत्परस्परमनन्तर्भाव्य तद्विशिष्टो भेद एव न सम्भवति, विशेषणादिव्यतिरिक्ताविशिष्टपदार्थानङ्गीकारादित्यर्थः ।

(६) किञ्चित्प्रतियोगिक एव भवतीत्यर्थः ।

भवन् कस्मादपि(१)भवति अन्यथा 'स्वरूपं भेद'-इति पारिभाषिकं(१)नाम स्यात्) यदा च घटाद्भेदः पटस्येत्येतावानेवार्थः(२) पटादेः स्वरूपं प्रत्यक्षेण गृह्यते तदा घटोपि पटात्मन्येव प्रविष्ट इति पटघटयोरैक्यात्म्यमेव भेदग्राहिणा प्रत्यक्षेणावगाहितमिति विपरीतमापद्यते ।

टी० ननु यथानुमानादेः साध्यसाधनादिभेदाधीना प्रवृत्तिरित्यद्वैतवादिनं प्रति तदनवकाशस्तथा श्रुतेरपि पदपदार्थवैचित्र्यमुपजीव्यमिति तं प्रति तदनवकाशोपि, प्रत्युत तया व्यवहरतो व्याघात एव तव, भेदव्यवहारान्यथानुपपत्त्या भेदसिद्धिरेवास्त्वित इत्याशङ्कते-। [a]"नन्वि"ति ॥ परिहरति- [b]"कथं व्याहन्यते"इति ॥ आपाद्यापादकयोरभेदाद् व्याघातापादनं मां प्रत्यनवकाशमित्याह-। [c]"किंचे"ति ॥ पदपदार्थनानात्वमवलम्ब्यापि श्रुतिं प्रमाणयतो मम व्याघातो नास्तीत्याह-। [d]"नानात्वमि"ति । असिद्धभेदादापादकाद्व्याघातः कुतः पतेदित्यन्वयः ॥

---

यं भेदं विषयीकुर्वत् प्रत्यक्षादि श्रुतिबाधकं स्यात् स एव नास्ति कुतो बाध इत्याह-। [e]"इदमि"ति ॥ [f]"यदि तावदि"ति । घटाद्भेदः स्वरूपं पटस्य, †तत्र घटो † विशेषणम्? उपलक्षणं वा?। आद्ये, घटभेदः पट†स्वरूपं प्रत्यक्षेण गृहीतमिति घटा†भेद एव प्रत्यक्षेण गृहीत इति वैपरीत्यमित्यर्थः ॥

मू०*[a] ननु यथेयं प्रतीतिरभेदोल्लेखितया व्याख्यायते(३)तथा भेदोल्लेखित्वेपि दीयतामस्यां दृष्टिः, अभेदे हि 'घट' इत्येव, 'पट' इत्येव वा, बुद्धिः स्यात्, नतु 'घटाद्भिन्नः

(१) पारिभाषिकं=स्वसङ्केतमात्रसिद्धम् ।
(२) पटाऽनुयोगिकत्वे सति घटप्रतियोगिकत्वविशिष्ट इत्यर्थः ।
(३) व्याख्यायते=व्युत्पाद्यते ।
† अत्र प्रायः पुस्तकेषु घटपटयोर्मौलिकप्रतियोग्यनुयोगिभावक्रमवैपरीत्येन व्याख्यायामुपलब्धं प्रतियोग्यनुयोगिभावमुपेक्ष्यापि, उपन्यास्यं च यथोचितक्रमेण, उपन्यासचिन्हं च † एतत् सर्वत्र व्यवातिष्ठिपम् ।

पट'*?-इति चेत्, [b]स्यादप्येष पर्य्यनुयोगो यद्यविद्याविद्यमानभावं(१) भेदं पारमार्थिकमभेदमिच्छन्तोपि प्रत्यादिशामः । तस्मात्-

'[c]अभेदं नोल्लिखन्ती धीर्न भेदोल्लेखनक्षमा ।
तथाचाद्ये प्रमा सा स्यान्नान्त्ये स्वापेक्ष्यवैशसात् ॥१८॥

*[d]अथ 'भेदः'-इत्येतावन्मात्रं पटस्य स्वरूपं, 'घटादि'ति च तद् घटेन प्रतियोगिनाऽन्ये(२)नैव निरूप्यते*?-तदपि नोपपद्यते ।

टी० ननु घटाद्भेदः स्वरूपं पटस्येत्युक्ते घटपटयोर्नाभेदः प्रतीयते, तथा सति 'घटादि'ति न स्यात्, किंतु 'घटः पट'-इति सामानाधिकरण्यं स्यादिति शङ्कते-। "[a]नन्वि"ति ॥ अविद्याविद्यमानं भेदमादाय तथाप्रतीतिरिति परिहरति-। [b]"स्यादि"ति ॥ ननु भेदो न पारमार्थिकः, किंत्वभेदः,-इत्यत्र किं विनिगमकमत आह-। [c]"अभेदमि"ति । घटपटस्वरूपमनुल्लिख्य तदुभयभेदोल्लेखो न संभवति, तदुभयभेदमनुल्लिख्यापि तदुभयस्वरूपोल्लेखः संभवतीत्यभेदग्रह उपजीव्यो भेदग्रहस्येत्यभेद एव पारमार्थिक इत्यर्थः । आद्ये=अभेदे, सा धीः प्रमा, नान्त्ये=भेदे, स्वस्य=भेदग्रहस्यापेक्ष्य=उपजीव्यो ऽभेदग्रहस्तद्वैशसात्तद्विरोधादित्यर्थः । यद्यपि भेदाभेदपदाभ्यामुभयोपस्थितौ विपरीत(३) एवोपजीव्योपजीवकभावः, स्वरूपस्यापि भेदत्वे सर्वधियां भेदोल्लेखित्वस्याऽऽवश्यकत्वे वैपरीत्यमेव, तथापि अत्यवष्टम्भादिदमुक्तम् ॥ उपलक्षणपक्षं कक्षीकृत्याशङ्कते- [d]"अथे"ति । यदि प्रतियोग्यपि भेदस्वरूपं स्यात्तदा तन्निरूपकमेव न स्यादिति भावः(४) ॥

(१) अविद्यया विद्यमानो भावः सत्वं यस्य स तथोक्तस्तम् । अविद्याविद्यमानभावं भेदं यदि प्रत्यादिशामः-इति सम्बन्धः ।
(२) अन्येन=भेदस्वरूपाऽप्रविष्टेनोपलक्षणीभूतेनेति यावत् ।
(३) भेदोपस्थितिपूर्वक एवाऽभेदग्रहः, अभेदस्य भेदाभावरूपत्वादित्यर्थः ।
(४) पूर्वपक्षिणोभाव इत्यर्थः ।

मू० [a]निष्प्रतियोगिकस्य भेदस्य प्रमाणागोचरत्वात् । नित्यं प्रतियोगिघटिते एव तस्मिन् प्रमाणप्रसरात् । [b]का चेयं वाचोयुक्तिर्यदन्याऽसाकाङ्क्षं पटस्य स्वरूपमन्येन प्रतियोगिना निरूप्यमाणं ततो भेदो भवतीति ?। नहि यत्स्वरूपेणैव नीलं, तत् पीतेन निरूप्यमाणं नीलं भवति । [c]यदपि चोक्तं प्रतियोगिना घटेन निरूप्यमाणं पटस्य स्वरूपं भेद-इति, तत्रापि पटं(१)प्रति प्रतियोगित्वं घटस्य किं स्वरूपं ? किं वा धर्मः कश्चित् ?। यदि प्रथमः, तदा पटं प्रति प्रतियोगित्वमित्येतावानेवार्थो(२)घटस्य स्वरूपं भवदात्मन्येव पटमपि प्रक्षिपतीति कथं नाद्वैतमेव पर्य्यवस्यति। [d]तत्रापि यदि प्रतियोगित्वमात्रं घटस्यात्मा 'पटं प्रती'ति च पटापेक्षित्वमन्यदेव, तदप्यनुपपन्नम् ।

टी० नियमतो यावति(३) यन्निरूपणं पर्य्याप्तं तावत्तत्स्वरूपान्तर्गतमेवेति प्रतियोग्यपि भेदस्वरूपं स्यादित्याह—। [a]"निष्प्रतियोगिकस्ये"ति ॥ ननु संयोगादिस्वरूपं प्रतियोगिनिरूपणीयमपि न तद्घटितमूर्त्तिकमित्यनुशयेनाह(४)—। [b]"का चेयमि"ति । अन्याऽसाकाङ्क्षम्=अन्याऽनिरूपणमित्यर्थः । यद्यपि पटः † स्वरूपतः पटः, † प्रतियोगिना निरूप्यमाणो भेद, इति न दोषः, नीलमपि स्वरूपतो नीलं, पीतेन निरूप्यमाणं भेद

(१) पटं प्रति=पटनिरूपितं, घटस्य=घटनिष्ठं, प्रतियोगित्वं प्रतियोगिनो घटस्य स्वरूपं धर्म्मो वेत्यर्थः ।

(२) पटनिरूपितत्वविशिष्टप्रतियोगित्वलक्षणः संपिण्डितोऽर्थ इत्यर्थः ।

(३) यावति=प्रतियोग्यादौ, यस्य=भेदादेर्निरूपणमिति, यावति भेदादौ यस्य=प्रतियोग्यादेर्निरूपणमिति वा,ऽर्थः; उभयथाप्यग्रे "तावदि"त्यनेन प्रतियोग्येव ग्राह्यम् ।

(४) इति पूर्वपक्षिण अनुशयं हृदि निधाय प्रकारान्तरेण सिद्धान्त्याहेत्यर्थः ।

एव, भेदत्वेन निरूप्यमाणेपि तत्र पटत्वमित्यन्यदेतत्, प्रकारयोस्तु भेद एव, तथापि स्वरूपभेदे निरूपकभेद(१) एवानुपपन्न इति हृदयम् ॥ भेदस्वरूपे(२) प्रतियोगिनमन्तर्निवेश्य प्रतियोगिस्वरूपे भेदमन्तर्निवेशयति–। [c]"यद्पी"ति । भेदवत् प्रतियोगित्वमप्यन्यसाकाङ्क्षमेवेति तदप्यन्यघटितमूर्ति स्यादित्यभेदे पर्य्यवसानमित्यर्थः ॥ प्रतियोगिनो(३) भेदस्य विशेषणतायां दोषमुक्तोपलक्षणतामाशङ्क्याह–। [d]"तत्रापी"ति ॥

मू० [a]अकिञ्चिदपेक्षस्य प्रतियोगित्वस्य प्रमाणाऽविषयत्वात् । [b]'पटं प्रती'त्यत्रापि च स्वरूपतदन्यविकल्पे(४) दोष एव । [c]नापि द्वितीयः । [d]योसौ धर्मः पटं प्रति प्रतियोगित्वं तस्यात्मनि पटोपि प्रविशतीति तेन(५)सह पटस्याद्वैतं स्यात्, [e]यदा च पटो घटस्य धर्मतामापन्नस्तदा घटोपि पटस्य धर्मतामनेनैव

(१) "स्वरूपभेदनिरूपकभेद"–इत्यपि पाठः ।

(२) घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्य पटरूपत्वाद् भेदः=पटः, तथा च पटस्वरूपे घटमन्तर्निवेश्य घटस्वरूपे पटमन्तर्निवेशयतीत्यर्थः ।

(३) पटनिरूपितत्वविशिष्टप्रतियोगित्वस्य प्रतियोगिरूपत्वात् प्रतियोगी = प्रतियोगित्वं, तन्निष्ठविशेष्यतानिरूपितपटरूपभेदनिष्ठविशेषणतायामित्यर्थः । यद्वा, प्रतियोगित्वं प्रकृते निरूपकत्वं, तथा च निरूपकस्य पटरूपस्य भेदस्य, विशेषणतायाम् = घटप्रतियोगित्वांशे विशेषणतायामित्यर्थः ।

(४) घटनिष्ठप्रतियोगिताया घटस्वरूपत्वे पटनिरूपितत्वं, घटेऽबाधितं, तथा सति पटनिरूपितत्वं घटस्य स्वरूपं ? धर्म्मो वा ?; आद्ये पटस्यापि घटस्वरूपत्वापत्तिः, द्वितीये तु पटस्यापि घटधर्मत्वप्रसङ्गाद्धर्मधर्मिणोश्चाऽभेदात्पुनरद्वैतमेवेति दोष एवेत्यर्थः ।

(५) तेन = प्रतियोगित्वेन, सह = सहितस्य, पटस्याऽद्वैतं स्यात् "घटेन सहे"ति शेषः ।

न्यायेन(१)गच्छेत् । [f]नहि पट(२)प्रतियोगित्वस्य घटेन प्रतियोगिना निरूप्यमाणत्वे घटस्याऽन्या गतिरस्तीति [g]परस्परमाश्रितत्वमाश्रयत्वं च स्यात्; नच कस्यचित्प्रमाणस्य विषयो घटारूढः पटस्तत्पटारूढश्च स एव घट इति । [h]किंच, धर्मस्य तस्य धर्मिणा सममसंबन्धेऽतिप्रसङ्गः(३), संबन्धानन्त्येऽनवस्था, प्रथमतोन्ततो गत्वा वा स्वभावसंबन्धाभ्युपगमे संबन्ध्यन्तरस्यापि तत्स्वभावप्रवेशादभेदे एव पर्य्यवसानं स्यादिति ।

टी० ॥ [a]"अकिञ्चिदि"ति । प्रतियोगित्वनिरूपणं नियमतो यावति परिसमाप्यते तावत्स्वरूपान्तर्गतमेवेत्यर्थः ॥ 'पटं प्रति प्रतियोगित्वं घटस्ये'त्यनयोक्त्या घटाभेदं पटस्याभिधाय 'पटं प्रती'ति तदेकदेशे(४)नापि तद्भेदसिद्धिरित्याह–। [b]"पटं प्रती"ति ॥ [c]"नापी"ति । प्रतियोगित्वं धर्मः कश्चिदिति द्वितीयपक्ष इत्यर्थः ॥ घटप्रतियोगित्वस्य(५) घटधर्मत्वे पटस्यापि घटधर्मत्वं, प्रतियोगित्वस्य पटघटितमूर्त्तिकत्वादित्याह–। [d]"योसावि"ति । यथा घटप्रतियोगित्वे पटो धर्मस्तद्वत्पटप्रतियोगित्वेपि घटो धर्मो वाच्यः, युक्तेस्तुल्यत्वादित्याह–। [e]"यदा

(१) "अकिञ्चिदपेक्षस्य प्रतियोगित्वस्य प्रमाणाऽविषयत्वादि"त्यादिनोक्तेनेत्यर्थः ।

(२) यथा घटनिष्ठप्रतियोगित्वस्य पटघटितमूर्तिकत्वेन पटस्य घटधर्मत्वं तथा पटनिष्ठप्रतियोगित्वस्यापि घटघटितमूर्तिकत्वेन घटस्यापि पटधर्मत्वं स्यादिति भावः ।

(३) अत्यन्तासम्बद्धयोर्हिमवद्विन्ध्ययोरपि धर्मधर्मिभावप्रसङ्ग इत्यर्थः ।

(४) "पटं प्रति"–इत्यनेन वाक्यैकदेशेनापि घटपटाऽभेदसिद्धिरित्याहेत्यर्थः । (५) पटनिरूपितघटनिष्ठप्रतियोगित्वस्येत्यर्थः ।

चे"ति ॥ कुत एवमत आह—। [f]"नही"ति ॥ ततः किमित्यत आह—। [g]"परस्परमाश्रितत्वमि"ति ॥ अस्तूभयोरपि धर्मधर्मिभावः, एतावतापि भेद एवेत्यत आह—। [h]"किंचे"ति। घटप्रतियोगित्वस्य([1]) घटधर्मत्वे येन संबन्धेन तद्धर्मत्वं तस्यापि तदीयत्वे संबन्धान्तराङ्गीकारेऽनवस्था, स्वरूपसंबन्धस्यैव तत्राभ्युपगमे धर्मिस्वरूपसंबन्धो धर्मी, धर्मस्वरूपसंबन्धो धर्मीत्युभयमेकमेव पर्यवस्येदित्यर्थः ॥

मू० [a]एवमन्यस्मिन्नपि धर्मविकल्पे इति। [b]तस्मात्स्वरूपभेदे प्रमाणं भवत्प्रत्यक्षमद्वैते एव प्रमाणं भवति। * [c]ननु, घटादिकमेव यदाऽन्यानपेक्षं वीक्ष्यते तदा घटादिकमित्येव प्रतीयते यदा पुनः पटादिना निरूप्यते तदा ततो([2])भेद इति प्रतीयते*?। मैवम्। [d]घटादिकमित्येवंभूतप्रतीतेस्तावद्भेदप्रतीतिर्विलक्षणा, सा च न घटादिमात्रेण स्वविषयेणाऽन्यथाकारा भवितुमर्हति, * [e]नच पटादिकमधिकं तदा प्रकाशते इति विशेषः स्यात्*, घटपटविषयप्रतीतितोपि वैलक्षण्यात्। [f]नहि 'घटः पटश्चे'ति 'घटात् पटो भिन्न' इतिप्रतीत्योरेकार्थकत्वं कश्चित्प्रत्येति। तत्कस्य हेतोः? पञ्चम्या प्रथमया च वैकल्पिकं निर्देशमसहमानयैव प्रतीतिकलहनिरासात्।

टी० एवं घटत्वादिनापि धर्मेण सह घटाद्यभेदो वाच्य इत्याह—। [a]"एवमि"ति। धर्मविकल्पे=धर्मभेदे ॥ स्वरूपभेदग्राहिप्रत्यक्षमभेदविषयं पर्यवस्यतीत्युपसंहरति—। [b]"तस्मादि"ति॥ यदन्याऽसाकाङ्क्षं तदन्यसाकाङ्क्षमपि भविष्यति निरूपकभेदा-

(१) पटनिरूपितघटनिष्ठप्रतियोगित्वस्येत्यर्थः।
(२) ततः=पटादितः, भेदरूपेण प्रतीयते घट इत्यर्थः; "तत"—इत्यस्य पटादिनिरूपणादिति वा ऽर्थः।

दिति शङ्कते—। [c]"नन्वि"ति। एक एव घटोऽन्येन निरूप्यमाणो भेद इति गृह्यते, अन्यथा तु घट एवेत्यर्थः ॥ भेदप्रतीतिघटप्रतीत्योर्वैलक्षण्यं विषयवैलक्षण्यपरतन्त्रमिति तदभावात् प्रतीतिवैलक्षण्यमेव न स्यादिति परिहारमाह—। [d]"घटादिकमि"ति॥ ननु प्रतियोगिप्रवेशाऽप्रवेशकृतमेव प्रतीतिवैलक्षण्यमित्यत आह—। [e]"नचे"ति ॥ 'घटाद्भिन्नः पट'‡ इतिप्रतीति'र्घटः पटश्चे'तिप्रतीतेर्विलक्षणा प्रतियोग्यनुप्रवेशमात्रेणानुपपन्नेति ततोऽपि विषयान्तरमनुसरणीयमित्याह—। [f]"नही"ति ॥

मू० [a]नहि घटः पटश्चेति प्रत्येतव्ये कश्चिद् घटात्पटो‡ भिन्न इति प्रत्येति। तस्माद् घटस्य न स्वरूपनिरूपणे पटप्रतीत्यपेक्षा। * [b]नच यत्प्रतीतिर्यत्प्रतीतेः कारणं स्यात् तत्र तस्याः कारणभूतायाः प्रतीतेर्योऽर्थः तस्माद् "अयमि"ति कृत्वा कार्यभूतायाः प्रतीतेरर्थः प्रतीयते*, [c]मा भून्निर्विकल्पकार्यादेवं(१) सविकल्पकार्थस्य प्रतीतिः, मा च सादृश्यादेरेवं(२) स्मर्यमाणादेः स्यात्। [d]तस्मात् 'पटो घटाद्भिन्न'‡-इत्याद्याकारेण घटा†देर्भेद एव भेदावधिभूतपटा†दिसंघटितः स्फुटं सर्वलोकसाक्षिकः प्रतीयमानो नैकप्रतीते(३)रन्यप्रतीत्यपेक्षामात्रेण समर्थयितुं शक्योऽतिप्रसङ्गादिति। [e]अत एवान्योन्याभावं भेद-

‡ एतच्चिन्हस्थले पटाद्घट इति वक्तव्येऽपि घटात्पट इति घटपटयोः प्रतियोग्यनुयोगिभाववैपरीत्येन वचनं प्रतीत्योर्वैलक्षण्यमात्राभिप्रायकत्वादौत्सर्गिकं पूर्वापरग्रन्थसारूप्यार्थं तथैव कल्पनीयं वा।

(१) एवं = 'गोत्वाद्गौ'रित्यादिप्रकारेण।

(२) एवं = 'सादृश्यात्स' इत्यादिप्रकारेण।

(३) एकप्रतीतेः( = स्वरूपप्रतीतेः) अन्यस्य प्रतियोगिनो या प्रतीतिस्तदपेक्षामात्रेणेत्यर्थः। अतिप्रसङ्गात् = 'गोत्वाद्गौः' 'सादृश्यात्स्मरामि'त्यादिप्रतीतिप्रसङ्गादित्यर्थः।

मवगाहमानं प्रत्यक्षमद्वैतश्रुतिबाधकमित्यपि निरस्तम् । [f]अन्योन्याभावोपि यस्माद्भेद (१)एष्टव्यस्तमात्मन्येवान्तर्भावयेदुक्तयुक्तिभिः ।

टी० नन्वेक एव विषयः प्रतीतिभ्यामालम्ब्यतां को दोषः? इत्यत आह–। [a]"नही"ति । भवेदेवं, यदि पञ्चमीप्रथमयोरर्थाऽभेदो भवेत्, न त्वेवं, ततश्च प्रयोगवैलक्षण्यात् प्रतीतिवैलक्षण्यं ततश्च विषयवैलक्षण्यमित्यर्थः ॥ ननु घटस्वरूपभाने कदाचित्प्रतियोगिनः पटस्य ज्ञानं हेतुरिति ज्ञानगतहेतुत्वं पटे आरोप्य व्यपदिश्यते 'पटाद्घट'–इति, यथा 'धूमादग्निरि'ति; तथाच न पञ्चमीनिर्देशबलाद्विषयवैलक्षण्यमत आह–। [b]"नचे"ति ॥ तर्हि 'गोत्वाद्गौः' इत्यपि प्रतीतिः, 'अवयवाद्गौः' इत्यपि च स्याज्जन-कज्ञानविषयेपि पञ्चमीनिर्देशस्य त्वयेष्यमाणत्वादित्याह–। [c]"मा भूदि"ति । "सादृश्यादे"रित्यादिपदात्पदलिङ्गादिग्रहः । "रूप-र्यमाणादे"रित्यादिपदात्पदार्थलैङ्गिकादिसंग्रहः ॥ तस्मात्स्वरूपभेदो नास्त्येव । यदि प्रतीतिबलादाऽऽस्थीयते तदाऽन्योन्याभावः स्यादपि, यदि तत्र बाधकं न भवेदित्युपसंहरन्नाह–। [d]"तस्मादि"ति ॥ [e]"अत एवे"ति । प्रतियोग्यधिकरणयोरभेद-पर्यवसानादित्यर्थः ॥ एतदेवाह–। [f]"अन्योन्याभावोपी"ति । विश्वप्रतियोगिकान्योन्याभावस्य घटधर्मत्वे विश्वस्यापि घटधर्मत्वापत्तौ धर्मधर्मिणोरभेदपर्यवसानस्य(२) स्वरूपभेदप्रस्तावे युक्तेरुक्तत्वादित्यर्थः ॥

मू० [a]किंच, घटपटयोस्तद्वदन्ययोश्च तादात्म्यमन्योन्याभावस्य प्रतियोगि मन्तव्यं, तद्यदि सर्वथा नेष्यते, तदा तद्विशिष्टस्तदुपलक्षितो वाऽन्योन्याभावोपि

(१) यस्माद्भेद एष्टव्यः=यत्प्रतियोगिको भेद एष्टव्यः, तं प्रतियोगिनमात्मन्येवान्तर्भावयेत् "निष्प्रतियोगिकस्य भेदस्य प्रमाणाऽगोचरत्वादि"त्याद्युक्तयुक्तिभिरित्यर्थः ।

(२) अभेदपर्यवसानस्य युक्तेरुक्तत्वादित्यन्वयः ।

न प्रमाणेन प्रत्येतुं शक्यः। नहि शशविषाणविशिष्टस्तदुपलक्षितो वा कश्चित्प्रामाणिको भवितुमर्हति। तत्कस्य हेतोः?। तस्मिँस्तद्विशिष्टरूपेर्थे([1])तादृशि चोपलक्षणव्यवच्छिद्यमानात्मनि प्रमाणं निविशमानं विशेषणमपि तदीयं तदुपलक्षणमपि वा नानुल्लिखद्भवितुं प्रभवति, तस्मिँ([2])श्चात्यन्तमसत्येवावलम्बने न तत्प्रामाण्यं शक्यसमर्थनम्। * [b]नच वाच्यं पटप्रतियोगिको घटमाश्रितोऽसावभावोऽभ्युपगम्यमानो नात्यन्ताऽसत्प्रतियोगिकतादोषमावहतीति*। [c]तथा सति संसर्गाभावादन्योन्याभावस्य को विशेषः स्यात्?। [d]नहि यथा घटाभावः पटसंसर्गीति घटसंसर्गाभावं पटे समर्थयसे तथा घटाभावः पटात्मक इति तत्तादात्म्याभावं पटस्य स्वीकरिष्यसि। तस्मात्तादात्म्यं संसर्गं च प्रतियोगिकोटावन्तर्भाव्याऽन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्वैलक्षण्यमभ्युपेयम्, तथा सति चात्यन्तासत्प्रतियोगिता दुर्वारा।

टी० 'तादात्म्याभावः'—इतिव्यपदेशानुरोधेन तादात्म्यस्यैव प्रतियोगितामभ्युपगम्य दोषमाह—। [a]"किंचे"ति। घटपटयोस्तादात्म्यमत्यन्तासदिति तत्प्रतियोगिकाभावप्रतीतौ विशेषणत्वमुपलक्षणत्वं वा तस्यानुपपन्नमित्यन्योन्याभावप्रतीतिरेव न भवेद्, भवन्ती वा न प्रमा स्यादसद्विषयत्वादित्यर्थः॥ ननु न

(१) तद्विशिष्टरूपेर्थे (=अत्यन्तासद्विशिष्टरूपेर्थे) तस्मिन् प्रमाणं निविशमानं तदीयं विशेषणं नाऽनुल्लिखद्भवितुं प्रभवति, तादृशि चोपलक्षणव्यवच्छिद्यमानात्मनि (अत्यन्ताऽसतोपलक्षणेन व्यवच्छिद्यमान आत्मा=स्वरूपं, यस्य तस्मिन्) प्रमाणं निविशमानं तदुपलक्षणमपि नाऽनुल्लिखद्भवितुं प्रभवतीति योजना।

(२) तस्मिन्=विशेषणीभूते उपलक्षणीभूते वा तादात्म्ये।

तादात्म्यं प्रतियोगि, किंतु पटादिरेव, तथा च नात्यन्तासद्विषयतान्योन्याभावप्रतीतेरत आह—। b"न च वाच्यमि"ति ॥ c"तथा सती"ति । एवं सति घटनिष्ठपटप्रतियोगिकाभावोऽत्यन्ताभाव एव स्यान्न तादात्म्याभाव इत्यर्थः ॥ ननु घटनिष्ठः पटप्रतियोगिकोऽभावः संसर्गाभाव एव, अयं तु न घटनिष्ठः, किंतु घटात्मक एवेति महान्भेदोऽत आह—। d"नही"ति । एवमभ्युपगमे तदापसिद्धान्त इति भावः । * ननु घटपटतादात्म्यमत्यन्तासदिति न घटतादात्म्यमपि, तथा च तदेव तादात्म्याभावप्रतियोगित्वादिति नात्यन्ताऽसत्प्रतियोगिकता *P—इति चेन्न, घटतादात्म्यस्य पटे निषेधः संसर्गाभाव एवेत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् (१) । *न चेह तादात्म्यं प्रतियोगितावच्छेदकमिति संसर्गाभावाद्भेदः *, घटमात्रतादात्म्यस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वे संसर्गाभावादविशेषात्; उभयतादात्म्यस्य तत्त्वेऽन्योन्याभावप्रतीतेरसद्विषयत्वापातात् ॥

मू० * aन च वाच्यं घटे पटत्वं नास्ति पटे च घटत्वं नास्तीत्येतावन्मात्रपर्यवसितैवान्योन्याभावस्य व्यवस्था मन्तव्येति *, यतस्तथा सति घटत्वे पटत्वे च न कश्चित्तादृशो धर्मोऽभ्युपगम्यते योऽन्योन्यस्मिन्निषेद्धुं योग्य इति तयोस्तादात्म्यापत्तौ सत्यां घटे पटत्वं, पटे घटत्वं च, निषेधात् प्रमाणं घटत्वपटत्वशून्यत्वं द्वयमप्यावेदयतीति वैधर्म्यस्य स्वरूपभेदस्य चासंभवेन किं प्रतियोगिनं, किं वालम्बनं(२), विधाय पटघटान्योन्याभावः प्रमाणपथमवतरेदिति। bअत एव न वैधर्म्यमपि भेदमावेदयत् प्रत्यक्षमद्वैतश्रु-

(१) "यदि तु तादात्म्यं नामाऽभेदाख्यो धर्मः कश्चिदिष्यते, स घटपटाद्यधिकरणतया निषिध्यते, तदा संसर्गाभाव एव स्यात्"—इति लिंगकारिकाव्याख्यानावसरे मूले वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः ।

(२) आलम्बनम्—अनुयोगिनम् ।

तिबाधकमुपपद्यते । वैधर्म्येपि हि घटत्वपटत्वादौ वैधर्म्यमन्यदस्तीत्यभ्युपगमे वैधर्म्ये वैधर्म्यविश्रान्त्यनवस्थयो[c]रेकम[d]ननुभवश्च कथं प्रत्युत्तरणीयः ।

टी० [a]"नच वाच्यमि"ति ॥ घटत्वपटत्वयोरन्योन्यस्मिन्नभावोऽन्योन्याभावो यदि घटपटयोर्भेदः स्यात्तदा घटत्वपटत्वे परस्परं भिन्ने न स्यातां, तयो(१)स्तादृशधर्माभावात्; तदुभयाऽभेदे च घटपटयोरपि भेदो दुर्लभः, प्रतियोगितावच्छेदकाधिकरणतावच्छेदकधर्मा(२)भावादित्यर्थः । किञ्चिद्वस्तु स्वत एव विलक्षणमिति तु परिभाषामात्रमिति भावः । ननु, घटनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिधर्मवत्त्वं पटस्य, पटनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिधर्मवत्त्वं घटस्य, यद्वैधर्म्यं, तदेव भेदस्तमालम्ब्यमानं प्रत्यक्षादि श्रुतिबाधकं स्यादित्यत आह—। [b]"अत एवे"ति । तादृशो धर्मो घटत्वपटत्वादिकमेव वाच्यं, तत्र च तादृशधर्मान्तराभावादभेदसिद्धौ घटपटयोरप्यभेद एव पर्य्यवसन्न इत्यर्थः॥ [c]"एकमि"ति । वैधर्म्यविश्रान्तिरेकं दूषणम् अनवस्था वेत्यपरम् अनयोर्दूषणयोरेकमित्यर्थः ॥ [d]"अननुभवश्चे"ति । नहि घटत्वे धर्मान्तरमनुभूयते इत्यर्थः । यद्यपि जातिव्यक्त्योरन्योन्यमेव धर्मधर्मिभाव(३)इति नानवस्था, न वाऽननुभवः, नाप्यन्योन्याश्रयः, परस्परमपेक्ष्याऽज्ञानादनुत्पादादनवस्थितेः; परस्परभेदजिज्ञासायां तु परस्परविशेषणत्वविज्ञानात्तज्ज्ञान(४)मिति, तथापि घटत्वपटत्वयोरेव वैधर्म्यं भेदकमिति तु दुर्वचमेवेति भावः ॥

(१) तयोः=घटत्वपटत्वयो,स्तादृशधर्माभावात्=भेदकधर्माभावादित्यर्थः । तथाहि—घटत्वपटत्वयोः स्वतो व्यावृत्तत्वे घटपटादय एव स्वतो व्यावृत्ता अङ्गीकरणीयाः किं मुधा तद्वृत्तिवैधर्म्यस्य व्यावर्तकत्वकल्पनया, अथ घटत्वपटत्वे स्वगतघटत्वत्वपटत्वत्वादिरूपवैधर्म्यभेदभिन्ने, तर्हि ते अपि स्वगतवैधर्म्यान्तरभिन्ने, ते अप्येवमित्यनवस्थापात इति भावः । (२) धर्माऽभावात्, धर्मभेदाऽभावादित्यर्थः ।

(३) व्यक्तौ जातिः समवायेन, जातौ च व्यक्तिः स्वनिष्ठाधारतानिरूपिताऽऽधेयत्वसंबन्धेन, वर्तते इति परस्परं धर्मधर्मिभाव इत्यर्थः ।

(४) तज्ज्ञानम्=पारस्परिकभेदज्ञानम् ।

मू० [a]वैधर्म्ये च वैधर्म्याऽस्वीकारे वैधर्म्ययोरैक्यापत्त्या कथमा[b]ऽऽत्माश्रयभेदत्वेन तयोः पर्यवसानं स्यात् । किंच, [c]ये ते वैधर्म्ये भेदौ, ते किं घटादितो भिन्ने धर्मिणि निविशेते ? किमभिन्ने ? [d]परस्परविरुद्धयोरनयोः पृथग्भूतस्य(१)प्रकारस्यासंभवात् । आद्ये, येन भेदेन भिन्नत्वं वैधर्म्याश्रययोर्मन्तव्यं तत्रापि पर्यनुयोग(२) इत्यनवस्थायां पर्यवसानं स्यात् । * सन्त्वनन्ता एव भेदाः *?-इति चेन्न, [e]क्रमेण तेषामाश्रयसंबन्धे, सावधिसत्त्वे(३) वस्तुनि तदन्वयासङ्गतिरेव । [f]अथ जायमानं वस्तु युगपदेव ते भेदाः परिरभन्ते, तदा किंभेदविशेषिते किंभेदव्यवस्थितिरिति किं विनिगमकं ? विशेषाभावादन्योन्यकलहं तेषां कः समाधातुमीष्टे ? । [g]चरमचरमस्वीकार्येण च भेदेन प्रथमप्रथमस्वीकृतभेदोप [h]योगसिद्धे रग्रे धावन् पश्चाल्लुप्यमानो, विस्मरणशीलश्रुतवत्, स भेदप्रवाहः किमालम्बेत । [i]एवमेवंविधे विषयेऽन्यत्रापि–

(१) पृथग्भूतस्य प्रकारस्य=भेदाऽभेदादिरूपस्य प्रकारस्य, असम्भवात्=परस्परं विरुद्धत्वेन सहसम्भवाद्यसम्भवादित्यर्थः ।

(२) येन भेदेन भिन्नत्वं सोपि भिन्ने धर्मिणि निविशते ? किं वाऽभिन्ने ?-इति पर्यनुयोगः=प्रश्न इत्यर्थः ।

(३) अवधिः=कालमर्यादा, तेन सह वर्तमानं सत्त्वं यस्य वस्तुनस्तत्सावधिसत्त्वं वस्तु, तस्मिन्सावधिसत्त्वे वस्तुनि, कार्ये वस्तुनीति यावत्; तदन्वयाऽसङ्गतिः, तस्य=क्रमिकाऽनादिभेदप्रवाहस्य, योऽन्वयः=सम्बन्ध,स्तस्याऽसङ्गतिरेवेत्यर्थः; साद्यनाद्योराधाराऽऽधेयभावानभ्युपगमादिति भावः ।

[j]प्राग्लोपाविनिगम्यत्वप्रमाणाऽपगमै(१)र्भवेत् ।
अनवस्थितिमास्थातुरचिकित्स्या त्रिदोषता ॥१८॥

टी० नन्वस्तु वैधर्म्ये विश्रान्तिः किमेतावतेत्यत आह—। [a]"वैधर्म्यैचे"ति ॥ [b]"आत्माश्रयभेदत्वेने"ति । घटत्वपटत्वयोरैक्ये कथं स्वाश्रयादेव स्वाश्रयस्य भेदौ ते(२)स्यातामित्यर्थः ॥ [c]"ये ते"इति । ये(३)ते इति द्विवचनं विकल्पानुपश्रुक्तमपि भेदद्वयस्फोरणाय ॥ ननु भेदाभेदाभ्यां प्रकारान्तरमपि स्यादित्यत आह—। [d]"परस्परे"ति ॥ [e]"क्रमेणे"ति । अनन्तानां यदि क्रमिकी वृत्तिस्तदा दिनद्वयस्थायिनि घटादौ न वर्तेरन्; किंच, कार्यमात्रे एव न वर्तेरन्नित्यर्थः ॥ ननु, जातः, संबद्धश्चेत्येकः कालः, तथाच सर्वे भेदा युगपदेव वर्तन्तामित्याशङ्कते—। [f]"अथे"ति । यद्यपि युगपदेव वर्तमानानामप्यन्योन्यकलहः कथं स्यात, नहि घटत्वपृथिवीत्वद्रव्यत्वसत्त्वादीनां युगपद्वृत्तौ कलहः, तथापि भेदो भिन्ने वर्ततेऽभिन्नेवेति विकल्पे किमपि नोत्तरमेतावतेति भावः ॥ [g]"चरमे"ति । यद्यपि युगपद्वृत्त्यभ्युपगमे "चरमचरमस्वीकार्य्यैणे"त्यनुपपन्नं, तथापि 'भिन्ने वर्तते' इत्याश्रयणे प्रथमविशिष्टे द्वितीय(४)वृत्तिर्वाच्या, तत्र यौगपद्येऽपि प्रथमचरमभावसम्भव एवेति भावः ॥ [h]"उपयोगे"ति । भिन्नत्वप्रतीतिरेवोपयोगः । [i]"एवमि"ति । गवि गोत्वं वर्तते? अगवि वा?—इति विकल्प्य गोत्वादिकमपि निरसनीयमित्यर्थः ॥ [j]"प्राग्लोपे"ति । अग्निमाग्निमभेदाङ्गीकारे तेनैवान्यथासिद्धौ पूर्वपूर्व-

(१) समुदायिनः समुदायिभिन्नत्वपक्षे तृतीयाविभक्त्यर्थः प्रयोज्यत्वं, तथाच प्राग्लोपादिप्रयोज्या त्रिदोषतेत्यर्थः, अभिन्नत्वपक्षे त्वऽभेदार्थस्तया च प्राग्लोपाद्यभिन्ना त्रिदोषतेत्यर्थः ।

(२) एकस्यैव धर्मस्य स्वाश्रयात्स्वाश्रयभेदकत्वे घटत्वमपि घटाद्घटस्य भेदकं स्यादिति भावः ।

(३) ननु मूले 'यो वैधर्म्यभेदः स किं भिन्ने निविशतेऽभिन्ने वा"—इत्येव वक्तव्यं किं "ये ते वैधर्म्ये भेदौ" इतिद्विवचनोपादानेनेत्यत आह—ये ते इति ।

(४) द्वितीयवृत्तिर्वाच्या, अपरेषां सर्वेषां युगपद्वृत्तिर्वाच्येत्यर्थः ।

भेदविलोपः, किंभेदभिन्ने को भेदो वर्तते? इत्यविनिगमः, बहवो भेदा एकत्र घटे वर्तन्ते इत्यत्र प्रमाणापगमः, ते एते दोषा अनवस्थायां पतन्तीत्यर्थः । *ननु भेदविशिष्टे एव भेदो वर्तते इति पक्षाभ्युपगमे क्व प्राग्लोपः, भेदप्रतीतेरेव तावद्भेदाभ्युपगममन्तरेणाऽनिर्वाहात् । अत एव नाऽविनिगम्यत्वमिति । अवश्यनिर्वाह्यभेदप्रतीत्युपपादककल्पनायां तत्प्रतीत्यैव([1])भेदानां क्रमयौगपद्ययोरन्यतरस्याऽऽक्षेपात् । "सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिरि"ति त्वयोक्तत्वात् । अत एव न प्रमाणापगमो, भेदप्रतीत्यन्यथानुपपत्तेरेव प्रमाणत्वात् । अन्यथा घटकादाचित्कत्वानुरोधेन तत्रापि सामग्रीपरम्पराभ्युपगमो न स्यात् । नचाऽनवस्थापि, तद्भेदभिन्ने एव तद्भेदवृत्तेः । तद्वृत्तौ तद्भेदस्योपलक्षणत्वविशेषण([2])त्वाभ्यामुपपाद्यत्वात् । न वा भिन्ने भेदेन वर्तितव्यमिति नियमः । "कुत्र वर्त्तते?–इतिप्रश्ने, यत्र प्रतीयते इत्युत्तरं, कुत्र प्रतीयते?–इतिप्रश्ने, यत्र वर्तते", इति वार्त्तिककारदिशाप्युपपत्तेः । विप्रपञ्चितश्चायमुद्गारो भेदप्रकाशे*? । नैवम् । भेदप्रतीतेराविद्यकं भेदमादायोपपाद्यत्वात् । परमार्थे तु भेदे एते विकल्पा इति भावः । यत्तु,([3])"भेदप्रतीतिरनन्तभेदालम्बना,? एकभेदालम्बना वा?"–इत्यादिना प्राग्लोपाऽविनिगम्यत्वादीनामुपपादनं केनचित् कृतं तदनुपपन्नम्, "अनवस्थितिमास्थाय"रित्यभिधानादनवस्थापक्षे एव दोषत्रयस्याभिधानादिति ॥

मू० [a]यदि च क्वचिद् गत्वा स्वरूपमेवान्योन्यं व्यावर्तमानं भेद इष्यते तदा ययोः स्वरूपं [b]तयैक्यं [c]तयोर्निःस्वरूपतापत्तिः; [d]अथ * न स्वरूपमात्रं मिथो

(१) अवश्यनिर्वाह्यभेदप्रतीत्यैवेत्यर्थः ।

(२) व्यावर्तकत्वमात्रं गुणमुपादाय विशेषणत्वमिहोपाधित्वं ग्राह्यं, तथाच न पूर्वं विशेषणपक्षोक्त आत्माश्रयाख्यो दोष इति भावः । यद्वा, विशिष्टवृत्तेर्धर्मस्य विशेषणवृत्तित्वानभ्युपगममतेनैतत् ।

(३) कारिकाया व्याख्यानान्तरं दूषयति–यत्त्वित्यादिना ।

व्यावर्तते किंनाम स्वरूपविशेषः*-इत्युच्यते, [e]तर्हि स्वरूपविशेषमात्रव्यावृत्त्या स्वरूपमात्रं तयोः (१) स्यादित्येकत्वापत्तिः ।

टी० ननु स्वरूपभेदभिन्नयोरेव वैधर्म्ये भेदो वर्ततामिति नानवस्थेत्यत आह-। [a]"यदि चे"ति ॥ [b]"तथैतद्व्ययमि"ति । व्यावर्तमानमेतद्व्ययमित्यर्थः ॥ [c]"तयोरि"ति । ययोर्घटपटयोः स्वरूपं व्यावर्तमानं तयोर्निःस्वरूपत्वापत्तिरित्यर्थः ॥ ननु घटपटस्वरूपयोरन्योन्यव्यावृत्तावपि स्वरूपमात्रं न व्यावर्तते इति कुतो निःस्वरूपत्वापत्तिरित्याह-। [d]"अथे"ति ॥ घटपटयोः स्वरूपं न परस्परं व्यावृत्तं, किंतु स्वरूपविशेषः परस्परव्यावृत्त इति तयोरैक्यमेव पर्यवसन्नमित्याह-। [e]"तर्ही"ति । * नच विशेषव्यावृत्त्यैव तयोर्भेद इति वाच्यम्*, स्वरूपाऽव्यावृत्तौ स्वरूपविशेषस्य(२)परस्परमव्यावृत्तेः, तद्व्यावृत्तौ वा स्वरूपव्यावृत्तेरावश्यकतया पुनः सैव निःस्वरूपतेति भावः ॥

मू० [a]अथवा, वक्तव्योऽसौ स्वरूपमात्रादन्यो विशेषार्थः । [b]अथ "न स्वरूपं नाम किञ्चिदनुगतमिष्यते मया, विशेषरूपासु [c]व्यक्तिष्वेव स्वरूपशब्दो नानार्थः सन्निविशते"-इत्यभिधत्से, [d]तर्हि गतमनेनैव न्यायेन गोत्वादिसिद्धिप्रत्याशया, [e]नच प्रतिव्यक्ति स्वरूपपदसमयग्रहोपपत्तिः । [f]यदि(३)च स्वरूपं भेदः स्यात् तदा धर्मिणि दृष्टे स्वरूपं दृष्टमिति क्वचिन्न सन्देहः

(१) तयोः = घटपटयोः स्वरूपमात्रमव्यावृत्तं स्यादित्यर्थः ।

(२) स्वरूपविशेषस्येत्यतोऽग्रे "ऽपि" शब्दो द्रष्टव्यः । तद्व्यावृत्तौ-स्वरूपविशेषव्यावृत्तौ ।

(३) यदि भेदः=घटपटादिलक्षणो विशेषः, स्वरूपं स्यात्तदा घटत्वपटत्वादिधर्मराहित्येन केवले धर्मिणि दृष्टे क्वचिदपि 'स्वरूपं दृष्टमि'ति सन्देहः=सम्भावनापि कस्यचित्पुरुषस्य न स्यात्, किन्तु विशेषदर्शने एव 'स्वरूपं दृष्टमि'ति मतिस्स्यादित्यन्वयपूर्वकोऽर्थः ।

स्यादिति, [g]यदि चाऽभिन्ने भेदो निविशेत तदा याप्येका व्यक्तिः प्रतीयते घटादिः सापि तेनैव भेदेनाऽनेका स्यादित्येकाभावे नाऽनेकमपि व्यवतिष्ठते ।

टी० यद्वा(१)ऽनेनैवाशयेनाह—। [a]"अथवे"ति । घटस्वरूपं घट एव, पटस्वरूपं पट एव, नच ताभ्यां स्वरूपान्तरमस्ति तयोर्यद्विशेषपदवाच्यं स्यादित्यर्थः ॥ स्वरूपविशेषव्यावृत्त्या स्वरूपमात्रं(२) तयोः स्यादित्याशङ्कते । [b]"अथे"ति ॥ शङ्कितां स्वरूपपदशक्तिमुपपादयति—। [c]"व्यक्तिष्वेवे"ति ॥ 'इदं स्वरूपमिदं स्वरूपमि'त्यनुगतप्रतीत्यनुरोधाद्यद्येकं स्वरूपं न स्वीकरणीयं तदा गोत्वाद्यप्येकमनुगतं न स्यादित्याह—। [d]"तर्ही"ति ॥ स्वरूपसामान्याभावे दोषान्तरमाह—। [e]"नचे"ति । शक्तिग्रहस्याप्यनुगतधर्मपुरस्कारेणैव संभवादित्यर्थः ॥ यदि घटपटादिलक्षणो विशेष एव स्वरूपं स्यान्नत्वनुगतमन्यत् तदा दूराद् घटपटाविशेषाऽनवगाहिज्ञानं स्वरूपमात्रावगाह्यपि न स्यादित्याह—। [f]"यदि चे"ति । भेदः=विशेषः । संशयविपर्ययौ न स्यातामि"ति त्वपव्याख्यानम्(३) ॥ नन्वभिन्नयोरेव घटपटयोर्भेदो वर्तते इति द्वितीयः पक्षोऽस्त्वित्यत आह—। [g]"यदि चे"ति । यदि घटपटावभिन्नावेव भिन्नौ स्यातां तदा घटव्यक्तिरप्यभिन्ना भिन्ना स्यादित्येकं किमपि न भवेत्, तदभावाच्च तत्पर्युदासरूपमनेकमपि न स्यादित्यर्थः ॥

(१) तर्हीत्यादिपङ्क्तेर्निरुक्तभावपक्षेऽथवेत्यादिग्रन्थस्याऽन्यार्थाऽभिधायितामनुसन्धायेदानीं निरुक्तभावार्थप्रतिपादकत्वमेवाथवेत्यादिग्रन्थस्येत्याह—यद्वे ति ।

(२) स्वरूपमात्रं=स्वरूपसामान्यं, तयोः स्यात् 'अव्यावृत्तम्'—इति शेषः ।

(३) अपव्याख्यानत्वञ्चास्य "नच प्रतिव्यक्ति स्वरूपपदशक्तिग्रहोपपत्तिः"-इत्यस्याऽव्यवहितमौलिकप्रतिज्ञातार्थस्योपपादनपरत्वाभावाद् द्रष्टव्यम् । एतच्चापाततः, वस्तुतस्त्वत्र प्रकृतशाङ्करव्याख्याने एव क्लिष्टकल्पनं दोषः, व्याख्यानोन्तरं तु स्वातन्त्र्येण दूषणान्तरपरतया सुव्याख्यानमेवेति विभावयामः ।

मू० [a]एतेन न भेदावच्छिन्ने नचाऽभेदावच्छिन्ने भेदो विनिविशते किंतूदासीने-इत्यपि निरस्तम्, [b]अत एव च भेदो नाम स्वरूपान्योन्याभाववैधर्म्याऽनात्मको धर्मान्तरं पृथक्त्वाऽपरनामकमित्यपि परास्तम्। [c]सोऽपि हि स्वाश्रये भिन्ने विनिविशेताऽभिन्ने वेत्यादिययोक्तदोषलङ्घनाऽजङ्घाल(१)एव स्यात्, [d]स्वाश्रयेण च स्वस्मिन्नभेदभयाद्यदि स एव भेदो निविशते(२) तदात्माश्रयः, अन्यश्चेत्तस्मिन्नेवं तस्मिन्नप्यन्य इत्यनवस्था, क्वचिदपि गत्वा भेदभेदाश्रययोर्भेदस्याऽस्वीकारे च तदैक्यद्वारिका मूलपर्य्यन्तमेकता धावेत्।

टी० ननु भेदवृत्तावाश्रयावच्छेदकतया भेदाभेदौ न वाच्यौ, किं तर्हि, कुत्र भेदो वर्तते ? इति प्रश्ने, धर्मिणि भेदो वर्तते, भेदाभेदौदासीन्येन वर्तते इति वा वक्तव्यमिति न पूर्वदोष इत्यत आह-। [a]"एतेने"ति। तस्मादपि भेदप्रसङ्गेनेत्यर्थः। तस्याप्युदासीनत्वात् धर्मित्वाच्चेतिभावः॥ ननु स्वरूपवैधर्म्यान्योन्याभावरूपभेदत्रयखण्डनेपि पृथक्त्वस्य सत्त्वात्तद्धितमित्यत आह-। [b]"अत एवे"ति॥ अतिदेश्यमाह-। [c]"सोपी"ति। किंच, पृथक्त्वस्य गुणकर्मादावभावात्तदभेदे द्रव्याणामप्यभेदात्। किंच, पृथक्त्वस्यावधिनिरूप्यत्वाद्भेदस्य प्रतियोगिनिरूप्यत्वा(३) दिति भावः॥ अन्योन्याभावे वैधर्म्ये च दोषान्तरमाह-। [d]"स्वाश्रयेणे"ति। यद्यपि क्वचिद्गत्वा स्वरूपभेदे पर्य्यवसानमदुष्टमेव, "नचाऽन्योन्याभाववैधर्म्याभ्युपगमानर्थक्यम्", अनुभवबलेन तयोरभ्युपगमात्; मूलपर्य्यन्तमेकताधावनं स्वरूपभेदप्रतिबद्धमेव, तथापि स्वरूपभेदस्यापि निरस्तत्वादिति भावः॥

(१) अजङ्घालः = मन्दगामी, तथा च यथोक्तदोषलङ्घनेऽजङ्घालो मन्दगामी यथोक्तदोषाऽनतिक्रमीत्यर्थः।

(२) "स्वस्मिन्"-इति शेषः।

(३) अत्र-"इतीतरनिरूप्यत्वसाम्यात्पृथक्त्वेपि भेदपक्षोक्तदोषापत्तिरेव"-इति शेषः कयाञ्चित् प्रायः पुस्तकेषु लुप्तो द्रष्टव्यः।

[a]तद(¹)द्वैतश्रुतेस्तावद्बाधः प्रत्यक्षतः क्षतः ।
[b]नानुमानादि तं(²) कर्तुं तवापि क्षमते मते ॥ २० ॥
[c]अद्वैतागमनासीरे साधु सा धुन्वती परान् ।
सेवामेवार्जयत्यर्थापत्तिपत्तिपरम्परा ॥ २१ ॥

मू० * [d]नन्वद्वैतश्रुतयो वर्णपदविभक्तितदर्थादिभेदानुपजीव्यार्थं प्रतिपादयन्त्यः स्वोपजीव्याभि(³)र्भेदबुद्धिभिर्न कथं बाध्यन्ताम्, उपजीवकस्योपजीव्याद् दुर्बलत्वात् * ? । मैवम् । [e]न वयं भेदस्य सर्वथैवासत्त्वमभ्युपगच्छामः; किंनाम, पारमार्थिकं सत्त्वम् । अविद्याविद्यमानत्वं तु तदीयमिष्यते एव, तदेव च कार्य्यकारणभावोपयोगि ।

टी० प्रत्यक्षविषयाभावात् प्रत्यक्षबाधो न संभवतीत्युपसंहरति–[a]"तदद्वैते"ति ॥ [b]"नाऽनुमानादी"ति । अनुमानापेक्षयाऽऽगमस्य बलवत्त्वात् । अन्यथा नरशिरः कपालं शुचि, प्राण्यङ्गत्वादित्याद्यप्यवकाशमासादयेदिति भावः ॥ अर्थापत्तेः स्वपक्षानुकूलत्वमुक्तं स्मारयति–। [c]"अद्वैते"ति । अद्वैतागमस्य नासीरे = पुरतः, सा = अर्थापत्तिः, परान् = विरोधिनः प्रमाणाभासान्, धुन्वती = निराकुर्वन्ती, सेवामानुकूल्यमर्जयति=भजते, अत एवार्थापत्तेः पत्तित्वेन(⁴) निरूपणमुपपन्नमित्यर्थः ॥ श्रुतिजबुद्धेः श्रौतानि नानापदानि कारणमिति नानात्वं विना कार्यकारणभावानुपपत्तिः, तमन्तरेण(⁵)श्रौतबुद्धेरनुत्पत्तौ कुत्र बाध्यबाधकभावचिन्तेति शङ्कते–। [d]"नन्वि"ति ॥ नानात्वमात्रस्योपजीव्यत्वं, नतु पारमार्थिकनानात्वस्य, येनोपजीव्यविरोधः स्यादिति परिहरति–। [e]"न वयं भेदस्ये"ति ।

(१) तत् = तस्मात् । (२) तं = बाधम् ।

(३) उपजीव्यते कार्य्येणाश्रीयते यत्तदुपजीव्यं ( = कारणम् ) उपजीवति कारणाश्रितं भवति यत्तदुपजीवकं ( = कार्य्यम् ) इत्यर्थः ।

(४) पत्तित्वेन, पदातित्वेनेत्यर्थः ।

(५) तमन्तरेण=कार्य्यकारणभावाऽनुपपत्तिमन्तरेण ।

यद्यप्यद्वैतस्याविद्यकत्वमस्तु, श्रुतिविषयत्वेन तत्पारमार्थिकत्वे प्रत्यक्षविषयतया भेदस्यैव पारमार्थिकत्वं किं न स्यात्, अबाधितसकललोकव्यवहारे प्रतीयमानेऽप्याविद्यकत्वस्य परिभाषामात्रत्वात्, व्यवहारविषयत्वेनैव पारमार्थिकत्वसाधनात्, व्यवहाराऽविषयस्य ब्रह्माद्वैतस्यैवापारमार्थिकत्वसंभवात्; अद्वैतानुरोधाच्छ्रुतेस्त्वयैवोपपादनीयत्वात्(१), अन्यथा त्वयैव द्वैतापत्तेः; एवं तज्जनितबुद्धेरपि(२); यदि च स्वप्रकाशबलाददद्वैतं, तदा तत एव द्वैतं किं न स्यात् ?; न हि स्वप्रकाशस्य न द्वैतं विषय इति प्रतिपादयितुं शक्यसि, तथाप्यहं खाण्डनिको नतु व्यवस्थापक इति भावः ॥

मू० [a]एतेन "एकमेवे"त्येव(३)कारव्यवच्छेद्येना"ऽद्वितीयमि"ति द्वितीयेन, "न नाने"ति नानात्वेन, "किञ्चने"त्यनेन बहुना विना नोपपद्यमानेन, व्याघातः—इत्यपि प्रत्यादिष्टम्। [b]श्रुतिभिश्चाद्वैतार्थाभिः पारमार्थिकमद्वैतं प्रतिपाद्यते, नच पारमार्थिकमतिरपारमार्थिकधिया शक्यबाधा, [c]माभूत्(४)शुक्तिरजतधिया परमार्थशुक्तिमतिबाधः। [d]यत्र त्वग्निरनुष्ण इतिबुद्धेरुष्णज्ञानोपजीवना(५)दुष्णबोधेनाऽनुष्णबुद्धिबाधस्तत्र द्वयोरप्यविद्याविद्यमानत्वाद्बाधो

(१) "उपपादनीयत्वात्"—इत्यपि पाठः।

(२) अत्रापि "त्वयैवोपपादनीयत्वात्"—इत्यनुषञ्जनीयम्।

(३) "एकमेव"—इत्येवकारव्यवच्छेद्येन (विजातीयभेदेनाद्वैतस्य) व्याघातः, "अद्वितीयमि"ति (पदव्यवच्छेद्येन) द्वितीयेन व्याघातः, "न नाना"—इति नानात्वेन व्याघातः, "किञ्चन"—इत्यनेन बहुना विना नोपपद्यमानेन व्याघात—इत्यपि प्रत्यादिष्टमित्यन्वयः ॥

(४) अत्रेत्थमक्षरयोजना—शुक्तिरजतधिया परमार्थशुक्तिमतिबाधो मा भूद् (इत्यतः) पारमार्थिकमतिरपारमार्थिकधिया शक्यबाधा नच (भवति)।

(५) अनुष्णज्ञानस्य प्रतियोगिविधयोष्णज्ञानमुपजीव्यम्।

युक्तः । *[e]ननु, तत्रापि तर्ह्यनुष्णतापि पारमार्थिकयैव साध्यतामबाधनाय *? । मैवम् ।

टी० श्रौतपदवर्णनानात्वज्ञानस्योपजीव्यत्वमाशङ्क्य श्रौतपदज्ञानमर्थभेदप्रत्ययमन्तरेणाऽप्रतिपादकत्वात् तदुपजीव्यत्वमाशङ्क्याह–। [a]"एतेने"ति, आविद्यकभेदाभ्युपगमेनेत्यर्थः ॥ पारमार्थिकविषयत्वेन श्रुतेरपारमार्थिकभेदविषयकप्रत्यक्षाद्यपेक्षया बलवत्त्वमाह–। [b]"श्रुतिभिश्चे"ति ॥ अत्राऽनुरूपं दृष्टान्तमाह–। [c]"मा भूदि"ति ॥ ननु यदि पारमार्थिकबुद्धिरपारमार्थिकधियं बाधते इति वस्तुगतिस्तदोष्णताग्राहिप्रत्यक्षमनुष्णताऽनुमानं तव मते न बाधेताऽपारमार्थिकधर्मविषयकत्वादित्यत आह–। [d]"यत्र त्वि"ति । वस्तुगतिरियं यत् पारमार्थिकविषययैव धियाऽपारमार्थिकधीर्बाध्यते, व्यवहारस्तु वस्तुगतिमननुरुध्यापि, इति व्यवहारदशायां प्रत्यक्षस्यैव बलवत्त्वाद्बाधकत्वमुच्यते इत्यर्थः ॥ ननु परमार्थसदद्वैतगोचरा श्रुतिरित्यबाध्येति यथा त्वयोच्यते तथाऽनुष्णतानुमानवादिनापि तस्याः पारमार्थिकत्वमभ्युपगम्यैव तत्रापि प्रत्यक्षबाधोपि निरसनीय इत्याशङ्कते–। [e]"नन्वि"ति ॥

मू० [a]अनुष्णताया जलादिदृष्टान्तसजातीयायाः शीताद्यव्यावृत्तस्वरूपाया प्रसाधनेनाविद्याविद्यमानत्वे एव विश्रामात्; तत्रै(१)वंविधरूपतानङ्गीकारे चाद्वैतस्यैव नामान्तरकरणापत्तेः; ततस्तस्यां ज्ञेयज्ञानादिभेदावश्याभ्युपेयतया(२)जगद्बाधयुक्तिकवलाऽप्रवेशा-

(१) तत्र=अनुष्णतायाम्, एवंविधरूपताऽनङ्गीकारे=जलादिदृष्टान्तसाजात्यानङ्गीकारे ।

(२) ज्ञेयज्ञानादिभेदस्याऽवश्यमभ्युपेयता ज्ञेयज्ञानादिभेदावश्याभ्युपेयता ("लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुम्काममनसोरपि" इति मलोपः) तयेत्यर्थः, जगद्बाधयुक्तयो दृग्दृश्यसम्बन्धखण्डनयुक्तयस्ताभिर्यत्कवलनं=ग्रसनं ( बाधनमिति यावत् ) तस्य योऽप्रवेशस्तस्याऽसम्भवात्, जगद्बाधयुक्तिभिर्जगदन्तर्गताऽनुष्णताया अपि बाधनान्न ब्रह्मवदबाध इति भावः ।

संभवात् । [b]अद्वैते च द्वैताश्रयस्य बाधस्य वास्तवस्यानवकाशादपारमार्थिकत्वसंभावनापि दूरत एवापसरतीति । * [c]ननु(१)किमद्वैतपरमार्थताभ्युपगमेन समाहितं भवति, यत उपजीव्यबाधादद्वैते प्रमां श्रुतिर्जनयितुं न शक्नोतीति ब्रूमः*?। नैवम् [d]अद्वैतं हि पारमार्थिकमिदं पारमार्थिकेन भेदेन बाध्येत (२), नत्वविद्याविद्यमानेन, तस्मादविद्याव्यवस्थितं भेदं तद्बोधं चोपजीवन्त्या(३) [e]न परमार्थाद्वैतबुद्धेरुपजीव्यबाधः । [f]यदि श्रुतिजन्या भवन्त्यप्यद्वैतबुद्धिरविद्याविद्यमाना, तथापि तद्विषयस्तावत्परमार्थसदेवाद्वैतं, विरोधेन(४) च तस्या बाध्यता, स च नास्तीति ।

टी० जलादौ याऽनुष्णता सैव यदि वह्नौ साध्यते तदा तदितरप्रपञ्चबाध्यत्ववत्तद्बाध्यत्वमपि सुलभम्, अथ तद्विलक्षणमेवानुष्णत्वं साध्यते यत्र प्रपञ्चबाधकयुक्तयो न प्रभवन्ति तदा तदेवाऽद्वैतमिति सिद्धिं नः समीहितमिति परिहरति-। [a]"अनुष्णताया"इति ॥ ननु कथमद्वैतस्यापि न जगद्बाधकयुक्तिकवलनमत आह-। [b]"अद्वैते चे"ति । बाधकयुक्तयो हि भेदगर्भाः, भेदः खण्डित इति वास्तवो बाधो नास्त्येवेति नाद्वै-

(१) "यद्यपि 'नच दूढान्वये'त्यादिनेदमाशङ्क्य निराकृतं पूर्वं, तथाप्युपजीव्यत्वपुरस्कारेणेदानीं शङ्काऽवधेया"-इति प्रगल्भमिश्राः श्रीदर्पणे ।

(२) "विरुद्धध्येत"-इत्यपि पाठः ।

(३) उपजीवन्त्याः परमार्थाद्वैतबुद्धेरुपजीव्यबाधो नेत्यन्वयः । अत्राऽद्वैतबुद्धेरुपजीव्यस्य बाध इत्येकदेशान्वयो द्रष्टव्य, उपजीव्येन बाध इति वा ।

(४) विरोधेन=विषयापहारेण, तस्याः=अद्वैतधियो, बाध्यता, सच=विषयापहारश्च, प्रकृते नास्तीत्यर्थः ।

तस्य किञ्चिद्बाधकमित्यर्थः ॥ ननु परमार्थमतिरपरमार्थधिया न शक्यबाधेति तदा स्यात यदि पदार्थनानात्वस्योपजीव्यस्याविरोधादुपजीविकया श्रुत्या ज्ञानं जन्येत, तदेव नास्तीत्याशङ्कते—। [c]“नन्वि”ति ॥ भेदो, भेदबुद्धिर्वा, नाद्वैतं प्रतिबद्धुमर्हति, अपारमार्थिकत्वादपरमार्थविषयत्वाच्चेति परिहरति—। [d]“तद्वैतमि”ति ॥ [e]“न परमार्थाद्वैतबुद्धेरुपजीव्यबाध”इति । ([1])प्रतिबन्ध इत्यर्थः ॥ ननु यद्यद्वैतबुद्धिः पारमार्थिकी, तदा तयैव द्वैतम्; अथाऽपारमार्थिकी, तदा बाध्यत्वान्नाद्वैतसिद्धिरित्याशङ्क्याह—' [f]“यदी”ति। इतरप्रपञ्चबुद्धेरपारमार्थिकत्वेपि विषयस्या([2])द्वैतस्य न बाध इति बुद्धेरपि न बाध्यत्वमित्यर्थः । बाधस्य विषयापहाररूपत्वाद्विषयस्य च प्रत्यक्षादिभिरप्यपहर्तुमशक्यत्वादिति भावः ॥

मू० तस्मात्—

पारमार्थिक([3])मद्वैतं [a]प्रविश्य शरणं श्रुतिः ।
बाधना[b]दुपजीव्येन बिभेति न मनागपि ॥ २३ ॥

श्रुतिरपि तदाह–“द्वितीयाद्वै भयं भवती”ति । [c]तच्चाद्वैतं “ब्रह्मैवेदं सर्वमि”ति श्रुत्यर्थेन सहैक्यमापन्नं ब्रह्मैव स्यात्, “विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे”ति च श्रुत्या ज्ञानानन्दात्मतया व्यवतिष्ठते । [d]तेन यदिदमद्वैतज्ञानं श्रुत्या जनितं तद्विज्ञानाद्वैतात्मन्येव निविशते । * [e]ननु कथं तस्य श्रुत्या जन्यत्वमुपपद्यते ? * ।

(१) अन्वार्थसौकर्य्यार्थं “प्रतिबन्ध”इत्यतः प्राक्“उपजीव्यबाधः”–इति प्रतीकमनुषञ्जनीयम् ।

(२) विषयस्य=अद्वैतबुद्धिविषयस्य, बुद्धेः=अद्वैतबुद्धेः । अद्वैतबुद्धेश्च ब्रह्मरूपत्वेन द्वैतापत्तिशङ्कावारणं बोध्यम् ।

(३) श्रुतिः पारमार्थिकमद्वैतं शरणं प्रविश्य उपजीव्येन बाधनात् मनागपि (=ईषदपि) न बिभेतीत्यन्वयः ।

[f]सत्यमेवं(१) स्यात्, यदि तस्य पारमार्थिकी श्रुत्या जन्यतापि स्यादविद्याव्यवस्थिता तु तज्जन्यता न पारमार्थिकेनाजन्यत्वेन विरुद्ध्यते; [g]अत एव श्रुत्येदमेकं साध्यते । यत्तु, तत्र यद्येकता भेदाभावो, यदि चैकत्वसङ्ख्या, यदि वा ज्ञानात्मकत्वं, यदि वाऽन्य एवैकत्वनामा कश्चिदभेदापरपर्यायो धर्म्मस्तद्रूत्वं बोध्यते, तच्चाद्वैतव्याघातकत्वान्न सेद्धुं शक्नोति, तदा तदपि निष्पीडन(२)मसहमानं तज्ज्ञानं श्रुतिजन्यत्वेन सहैव निवर्ततां, यत्तु तादृशस्याद्वैतस्य धर्मस्य धर्मितया प्रमितं तन्मात्रमबाधादधिगतं परमार्थतो व्यवतिष्ठताम् ।

टी० [a]"प्रविश्ये"ति । विषयीकृत्येत्यर्थः॥[b]"उपजीव्येने"ति । पदपदार्थनानात्वेन तद्गोचरज्ञानेन चेत्यर्थः ॥ ननु कयाचिदद्वैतं, कयाचिद्ब्रह्म, कयाचिद्विज्ञानं, कयाचिदानन्दः, श्रुत्या प्रतिपाद्यते इति श्रुतीनां विरोधे किमपि न सिद्ध्येत्; अविरोधे वा सर्वं(३)सिद्ध्येदित्यद्वैतमनुपपन्नमेवेत्यत आह—[c]"तच्चे"ति । यद्यपि "एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्मे"ति प्रस्तुत तयैव श्रुत्या ब्रह्मात्मकत्वसिद्धिः, तथापि श्रुत्यन्तरोपष्टम्भस्तत्राप्युक्त(४)स्तस्यां श्रुतावद्वैतमात्रे तात्पर्यं, नतु ब्रह्मण्यपीति भावः ॥ श्रुतीनां सामञ्जस्यफलमाह—। [d]"तेने"ति ॥ जन्यजनकभावस्याद्वैतपरिपन्थित्वमाशङ्कते—। [e]"नन्वि"ति ॥ अपारमार्थिको जन्यजनकभावो

(१) अत्र यदिशब्दानुरोधात् तदेति शब्दोऽध्याहर्तव्यः ।

(२) तदपि निष्पीडनं=तादृशमपि व्याघातम्, असहमानं तज्ज्ञानम् = एकत्वादिधर्मविज्ञानम् ।

(३) सर्वम् = ब्रह्मविज्ञानानन्दैतत्त्रयमद्वैतव्यतिरिक्तम् ।

(४) उक्तः, मूलकारेण "ब्रह्मैवेदं सर्वम्"—इत्युक्त इत्यर्थः । तत्र हेतुः—तस्यामिति, यतस्तस्याम् = "एकमेवाऽद्वितीयमि"त्याकारकश्रुतावद्वैतमात्रे तात्पर्यं, नतु ब्रह्मणि = ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वे,—इत्यर्थः ।

नाद्वैतविरोधीत्याह–[f]"सत्यमि"ति ॥ श्रुतिविषयस्याप्येकत्वादेर्धर्मस्याद्वैतपरिपन्थितामाशङ्क्याह–। [g]"अत एवे"ति । यथाऽद्वैतज्ञानस्य श्रुतिजन्यत्वमपारमार्थिकत्वान्निवर्तते तथा श्रुतिबोध्यस्य ब्रह्मण एकत्वादिधर्मस्यापारमार्थिकत्वान्निवृत्तो न नः किञ्चिदनिष्टमित्यर्थः ।

मू० [a]नहि परमार्थशुक्तौ रजततया प्रतीयते यदा, तदा बाधात्तत्र रजतत्वे व्यावर्त्तमाने धर्मिव्यक्तिरपि तद(१)पराधान्निवर्तते । [b]सेयमद्वैतबुद्धिर्न तर्कशतमवतार्य्य प्राज्ञैरपनेया, यद् आह श्रुतिः- [c]"नैषा (२) तर्केण मतिरापनेये"ति [d]तस्मात्–

धीधना ! (३)बाधनायाऽस्यास्तदा प्रज्ञां प्रयच्छथ ।
क्षेप्तुं चिन्तामणिं पाणिलब्धमब्धौ यदीच्छथ ॥२४॥

[e]सेयमद्वैतदृष्टिर्दृष्टार्थापि, यदाहुः- [f]"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्" ।

टी० नन्वेकयैव धियाऽद्वैतं(४)विशिष्टमुपस्थापितं, तत्र विशेषणांशेऽयाथार्थ्येपि(५)विशेष्यांशे का प्रत्याशा इत्याशङ्क्य निदर्शनमाह–। [a]"नही"ति । "धर्मिणि सर्वम(६)भ्रान्तं प्रकारे

(१) तदपराधात् = आरोपितधर्मबाधरूपापराधात् ।

(२) एषा=अद्वैतविषया मति,स्तर्केण=श्रुतिविरोधिकुतर्केणाऽऽपनेया, आ=समन्ताद्, अपनेया=ऽपलपितव्या, न; यद्वाऽऽपनेया = प्रापणीया नेत्यर्थः ।

(३) धीरेव धनं एषां विदुषां तत्सम्बोधनं धीधना ! इति, अस्याः =अद्वैतबुद्धेर्बाधनाय स्वप्रज्ञां तदाप्रयच्छथ यदि पाणिलब्धं=हस्तप्राप्तं चिन्तामणिं विचित्रार्थप्रदं समुद्रे क्षेप्तुमिच्छथेत्यर्थः ।

(४) अद्वैतात्मकं ब्रह्म, विशिष्टं द्वैताभावविशिष्टमित्यर्थः "अद्वैतविशिष्टमि"ति पाठे तु 'ब्रह्म'–इत्यध्याहार्य्यम् ।

(५) अपिशब्दो भिन्नक्रमः, विशेष्यांशेपीत्यर्थः ।

(६) सर्वं ज्ञानमित्यर्थः ।

तु विपर्यय"–इति भावः॥ ननु श्रुतिव्युत्पादनमेतावता षण्ढस्य(१) मैथुनवदकिञ्चित्करमेव, तदुपस्थाप्यस्याद्वैतस्य त्वयैव निरसनात्; किंच, द्वैतमेव तदुपस्थाप्यं किं न व्युत्पादितं? धर्मत्वेन तन्निवृत्तेरप्यद्वैतवदेव संभवात्; कथं वा श्रुतेः प्रामाण्यं? तज्जनितज्ञानस्याप्रमात्वपर्यवसानात्(२); तदप्रामाण्ये वा कथमद्वैतं? कथं वाद्वैतादिसकलधर्मविनाकृतस्य ब्रह्मणः सिद्धि?, स्वप्रकाशस्य(३) ब्रह्ममात्रविषयत्वात्, धर्माभावे तस्याऽतन्त्रत्वात्, ब्रह्मणि चाऽविप्रतिपत्तेः; द्वैताऽद्वैतविचारस्य गर्दभीक्षीरमथनायमानत्वात्; ब्रह्म सर्वैः स्वीक्रियते, तदेकत्वं त्वयापि नाभ्युपगम्यते, तथाच सर्वमिदमाकुलमित्यत आह–। [b]"सेयमि"ति ॥ [c]"नैषे"ति। यद्यपि श्रुतेस्तर्कासहत्वं दोष एव, अन्यथा मीमांसाप्युच्छिद्येत, मीमांसायास्तर्कत्वात्; यदाहुः "मीमांसासञ्ज्ञकस्तर्कः(४) सर्ववेदसमुद्भवः। साऽतोवेदो रुमाप्राप्तकाष्ठादिलवणात्मवत्", उक्तं च"यस्तर्केणाऽनुसंधत्ते स धर्मं वेद नैतर"–इति, तथापि श्रुतिवाक्यानुरोधेन तर्कोऽनुसरणीयो ननु तद्विरोधेनापीति भावः। श्रुत्या यदद्वैतज्ञानमुत्पन्नं तदपवर्गानुकूलमिति नापवदितव्यमित्युपसंहरति–। [d]"तस्मादि"ति॥ ननु मुमुक्षुतादशायां मयाप्येकमेव ब्रह्म ध्येयमिति किमनेनोपदेशेनेत्यत आह–। [e]"सेयमि"ति। मोक्षान्यप्रयोजनकत्वं दृष्टार्थत्वम्॥ [f]"स्वल्पमपी"ति। अद्वैतोपासनलक्षणस्य धर्मस्य स्वल्पमपि महतो भयाद्राजचौरव्याघ्रादिभयात्त्रायते इत्यर्थः। उत्पन्नमात्रेणाप्यद्वैतज्ञानेन विषयेष्वलंप्रत्ययवतोऽविचिकित्सस्य राजचौरादिभयं निवर्तते किं पुनर्गृहीतप्रामाण्येनेति भावः॥

(१) षण्ढस्य=नपुंसकस्य।

(२) अद्वैतस्यात्यन्ततो बाध्यत्वेन भवताङ्गीकारात्तद्विषयकं श्रौतज्ञानमप्रमैव पर्य्यवस्यति।

(३) ननु स्वप्रकाशचैतन्येनैव तत्सिद्धिरित्यत आह–स्वप्रकाशस्येति। धर्माऽभावे=द्वैतादिसकलधर्माभावे, तस्य=स्वप्रकाशचैतन्यस्य, अतन्त्रत्वादसाधकत्वादित्यर्थः।

(४) यथा रुमायां लवणखनौ प्राप्तं काष्ठादिकं लवणात्मकमेव भवति तथा रुमास्थानीयवेदसमुद्भवस्तर्कोऽपि वेदरूप एवेति श्लोकार्थः।

मू० [a]तस्मात्-

ईश्वरा(१)नुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना ।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते ॥ २५ ॥

तस्मात्-

[b]आपाततो यदिदमद्वयवादिनीनाम्(२)
अद्वैतमाकलितमर्थतया श्रुतीनाम् ।
तत्स्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भूत्वा ।
[c]निष्पीडितादहह निर्वहते विचारात् ॥ २६ ॥

[d]तदिदमेताभिरात्ममतसिद्धसद्युक्तिलक्षणोपपन्नाभि(३)र्युक्तिभिरुपनीयमानमद्वैतमविद्याविलासलालसोपि श्रद्दधातु तावद्भवान्, तदनु(४)चानयैवोपनिषदर्थश्रद्धयाऽध्यात्मं जिज्ञासमानः परमार्थतत्त्वं [e]क्रमाद्वृत्तिव्यावृत्तचेताः [f]स्वप्रकाशसाक्षिकं [g]साक्षि-

(१) यस्माद् दृष्टाऽदृष्टफलाऽद्वैतदृष्टिर्बहुविघ्ना च तस्मादेषाऽद्वैतवासना पुंसां यदि जायते तर्हीश्वरानुग्रहादेव, तथा च विद्योत्पत्तिपरिपन्थिकल्मषनाशायेश्वराराधने मुमुक्षुभिः प्रवर्तितव्यमित्याशयः । हेतुगर्भं विशेषणं -महाभयकृतत्राणेति, महतः संसारस्य भयात्कृतं त्राणं यया सा तथोक्ता । विशिष्टाधिकारिदुर्लभतां दर्शयति-द्वित्राणामिति ।

(२) अद्वयवादिनीनां श्रुतीनां यदिदमद्वैतम् आपाततोऽर्थतयाऽऽकलितं (=विचारितम्) तत्स्वप्रकाशचिद्रूपमेव भूत्वा निष्पीडितात् (=शोधितात्) विचारान्निर्वहते (=निर्वाहं प्राप्नोति)-इत्यन्वयः ।

(३) सत्यः =समीचीना युक्तयः सद्युक्तय,स्तासां ज्ञापकं लक्षणं सद्युक्तिलक्षणं, तेनोपपन्नाभिर्युक्तिभिरित्यर्थः ।

(४) तदनु च स्वात्मनैव भवान् परमार्थतत्त्वं साक्षात्करिष्यतीत्यन्वयः । "अध्यात्मं जिज्ञासमान"-इत्यनेनं लक्षणया ज्ञानेच्छयोरन्तर्नीतं वेदान्तविचारात्मकं श्रवणं, "क्रमादि"त्यनेन मननं, "वृत्तिव्यावृत्त"त्यनेन विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययसन्तानरूपं निदिध्यासनं चोच्यते; तथा च मनननिदिध्यासनाभ्यां फलोपकार्य्यङ्गाभ्यां सहकृतात्स्छ्रवणाद्भवान् साक्षात्करिष्यति-इति भावः ।

करसातिशायि(१)स्वात्मनैव साक्षात्करिष्यति ।

टी० एतदेवोपसंहरति—। a"तस्मादि"ति । (२)अद्वैतानुभवजनित: संस्कार:; यद्वाऽद्वैतं प्रति भावना, अद्वैतबुभुत्सेत्यर्थ: । 'यदी'ति लोकोक्ति: ॥ ननु यद्यद्वैतज्ञानस्य श्रुतिजन्यत्वमपि निरस्तं, तदा तत्र किं प्रमाणं? कथं वा 'श्रुतिस्तत्र प्रमाणमि'त्यभिधीयते ? इत्यत आह—। b"अपालत"इति । अविद्यादशायां वाच्यवाचकभावोपग्रहेणेत्यर्थ: । पारमार्थिकी चित्=परमार्थचित् ॥ c"निष्पीडितादि"ति । "ब्रह्मैवेदं सर्वमि"त्यादिश्रुत्यैकवाक्यतया परिशोधितादित्यर्थ: । 'अहहे'ति स्वकीयतादृशानुभवचमत्काराविष्कार: ॥ नन्वेतास्त्वदुक्तयो मह्यं न रोचन्ते, न वा ऽद्वैतवासनाभिर्भरमथिताभि(३)रद्वैतज्ञानं जनयितुं शक्यं, न वा जनिते तस्मिन्नस्माकमादर: शरीरात्मभेदसाक्षात्कारलक्षणतत्त्वज्ञानपरिपन्थित्वादित्यत आह—। d"तदिदमि"ति । उद्धृतकण्टकत्वादिना(४)युक्तय: सद्युक्तय एव, नचाऽद्वैतज्ञानस्य तत्त्वज्ञानविरोधित्वं, भेदज्ञानस्य तत्त्वज्ञानत्वाभावादिति भाव: ॥ e"क्रमादि"ति । तत्र बहिरिन्द्रियविषये स्पृहालोश्चेतसो या वृत्तिस्तद्व्यावृत्तचेता युञ्जान(५) इत्यर्थ: । मनोवृत्तय: कामादयस्तद्व्यावृत्त इति वार्थ: ॥ ननु साक्षात्कारब्रह्मणोर्विषयविषयिभावे भेद एवेत्यत आह—। f"स्वप्रकाशे"ति ॥ "यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं तत:"—इत्याद्युक्तमानन्दहेतुत्वं योगस्याह—।g"माक्षिकरसातिशायी"ति॥

(१) माक्षिकं रसमतिशयितुं शीलं यस्य तत्तथा ।

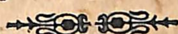
(२) अत्र "अद्वैतवासना"—इतिप्रतीकमध्याहृत्याद्वैतानुभवेत्यादिग्रन्थो व्याख्येय: ।

(३) भरमथिताभि: = द्वैतवासनाभारेणाऽभिभूताभिरित्यर्थ: । केषुचित्पुस्तकेषु "द्वैतवासनाऽभिभरमथिताभि:"—इति पाठ,स्तत्राऽद्वैतवासनाभिरित्युपरितोऽध्याहृत्य ग्रन्थो योजनीय: ।

(४) उद्धृतकण्टकत्वं बाधसत्प्रतिपक्षादिशून्यत्वम्, आदिपदेन पक्षसपक्षसत्त्वादेपरिग्रह:, तथा चोद्धृतकण्टकत्वादिना=बाधशून्यत्वादिना रूपेणोपेता युक्तयोऽनुमानादि: रूपा: सद्युक्तय एवेत्यर्थ: ।

(५) युञ्जान:, योगीत्यर्थ: ।

मू० [a]यथा च परिहृतचापल(१)मात्मतत्त्वामृतसरसि निमज्य रज्यति निरायासमेव मानसं तथाहमकथयं नैषधचरितस्य परमपुरुषस्तुतौ सर्गे,-इत्येषा [b]दिक्(२) ।



[c](३)अभीष्टसिद्धा(४)वपि खण्डनाना-
मखण्डि राज्ञामिव नैवमाज्ञा ।
तत्तानि कस्मान्न यथाऽभिलाषं
सैद्धान्तिकेष्वद्धध्वनि योजयध्वम् ॥ २७ ॥

तदे[d]तादृशीषु सर्वास्वपि दर्शनस्थितिषु काममास्माकीनाः खण्डनयुक्तयः प्रगल्भन्ते, [e]यासामीश्वरपरवशां विश्वव्यवस्थामनास्थाय निरसनमशक्यं [f]तासामेवावतारणार्थमयं प्रावादुकप्रवादोपन्यासः । [g]तथाहि-यदि शून्यवादानिर्वचनीयपक्षयोराश्रयणं, तदा तावदमूषां निराबाधैव सार्वपथीनता ।

टी० ॥ ननु चेतसो वृत्तिव्यावृत्तिरेवाशक्या, भोगस्पृहाया नित्यं जागरूकत्वादित्यत आह—। [a]"यथा चे"ति ॥ [b]"दिगि"ति । अनेन पातञ्जलाद्युक्तयोगाद्युपायं सूचयति ॥



नन्वेवं मुमुक्षुमात्रोपासनीयता ग्रन्थस्य स्यात्, तथा च "लोकेषु दिग्विजयकौतुकमातनुध्वमि"त्युपक्रमविरोध इत्याशङ्क्य तदपि फलमन्वाचिनोति—। [c]"अभीष्टे"ति । चित्यानित्यवि-

(१) यथा च परिहृतचापलं मानसं निरायासमेव रज्यतीति सम्बन्धः ।

(२) इत्येषा दिक्, "अद्वैतसाधने",-इति शेषः ।

(३) { वादजल्पवितण्डासु कथासु त्रिविधास्वपि
प्रचारः खण्डनोक्तानां युक्तीनामत्र कथ्यते ॥ २३ ॥ }

(४) अभीष्टसिद्धावपि खण्डनानामाज्ञा राज्ञामाज्ञेव मया नाखण्डि, तत् ( = तस्मात्कारणात्) तानि ( = खण्डनानि) सैद्धान्तिकेष्वद्धध्वनि ( = तत्तत्सिद्धान्तावलम्बिनैयायिकादिमतेऽपि ) यथाभिलाषं कस्मान्न योजयध्वमिति सम्बन्धः ।

चारेऽपि खण्डनयुक्तीरवतार्य विजयादिकं फलमासादनीयमित्यर्थः ॥ [d]"एतादृशीष्वपी"ति । रक्षणीयसिद्धान्तास्वपीत्यर्थः ॥ प्रागल्भ्यमेवाह—। [e]"यासामि"ति । 'इदमित्थमेवे'ति यदीश्वरः कश्चिदाज्ञामात्रेण विश्वं व्यवस्थापयति तदा परममूषां निरसनं नान्यथेत्यर्थः । यद्वा, ईश्वरः=ब्रह्म, तत्परवशामिति । यावद् "ब्रह्मैवेदं सर्वमि"ति विश्वं न व्यवस्थाप्यते तावन्नामूषां निरास इत्यर्थः ॥ [f]"तासामि"ति । खण्डनयुक्तीनामवतारणार्थम्=अवतारस्थल(१)ज्ञापनार्थम्, अयम्=अग्रेतनः, प्रावादुकानां=माध्यमिकादीनां, प्रवादस्य=दर्शनस्योपन्यास इत्यर्थः ॥ विशेषदर्शनोपन्यासमेवाह—। [g]"तथाही"ति । दर्शनानि=शून्यत्वाऽनिर्वचनीयत्वादीनि ॥

मू० [a]यदि तु प्रमाणादिसत्ताभ्युपगन्तृमतावलम्बनं, तदापि लक्षणखण्डनयुक्तीनां लक्षणविशेष(२)खण्डने, [b]लक्ष्यखण्डनयुक्तीनां च तद्विषयप्रमाणादिविशेषखण्डने, [c]प्रत्येकं तात्पर्यम् । * [d]नच सौत्रादिलक्षणखण्डनेऽपसिद्धान्तापत्तिः*, [e]तादृश्याः सूत्रादिव्याख्यायाः खण्ड्यमानत्वात् । * [f]न च वाच्यं लक्षणविशेषवस्तुव्यवस्थापकप्रमाणविशेषसूत्रादिव्याख्याविशेषखण्डनपरत्वेन लक्षणान्तरं, प्रमाणान्तरं, व्याख्यान्तरं च, वाच्यं प्रसज्येत भवतोपीति*, [g]वितण्डाकथामालम्ब्य खण्डनानां वक्तव्यत्वात्, तत्र च व्यावृत्य स्वपक्षनिर्वाहं प्रति पर्य्यनुयोगानवकाशात् ।

टी० ॥ नन्वनिर्वचनीयत्वादौ खण्डनयुक्त्यवतारेऽपि सैद्धान्तिकाद्वयोजनं न जातमत आह—। [a]"यदि त्वि"ति । प्रमाणादिसत्ताभ्युपगन्तारः— सिद्धान्तिनस्तेषामपि परस्परं कथायां

(१) अवतारस्थलत्वं च खण्डनयुक्तिप्रतिपादकत्वेन न तु खण्डनयुक्तिभिः खण्डनीयत्वेनेति बोध्यम् ।

(२) लक्षणविशेषप्रमाणविशेषादिकं पराभिमतलक्षणप्रमाणादिकम् ।

लक्षणविशेषखण्डनार्थमवतारः संभवत्येवामूषामित्यर्थः ॥ नन्वत्र न लक्षणमात्रखण्डने युक्तयः सन्ति, किंतु लक्ष्याण्यपि प्रमाणादीनि खण्डितान्येव, तथाच तद्युक्तीनां सिद्धान्तिभिरवतारणेऽपसिद्धान्तापत्तिरित्यत आह– [b]"लक्ष्ये"ति । येन प्रमाणेनैकस्तत्त्वदयं व्यवस्थापयति तत्खण्डनमेव लक्ष्यखण्डनं, नतु लक्ष्यस्य प्रमाणान्तरेणा(१)पि सिद्धिरनपेक्षिता येनापसिद्धान्तः स्यादित्यर्थः ॥ [c]"प्रत्येकमि"ति । कथकयोः प्रत्येकमित्यर्थः ॥ ननु लक्षणविशेषोपि सौत्र एव, तथाच तन्मात्रमतानुसारिणा तत्खण्डने कथं नापसिद्धान्त इत्यत आह–। [d]"नचेति ॥ [e]'तादृश्या" इति । यादृश्याः प्रकृते खण्डनीयं लक्षणं पर्यवस्यतीत्यर्थः ॥ [f]"नचे"ति । लक्षणसामान्यस्य, लक्ष्यस्वरूपस्य, सूत्रव्याख्यायाश्च, तन्मतानुसारिभिरवश्यं रक्षणीयत्वादिति भावः(२) ॥ [g]"वितण्डे"ति । वितण्डायाः प्रतिपक्ष(३) स्थापनाहीनत्वेन खण्डनानन्तरं तत्र लक्षणादीनां व्यवस्थापनीयत्वाभावादित्यर्थः ॥

मू० [a]एवं च सति वादिदर्शनमाश्रित्यापि खण्डनप्रयोगो निर्बाध एव, एकदेशिवत् प्रत्यवस्थातुं शक्यत्वात् । [b]वैयाक(४)रणानामिव च शब्दसिद्धिप्रश्नस्य परकीयतत्त्वज्ञानाजिरूपणार्थं समानपक्षस्थित्यापि पर्यनुयोगसांव्यवहारिकतायाः संभवात्, [c]वस्तुस्थितिं कुर्वाणेन च विचारकेणाऽवश्यमेता युक्तय उद्धरणीयाः(५),

(१) प्रमाणान्तरेण=स्वाभिमतप्रमाणेन । (२) 'लक्षणान्तरादिकं वाच्यं प्रसज्येत भवतापी'तिवादिनः पूर्वपक्षिणो भावइत्यर्थः (३) प्रतिपक्षः = वैतण्डिकस्य स्वपक्षः । (४) यथा गवादिशब्दानां सिद्धत्वसंप्रतिपत्तावपि परकीयज्ञानपरीक्षार्थं तत्साधनप्रकारनिराकरणार्थं च 'कथमयं गोशब्दःसिद्धः'?–इतिप्रश्नो दृष्टस्तथा साध्यार्थसंप्रतिपत्तावपि तत्साधनविशेषनिराकरणार्थं परकीयतत्त्वज्ञानपरीक्षार्थं च चोद्यसंव्यवहारसिद्धतायः सम्भवादिति समग्रपङ्क्त्यर्थः । (५) युक्तीनामुद्धारश्च खण्डनयुक्तिभिरेवेति वादेपि खण्डनयुक्तीनां प्रवेश इति भावः ।

अन्यथा वस्तुस्थितेरशक्यत्वादिति [d]वादेपि प्रयोगः संभवत्येव खण्डनयुक्तीनाम् । [e]जल्पस्त्वेकाकथा न संभवत्येवा[f]ऽसामयिकी(१),वितण्डाद्वयशरीरत्वात् ।

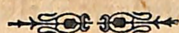
टी० ॥ दर्शनभेदेन समानलक्ष्यलक्षणयोर्वादिनोः खण्डनावसरमभिधाय दर्शनाभेदेनापि तदवतारमाह–। [a]"एवं चे"ति । स्वपक्षनिर्वाहं प्रति पर्यनुयोगानवकाशे सतीत्यर्थः ॥ अभिन्नदर्शनयोः कथायां दृष्टान्तमाह–। [b]"वैयाकरणानामिवे"ति ॥ ननु तत्रतत्रावतरन्तु नाम खण्डनयुक्तयः, स्थापनावादिना तु तासामुपेक्षैवोचिता, तथाच किमनेनावतारेणेत्यत आह–। [c]"वस्तुस्थितिमि"ति ॥ वादे संभवमाह–। [d]"वादेपी"ति । वस्तुस्थितिमित्यत एकैवेयं फक्किका(२) ॥ ननु जल्पे स्वस्वपक्षस्थापनाया आवश्यकत्वात् कथममूषां स्वपक्षव्याघातपराहतानामवतार इत्यत आह–। [e]"जल्पस्त्वि"ति । एकेन स्थापनायां कृतायामन्येन तद्दूषणाभिधानमित्येका वितण्डा, द्वितीयेन स्थापनायां कृतायां प्रथमेन दूषणाभिधानमित्यपरा वितण्डा,ताभ्यां वितण्डाभ्यां चैको जल्पः संपद्यते, इति तत्रा(३)भिधानमात्रमित्यर्थः ॥ ननु

(१) समयः = स्वसङ्केत,स्तत्सिद्धा सामयिकी, तद्भिन्ना असामयिकी अपारिभाषिकीत्यर्थः । (२) "वस्तुस्थितिमि"त्यत आरभ्य "खण्डनयुक्तीनामि"त्यन्तमेकैव फक्किकेत्यर्थः ; एवं च सति व्याख्याकारस्य "वादे सम्भवमाह"–इत्यवतरणग्रन्थानन्तरं "वस्तुस्थितिमिति"–इति प्रतीकधारणं युक्तं न तु "वादेपीति", – इत्यनुमन्ये । अत एव च प्रगल्भमिश्रेण श्रीदर्पणे "वादेपि खण्डनयुक्तिसम्भवमाह – वस्तुस्थितिमिति" – इत्येवोक्तम् ।

(३) तत्र=जल्पे, अभिधानमात्रं=पृथक्कथात्वमभिधानमात्रमेव, न तु पृथक्कथात्वमित्यर्थः । यद्वा वादवितण्डयोः खण्डनयुक्तीनामवतारे प्रतिपादिते तत्समुदायरूपजल्पे पुनः पृथक्प्रतिपादनमभिधानमात्रं,–वृथा प्रलापमात्रमेवेत्यर्थः ।

स्वपक्षस्थापनाऽपरपक्षदूषणसामर्थ्यं यत्र(१)द्वयोरपि निरूप्यं तत्र तथा जल्पः संभवत्येवेत्यत आह—। [f]"असामयिकी"ति । समयाधीनतया कथाप्रवृत्तौ खण्डनानवतारेपि न क्षतिः, प्रमाणसिद्धकथाप्रभेदे खण्डनप्रागल्भ्यस्यापेक्षितत्वादिति भावः ॥

मू० [a]अन्यया जल्पद्वयेनापि किमित्येका कथा न कल्प्यते, [b]अवोचाम(२) च जल्पविचारप्रस्तावे विस्तरेणैतदिति, [c]जल्पकथयापि चाभिधाने स्वपक्षे(३)व्यावर्त्य सदोषस्यापि प्रमाणतयाभिधानं कृत्वातद्दोषोद्भावनकारीकमपि खण्डनयुक्तिमवताय्य बाधनीय इति जल्पेपि नात्यन्तमनवकाशाः खण्डनयुक्तयः ।



†कीदृश्यः पुनस्ताः ? । उच्यन्ते । तथाहि-लक्षणाधीना तावल्लक्ष्यव्यवस्थिति[d]र्लक्षणानि चाऽनुपपन्नानि, ज्ञाताधिकरणादिलक्षणनिरूपणद्वारेण(४) चक्रकाद्यापत्तेः ।

---

(१) यत्र=यस्मिन्काले, नतु यस्यां कथायामित्यर्थः; जल्पे जल्पाऽसम्भवेन "तत्र तथा जल्पः सम्भवती"त्युक्त्यनुपपत्तेः ।

(२) ननु वादस्यापि वितण्डाद्वयशरीरत्वेनाभावप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह-अवोचामेति, "वादस्य फलभेदेन वितण्डातो भेदो न जल्पस्य; तदभावादि"त्यादिकमवोचामेत्यर्थः । (३) स्वपक्षे सदोषस्यापि प्रमाणस्य सदोषाद्व्यावर्त्य = पृथक्कृत्य निर्दुष्टप्रमाणतयाऽभिधानं कृत्वा पुनस्तत्र दोषोद्भावनकारी पुरुषो यां काञ्चिद्युक्तिमवताय्य बाधनीय इत्यर्थः; "स्वपक्षे व्यावृत्त्य"-इतिपाठे तु जल्पकः पुरुषः स्वयं स्वपक्षे व्यावृत्त्येत्यर्थः । न तु तत्र पक्षव्यावृत्तिर्ग्राह्या ।

† नियमाल्लक्षणाधीना भवेल्लक्ष्यव्यवस्थितिः ।
प्राहुर्ये तान्निराचष्टे लक्षणस्यानिरुक्तितः ॥ ११ ॥
प्रमाया लक्षणस्यादौ निरुक्तिस्तत्र खण्ड्यते ।
अतिव्याप्त्यादिदोषोक्त्या प्रमामात्रानुवर्तिनी ॥ १२ ॥

(४) "ज्ञानाधिकरणादिलक्षणनिरूपणद्वारेण"-इति तु खण्डनभू-

टी० ॥ ननु जल्पः कथं तृतीयकथा समयमन्तरेणैव न संभवतीत्यत आह–। [a]"अन्यथे"ति । स्वपक्षद्वयस्थापनपरपक्षद्वयखण्डनशक्तिनिरूपणार्थं जल्पद्वयेन कथान्तरसंभवादित्यर्थः ॥ [b]"अवोचामे"ति । ईश्वराभिसन्धाविति शेषः ॥ ननु दशरथदशाननतनययुद्धवत्काकोलूकयुद्धवच्च कृतविद्यकुमारद्वययुद्धमनुभवसिद्धमेव,(२) तथैव स्वपक्षरक्षणपरपक्षखण्डनफलकं कथान्तरं जल्पः किं न स्यादत(३)आह–। [c]"जल्पकथयापी"ति । परपक्षदूषणाभिधानानन्तरं स्वपक्षे सद्धेतोरपरिस्फूर्तौ सदोषमपि प्रमाणमुपन्यस्य तद्दोषनिरासाय खण्डनावतारसम्भवात्, पुनः स्वपक्षस्थापनाव्यावृत्तेरभावादिति भावः ॥ तत्रादौ लक्षणसामान्यखण्डनयुक्तिमवतारयति–। [d]"लक्षणानि चे"ति । लक्षणेन हि गन्धवत्त्वादिना ज्ञाते लक्ष्ये पृथिवीस्वरूपेऽधिकरणे प्रतिबन्ध(४)बलेन व्यवहाररूपमितरभेदरूपं वा साध्यं साधनीयं तत्र लक्षणज्ञानमन्यलक्ष्यसाधारण्येन भवदप्यकिञ्चित्करमिति व्यावृत्ततया तज्ज्ञानमुपेयं, तद्यदि लक्षणव्यावृत्तिर्लक्ष्याधीना, तदाऽन्योन्याश्रयः, लक्ष्य परतन्त्रलक्षणान्तराधीनत्वे चक्रकं; लक्षणे लक्षणा_

षामणिकृद्रघुनाथविद्यासागरादिसंमतः पाठः । तदर्थस्तु किं ज्ञानम् ?–इतिप्रश्ने ज्ञानत्वयोगीति निर्वाच्यम्, पुनः किं ज्ञानत्वम्?–इत्यनुयोगे, सुखाद्यवृत्तिरात्मविशेषगुणवृत्तिर्जातिरिति निर्वाच्यं, जातिरेव का इत्यनुयोगे च अनुवृत्तिज्ञानासाधारणं कारणमित्यभिधानीयमिति ज्ञानसिद्धौ जातिसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तद्विशेषभूतज्ञानत्वस्य सिद्धिस्तत्सिद्धौ च ज्ञानसिद्धिरिति चक्रकम्; आदिशब्दात्तथैव ज्ञानसिद्धौ ज्ञानत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च ज्ञानसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः; ज्ञानसिद्धौ ज्ञानसिद्धिरित्यात्माश्रयश्चेति; तथा लक्षणानि लक्ष्याधिकरणानि वाच्यानि ततश्च किमधिकरणमितिप्रश्ने इहप्रत्ययविषय इति कथनीयं, कः प्रत्ययः ?–इत्यनुयोगे च प्रत्ययत्वयोगीति वाच्यम्, किं प्रत्ययत्वमित्यनुयोगे च सुखाद्यवृत्तिरात्मविशेषगुणवृत्तिजातिविशेष इत्युत्तरं, क आत्मा ?-इतिजिज्ञासायामात्मत्वाधिकरणं, पुनरधिकरणमिहप्रत्ययविषय इति चक्रकं, पूर्ववदेवान्योन्याश्रयात्माश्रयौ चेत्यादिः । (१) कृता = उपार्जिता पर्य्याप्ता वा विद्या यस्य तच्चकुमारद्वयस्य तस्य च युद्धमनुभवसिद्धं यथा तथेत्यर्थः ।

(२) अतोजल्पस्य वितण्डातो भेदमङ्गीकृत्याहेत्यर्थः ।

(३) प्रतिबन्धः = व्याप्तिः ।

न्तरं तत्रापि लक्षणान्तरमित्यपरावृत्तावनवस्था; एवं भवदप्यकिञ्चित्करमिति । एवं जलादिमाधारत्वेन ज्ञातायां पृथिव्यामितरभेदसाधनमकिञ्चित्करमिति व्यावृत्तायां तस्यां तत्साधनं वाच्यं, तद्व्यावृत्तिर्यदि प्रकृतलक्षणाधीना, तदाऽन्योन्याश्रयः; लक्षणान्तरेण चेत्तदा प्रकृतलक्षणानुपयोगः; तदपि लक्षणं व्यावृत्तायामेव तस्यामित्यधोऽधो धावन्त्यनवस्था । एवं प्रतिबन्ध(१) ज्ञानसाध्यज्ञानादावप्यूह्यम् । *ननु सर्वलक्षणखण्डनकृतः किमभिप्रेतं ? किं लक्षणसाध्यस्यार्थस्य व्यवहार एव नास्ति, सन्नपि वा निर्हेतुकः, सहेतुको वा लक्षणातिरिक्तहेतुकः, सर्वलोकसिद्धे लक्ष्यव्यवहारे लक्षणानुपयोगो वा, लक्ष्यलक्षणव्यवहाराणामनिर्वचनीयत्वं वेति तत्सर्वमनुपपन्नमनुभवविरोधात् * ?–इति चेन्न, वादिनोर्लक्ष्यलक्षणव्यवस्थाभिधाननिवर्तनस्याभिप्रेतत्वात्॥

सू० तेषु तावत् [a]'तत्त्वानुभूतिः प्रमा'-इत्यप्ययुक्तं, तत्त्वशब्दार्थस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् । तस्य भावो हि तत्त्वमुच्यते, [b]प्रकृतं च तच्छब्दार्थः, नचा[c]त्र प्रकृतं किञ्चिदस्ति यत्तच्छब्देन परामृश्यते । [d]अथ* अनुभूत्या स्वसंबन्धिविषय आक्षेपाद्बुद्धिस्थः कार्यते, स तच्छब्देन परामृश्यते, वक्तृश्रोतृबुद्धिस्थतायामेव प्रकरणपदार्थविश्रामात्; तेन 'यस्यार्थस्य यो भावस्तत्तस्य तत्त्वमुच्यते इति-*, न, [e]अरजतादेरपि रजताद्यात्मनाऽनुभूतिविषयतासंभवादसत्यानुभूत्यव्यवच्छेदात् ।

(१) प्रतिबन्धः=व्याप्तिः । तत्तत्त्वएवानुमित्युत्पादाद्व्याप्त्यनुमित्योरपि परस्परं व्याप्तिरेष्टव्या; एवं तस्या अप्यस्या, तस्या अप्यस्येत्यनवस्था; तथा साध्यस्येतरभेदादेरप्यनुमितेः प्राक् ज्ञानं न तावत्पक्षभिन्ने वक्तव्यं, केवलव्यतिरेकित्वभङ्गप्रसङ्गात्, किन्तु पक्षे पक्षैकदेशे एव वा वक्तव्यम्, तदपि पक्षे पक्षैकदेशे वा साध्यान्तरज्ञानपूर्वकमेवं तत्तदपीत्यनवस्थेत्यूह्यमित्यर्थः ।

टी० ॥ न्यायाचार्य(१)कृतलक्षणमालाग्रन्थे प्राथमिकं प्रमालक्षणं खण्डयितुमुपक्रमते—। [a]"तत्त्वानुभूतिरि"ति । प्रमाऽव्यवस्थितौ सर्वपदार्थाऽव्यवस्थितिरिति तल्लक्षणप्राथम्यं न्यायाचार्यस्य; प्रमालक्षणाऽव्यवस्थितौ सर्वपदार्थाऽव्यवस्थितिरिति तत्खण्डनप्राथम्यं खण्डनकृतः ॥ [b]"प्रकृतमि"ति । पूर्वोपक्रान्तमित्यर्थः ॥ [c]"अत्रे"ति । आचार्यग्रन्थे प्रमालक्षणस्यैवादावभिधानमित्यर्थः ॥ अनुभवस्य सविषयत्वनियमादनुभवपदेन विषयाक्षेपे अनुभवविषयगतधर्मानुभूतिः प्रमेति सिद्ध्यतीत्याशङ्कते—। [d]"अथे"ति ॥ भ्रमेऽतिव्याप्त्या प्रत्याचष्टे—। [e]"अरजतादेरि"ति ॥

सू० [a]भवितु(१)रतत्त्वशब्दार्थत्वप्रसङ्गेन धर्म्यंशे विशिष्टे च प्रमाया अप्रमात्वापातात् । [b]अथोच्यते—* अवयवार्थचिन्तया दूषणाभिधानमिदं त्यज्यतां, यतोऽयं तत्त्वशब्दः स्वरूपमात्रवचनः*,—इति, एतदप्ययुक्तम्, [c]स्वरूपत्वस्य(३)जातेरुपाधेर्वा स्वात्मनि वृत्त्यवृत्तिभ्यामनुपपत्तेः । स्वरूपशब्दार्थस्यैकस्यासंभवेन प्रतिविषयव्यावृत्त्या लक्षणस्याऽव्यापकत्वापातात् । कथं च "तत्त्वे"तिविपर्यासादेर्निरासः ? । तथाहि—शुक्तौ यो रजतत्वप्रत्ययः सोऽपि स्वरूपबुद्धिर्भवत्येव; नहि धर्मी(४)वा रजतत्वं वा न स्वरूपं, नापि तयोः प्रतिभासमानः संबन्धो न स्वरूपमिति युक्तम् । समवायो हि तयोः संबन्धः प्रतिभाति, स च स्वरूपमेव ।

---

(१) न्यायाचार्यः=शिवादित्यमिश्रः । (२) भवितुः=भावस्य घटत्वपटत्वादेराश्रयस्य धर्मिणः, उपलक्षणं चैतद्विशिष्टस्यापि, तथा च धर्मिणो विशिष्टस्य चातत्त्वशब्दार्थत्वेन तत्प्रमायामव्याप्तिः ।

(३) स्वरूपत्वधर्माश्रयो हि स्वरूपं, तथा च स्वरूपत्वे स्वरूपत्ववत्त्वाऽसत्त्वाभ्यामात्माश्रयतत्प्रमाऽनुपग्रहयोः प्रसङ्गेन लक्षणानुपपत्तिरेवेत्यर्थः । (४) धर्मी=शुक्तिः ।

टी० ॥ धर्मांशानुभूतेः प्रमात्वेपि धर्म्यंशविशिष्टांशप्रमानुपग्रहमाह–। [a]"भवितुरि"ति । भविता=धर्मी ॥ ननु तत्त्वपदं स्वरूपे रूढं, तथाच धर्मधर्मितद्गतां(१) सर्वेषां स्वरूपतया तत्त्वपद्वाच्यतया नाव्याप्तिरित्याशङ्कते–। [b]"अथे"ति ॥ स्वरूपत्वस्य स्वात्मनि वृत्त्यभ्युपगमे आत्माश्रयः, अनभ्युपगमे च तत्प्रमानुपग्रह इति प्रत्याचष्टे–। [c]"स्वरूपत्वस्ये"ति । यद्यपि स्वरूपत्वं=प्रमेयत्वं, तच्च केवलान्वयित्वात् स्ववृत्त्यपि, नचात्माश्रयः, प्रमाणतस्तथा प्रतीतेः ; तदुक्तं "प्रमाणं शरणं वृत्तौ न भिन्नाभिन्नते यत(२)"–इति ; तथापि "स्वरूपं प्रमेयमि"तिसहप्रयोगान्न तत् प्रमेयत्वं(३), तत्त्वे वा प्रमाविषयानुभूतिः प्रमेतिपर्यवसाने पुनरात्माश्रयः, आकाशा(४)त्यन्ताभाववत्त्वं च न प्रमेयत्वं, तदविदुषोपि तत्प्रत्ययात् ; न वाऽभिधेयत्वं तत्त्वं, भ्रमेतिव्याप्तेः ; नच वस्तुत्वमेव तथा, तस्याऽर्थक्रियाकारित्वादिलक्षणस्याग्रे प्रत्याख्येयत्वात् ; नच सत्तायोगित्वमेव स्वरूपत्वम्, अभावप्रमानुपग्रहप्रसङ्गादिति भावः ॥

---

(१) प्रतियोगिताऽनुयोगिताऽन्यतरनिरूपकत्वसम्बन्धेन धर्मधर्म्युभयवत्ता तदुभयसम्बन्धस्य ज्ञेया, तथा च धर्मधर्मितत्सम्बन्धानामित्यर्थो निष्पन्नः । (२) यतो भिन्नाभिन्नते = भिन्नत्वाऽभिन्नत्वे, वस्तुनो वृत्तौ = वर्तने, शरणं = नियामके, न, तस्मात्प्रमाणमेव वृत्तौ शरणमित्यर्थः । प्रमाणबलात्स्वस्मिन्नपि स्वभिन्नेपि च स्ववृत्तिताङ्गीकर्तव्यैवेति भावः । (३) तत् = तस्य स्वरूपस्य, (स्वरूपनिष्ठमिति यावत्) प्रमेयत्वं नेत्यर्थः । यद्वाऽस्वरूपत्वं प्रमेयत्वं तदा स्याद्यदि स्वरूपं प्रमेयं स्यात्सहप्रयोगदर्शनाच्च न स्वरूपं प्रमेयमतएव च न तत् = स्वरूपत्वं प्रमेयत्वमपीत्यर्थः । स्वरूपत्वस्य प्रमेयत्वे तु स्वरूपानुभूतिः प्रमेतिलक्षणस्य प्रमाविषयानुभूतिः प्रमेत्यर्थपर्यवसाने आत्माश्रय एवेत्यर्थः । (४) ननु स्वरूपत्वं प्रमेयत्वमेव, तच्च न प्रमाविषयत्वरूपं, किन्तु समनियतत्वादाकाशात्यन्ताभावो वा, ऽभिधेयत्वं वा, वस्तुत्वं वा, सत्तायोगित्वं वा, तत्स्वीकरिष्यते; इति नात्माश्रयो नापि च सहप्रयोगानुपपत्तिः, "प्राप्ते वसन्तसमये काकः काकः पिकः पिकः"-इतिवद्, घटादिशब्दार्थमजानतः शब्दान्तरेण घटः कलश इतिवद्वा तदुपपत्तेरितिविचिकित्सायामाह–आकाशेति । तदविदुषः=आकाशात्यन्ताभावमविदुषः, तत्प्रत्ययात्=स्वरूपत्वाभिन्नप्रमेयत्वप्रत्ययात् ।

सू० [a] *सत्यं, समवायः स्वरूपं, स एव तु शुक्तिव्यक्तौ रजतत्वस्य नास्ति?*–इति चेन्न् [b]नैवम् तत्र नास्तित्वेपि स्वरूपताया अव्यावृत्तेः। नहि गेहे देवदत्तो नास्तीति स्वरूपं न स्यात्। *[c]न स्वरूपमात्रं तत्त्वमुच्यते, किंतुयद्देशकालसंबन्धि यत् स्वरूपं प्रतीतं तस्य तद्देशकालसंबन्धि स्वरूपं तत्त्वमुच्यते?*,–इति नैवम्, [d]देशकालसंबन्धांशे प्रमाया अप्रमात्वापातात्। *तयोः स्वरूपमेव(१) तत्त्वशब्दार्थः?*,–इति चेन्न, तत्त्वपदस्या[e]नेकार्थत्वेन लक्षणाव्यापकतापत्तेः। [f]अथैवं ब्रूषे-* [g]यद्यथाभूतं प्रतीयते तत्तथा परमार्थतो व्यवस्थितं तत्त्वमुच्यते *?। नैतदपि युक्तम्, यद्यथाभूतं प्रतीयते तद्यदि प्रतीतिसमयमपहाय कालान्तरे तथाभूतं स्यात्तदाप्येवं तत्त्वं स्यादेवेति भाविपाकजरागः कुम्भः श्यामतादशायामपि रक्तपित्तिना रक्ततयोपलभ्यमानस्तत्त्वं स्यादिति तद्बुद्धेः प्रमात्वापातः। [h]'यदातदे'तिविशेषणप्रक्षेपणे च कालविशिष्टताप्रतीतेरप्रमात्वापातः। नहि कालवैशिष्ट्ये पि कालान्तरसंबन्धः संभवी।

टी० ॥ ननु शुक्तौ रजतत्वसमवायो न स्वरूपं, तत्राऽविद्यमानत्वादिति शङ्कते–। [a]"सत्यमि"ति ॥ स्वरूपत्वे च तत्र विद्यमानत्वमतन्त्रमित्याह–। [b]"नैवमि"ति ॥ ज्ञानोल्लिखितदेशकालसंबद्धं स्वरूपमिह तत्त्वपदार्थ इति न भ्रमेऽतिव्याप्तिरित्याह–। [c]"न स्वरूपमात्रमि"ति ॥ देशकालयोर्देशकालसंबन्धाभावात् तदंशप्रमानुपग्रहमाह–। [d]"देशे"ति ॥ [e]"अनेकार्थत्वेने"ति। देशस्वरूपं, कालस्वरूपं, देशकालसंबद्धं च स्वरूपं, प्रत्येकं तत्त्वमिति लक्षणाऽननुगमो दोष इत्यर्थः ॥ ज्ञानोल्लिखि-

(१) एवकारेण देशकालसम्बन्धव्यावृत्तिः,–शुद्धं स्वरूपमित्यर्थः।

तत्प्रकारवत्त्वं विषयस्य तत्त्वमित्याशङ्कते-।[f] "अथे"ति ॥ भावि-रक्तरूपस्य घटस्य पूर्वं दोषवशाद् यत्र रक्ततया ज्ञानं तदपि तथा सति प्रमा स्यादित्याह-।[g] "यद्यथाभूतमि"ति ॥ ज्ञानकाले ज्ञानोल्लिखितप्रकारवत्त्वं तत्त्वमित्याशङ्क्याह-।[h] "यदे"ति। काले कालवैशिष्ट्याभावेन तदंशप्रमाऽनुपग्रहापत्तिरिति भावः। यद्यपि पाकरागात् पूर्वं 'घटो रक्त' इति प्रतीतिः प्रमैव, विषयाऽबाधात्; * तत्काले तद्बाध एव*-इति चेन्न, 'इदानीं रक्तः' इत्य-प्रतीतेः; तथापि प्रवृत्त्यनुरोधादनुमितौ वर्तमानकालभानाव-श्यकत्वेनाऽन्यत्रापि तत्कालभानमावश्यकम्। किञ्च, 'अयं रक्तः'-इतिप्रतीतिः स्वविषयवर्तमानत्वविषया, अतीतानाग-ताऽविषयत्वे सति प्रतीतित्वात्, 'घटो स्ती'तिप्रतीतिवदित्य-नुमानाच्च 'रक्तो घटः'--इत्यादौ वर्तमानकालभानमावश्यक-मित्यतिव्याप्तिरेवेति भवः॥

सू० *[a]अन्योपाध्यवच्छिन्नः सोऽन्योपाध्यवच्छिन्नेन संभ-त्स्यति ? *,-इति चेत्, [b]तर्हि दण्ड्यपि देवदत्तः कुण्डलिनं स्वमारोक्ष्यत्येव। * उपाधिभेदेप्युपधेय-स्यैकत्वाऽनिवृत्तेर्नैवम् ? *,-इति चेत्तुल्यम्। [c]एतेन कारणं(१)तत्त्वमिति निरस्तम्, [d]सर्वस्य तथात्वे प्रमि-त्यभावेनात्माश्रयेण च प्रतिक्षण(२)विशिष्टविश्वाव-श्यकारणत्वोपगमे दुरपवादार्थक्रियाकारित्वस्वरूप-

(१) अर्थक्रियां प्रति कारणमित्यर्थः, तथा चार्थक्रियाकारणानु-भूतिः प्रमेति लक्षणस्य फलितोऽर्थः। भ्रमविषयस्याऽर्थक्रियाकारणत्वा-भावेन न तज्ज्ञानेऽतिप्रसङ्गः। अत एव "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"-इति श्रुतिरपि कारणस्यैव मृदादेस्तत्त्वरूपतां कार्य्यस्य च घटादेरतत्त्वरूपतामाह। यद्वा, कारणं,-विषयविधया स्वविषयकज्ञाने कारणमित्यर्थः; भ्रमज्ञाने विषयस्यैवासत्त्वेन ज्ञानकार-णत्वाभावान्नातिप्रसङ्गः। (२) प्रतिक्षणविशिष्टं (=क्षणिकम्) यद्विश्वं तत्प्रतियोगिककारणताया स्तदनुयोगिककारणताया वा वस्तुषूपगमे खेनापवादो यस्या अर्थक्रियायास्तादृश्यार्थक्रियाकारित्वलक्षणं यज्ज-गतः सत्त्वं तदङ्गीकारिणो जैनस्य चरणशरणे प्रवेश एव विडम्बना-वि-

सत्त्वलक्षणाङ्गीकारिजैनचरणशरणप्रवेशविडम्बनापादिदोषग्रासेन चेति ।

---

टी० ननु 'दिनस्य प्रहरो' "रात्रेर्यामो" 'यामवती यामिनी'-त्यादिप्रतीतिदर्शनात् कालेऽपि कालवैशिष्ट्यमिति न तदंशप्रमानुपग्रह इत्याशङ्कते—। [a]"अन्ये"ति ॥ उपाध्यन्तरावच्छिन्नस्य कालस्योपाध्यन्तरावच्छिन्ने काले यदि वृत्तिस्तदा दोषमाह—। [b]"तर्ही"ति । कालोपाध्यन्तरस्य च कालोपाधिवृत्तौ किमायातं कालस्ये(१)ति दोषः ॥ [c]"एतेने"ति । कालप्रमाऽनुपग्रहप्रसङ्गेनेत्यर्थः । कारणत्वस्य नियतप्राक्कालवृत्तित्वरूपत्वात् काले च तदभावादिति भावः ॥ कारणतत्त्वे दोषान्तराण्यप्याह—। [d]"सर्वस्ये"ति । प्रमाणाभावाद्यदेव(२)न कारणं तत्प्रमायामव्याप्तिः, पारिमाण्डल्यादे(३)श्चरमध्वंसादेश्च त्वयैवाऽकारणत्वाभ्युपगमात् तत्प्रमायामव्याप्तेः, कारणत्वे कारणत्वाभ्युपगमे स्वात्माश्रयत्वात्तदंशप्रमायामव्याप्तिः, कार्यं च वस्तूनामन्यत् प्रतिक्षणभावि नास्तीति पूर्वबीजादेरेवोत्तरबीजादिकारणत्वं वाच्यं, तथाच बौद्धमतप्रवेशादपसिद्धान्तरूपविडम्बनापादको दोषः, तद्ग्रासश्चेति(४)दोषा इत्यर्थः । यदि च कारणत्वं कारणतावच्छेदकरूपवत्त्व, तच्च यदाकदाचित्कारणो(५)पधानमात्रमतो नापसिद्धान्त इति, तदा भ्रमातिव्याप्तिः, भ्रमविषयाणामपि कारण-

---

लासत्तमापादयितुं शीलं यस्य दोषस्य तद्ग्रासेन च निरस्तमिति पूर्वेणान्वयः । "विडम्बनापातादिदोषग्रासेन च"—इत्यपि बहुषु पुस्तकेषु पाठः । (१) कालस्य कालाऽवृत्तित्वे किं त्वदुक्तं भवति ? न किञ्चिद्, इति कालप्रमाऽनुपग्रहो दोषस्तदवस्थ एवेत्यर्थः । (२) यदेव—कुसूलस्थबीजादिकमङ्कुरादिकं प्रति न कारणमित्यर्थः । (३) पारिमाण्डल्यम्=अणुपरिमाणम् । आदिपदेन महत्परिमाणस्यापि लाभः । चरमध्वंसः=यदनन्तरं कार्यान्तरं नोत्पत्स्यते तादृशप्रलयकालीनकार्यद्रव्यध्वंसः । आदिपदेनोत्पन्नविनष्टघटादेः सङ्ग्रहः । (४) तद्ग्रासो न पृथग्दूषणं ग्राह्यम् । इति दोषाः, एते चत्वारो दोषाः स्युरित्यर्थः । (५) कारणस्योपधानं=फलसम्बन्धः ।

त्वा(१)त्, कारणांश(२)प्रमानुपग्रहश्च, यदि च तदनुभवकारणत्वमेव तत्त्वं, तदाऽनुमानाद्यसंग्रह(३)इतिभावः । अत्र यद्यपि तत्त्व-मिथ्याज्ञान-विरूपादि(४)शब्दाः पामरादिप्रसिद्धार्था न व्याख्यानमपेक्षन्ते, विवेचयन्ति हि पामरा अपि—इदं तत्त्वमिदमतत्त्वमिदं स्वरूपमिदमस्वरूपमिति तदर्थप्रश्नः प्रष्टुरेव जाड्यमावेदयति, प्रसिद्ध्यनुरोधाच्च धर्मिस्वरूपे विषयतासमानाधिकरणे च धर्मे तत्त्वपदप्रयोगः, विषयताव्यधिकरणो धर्मोऽतत्त्वं; तदेव हि रजतत्त्वं शुक्तावतत्त्वं, 'रजते तत्त्वं, विषयतावैयधिकरण्यसामानाधिकरण्याभ्यां व्यपदिश्यते; "तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वदर्शनाद्(५) अव्यभिचार"—इत्यादौ तत्त्वपदस्याव्युत्पन्नस्यैव दर्शनाद्धर्मिमात्रे समानाधिकरणे(६) च धर्मे तत्त्वपदं रूढमिति तदंशे(७)पि प्रामाण्यमिति 'नातिव्याप्तिर्न वा धर्म्यंशप्रमायामव्याप्तिः, एवं च स्वरूपपदस्यापि तत्रैव प्रयोग, इति न किंचिदनुपपन्नं, तथापि विचारकाणां न प्रसिद्धिमात्रानुरोध इति ॥

(१) ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिजन्यशौक्तकान्ताकरादिदेशस्थरजतज्ञाने विषयविधया रजतस्यापि कारणत्वात् । (२) कारणे कारणोपधानाभावात्कारणांशप्रमाऽनुपग्रह इत्यर्थः । यद्वा कारणे'ति भावप्रधानो निर्देशः, तथा च कारणत्वे कारणतावच्छेदकरूपवत्त्वाभावेन कारणत्वांशप्रमानुपग्रह इति पूर्ववदेव बोद्धव्यम् । (३) अतीतानागताद्यर्थविषयकानुमितौ विषयस्याऽकारणत्वेन तदसङ्ग्रह इत्यर्थः । (४) विगतं रूपं यस्मात्तद्विरूपम् (अस्वरूपमिति यावत्) आदिपदेन स्वरूपस्यापि सङ्ग्रहः, एवं चाग्रे "इदं स्वरूपमिदमस्वरूपमि"त्युक्तं साधु सङ्गच्छते । (५) आचार्येण "तत्त्वानुभूतिः प्रमे"तिलक्षणे प्रतिपादिते, पूर्वपक्षिणा च खण्डनिकोक्तप्रकारेण तत्त्वपदस्य यौगिकार्थत्वमवलम्ब्याऽयथार्थानुभूतौ व्यभिचारे दर्शिते, आचार्य्य आह—"तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वदर्शनाद् (अनेकार्थे रूढत्वदर्शनाद्) अव्यभिचारः" इति, तथा च व्युत्पत्तिसिद्धमर्थमादाय व्यभिचारोक्तिरसङ्गतैवेति भावः । (६) विषयतासमानाधिकरणे इत्यर्थः ।

(७) तदंशे, धर्म्यंशे इत्यर्थः । समुच्चित्त्योभयत्र रूढ्यङ्गीकारस्य फलमाह (तत्रापि प्रथमं विषयतासमानाधिकरणे धर्मे रूढ्यङ्गीकारस्य भ्रमज्ञानेऽतिव्याप्तिपरिहाररूपं फलमाह)—इति नातिव्याप्तिरिति, धर्मिमात्रे रूढ्यङ्गीकारस्य फलमाह—नवेति ।

मू० [a]किं([१])चेदमनुभूतित्वं नाम ?, ज्ञानत्वावान्तरजातिभेदो वा ?-१ स्मृतिव्यतिरिक्तज्ञानत्वं वा ?-२ स्मृतिलक्षणरहितज्ञानत्वं वा ?-३ [b]तदऽविदूरप्राक्कालोत्पत्तिनियताऽसाधारणकारणकबुद्धित्वं वा ?-४ । न तावदाद्यः । तथाहि-अनुभूतित्वं नाम जातिरेकाऽभ्युपगम्येति कुतः ? ।

टी० ॥ अनुभूतिपदस्य स्मृतिव्यावर्तकत्वं तदा स्याद्यद्यनुभूतित्वं स्मृतिव्यावृत्तं स्यात्तदेव तु नास्तीत्याह । [a]"किंचे"ति ॥ [b]"तदविदूरे"ति । तस्य = ज्ञानस्याऽविदूरो ऽव्यवहितो यः प्राक्कालस्तन्नियता यदसाधारणकारणस्योत्पत्तिरित्यर्थः । अनुभवस्य यद् इन्द्रियसन्निकर्ष-लिङ्गज्ञान-शब्दज्ञान-सादृश्यज्ञानादि असाधारणं कारणं तद् अव्यवहितप्राक्कालोत्पत्ति([२]), स्मृतेस्तु चिरोत्पन्न एव संस्कारोऽसाधारणं कारणं, मनःसंयोगस्तु नासाधारणमिति भावः ॥

मू० [a]*'अनुभवामी'तिप्रत्ययानुगमवशाद् ?*-इति चेन्न, [b]माघमासीयनिशावसाने सिताऽसित सरित्संभेदस्नायिनः ([३])सत्यपि शब्दबलाद्भाविस्वकीय([४])स्वर्गसुखसंप्रत्यये 'सुखमनुभवामी'तिप्रतीत्यनुदयात्, [c]प्रत्युत शीतसंभेदसंभूतवेदनासंवेदनादेव; [d]परस्त्वयं

---

(१) { प्रसङ्गादनुभूतित्वं खण्ड्यतेऽत्र प्रघट्टके । जातितोपाधितोऽनुक्तशोऽनेकखण्डनयुक्तिभिः ॥ १४ ॥ }

(२) अव्यवहितप्राक्काले उत्पत्तिर्यस्य तत्तया । (३) सिता श्वेतवर्णा सरिद् गङ्गा, असिता कृष्णवर्णा सरिद् यमुना, तयोर्यः सम्भेदः= सङ्गमः, तत्स्नायिनः ( त्रिवेणीस्नायिन इति यावत् ) । (४) क्वचित् 'स्वकीये'ति पदं न दृश्यते, परस्त्वाग्रे व्याख्यायां "स्वकीयस्वर्गसुखसंप्रत्यये इत्यसङ्गतमि"त्याक्षेपदर्शनादावश्यकं तत् । संप्रत्ययः=अनुमानं, तच्च-अहं भाविस्वर्गसुखवान्भविष्यामि वेदविहितकारित्वादिन्द्रादिवद्व्यतिरेके नारकादिवच्चेति ।

**संभुञ्जानस्याऽसितककामुकस्य शब्दाधीने सत्यपि भाविनरकगमनानुभवनीययातनाधिगमे(१) 'दुःखमनुभवामी'तिमतेरनुत्पत्तेः, प्रत्युता'ऽमन्दमानन्दं संविदन्(२)साम्प्रतमस्मी'तिप्रत्ययात् ।**

टी० स्मृतिभिन्नेषु प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दप्रभवेषु 'अनुभवामी'त्यनुगतमतिसाक्षिकमनुभवत्वमिति शङ्कते–। [a]"अनुभवामी"ति ॥ माघे सिताऽसितस्नानफलत्वेनानुमीयमाने सुखे तदनुमितावनुभवत्वजातिसत्त्वे 'सुखमनुभवामी'त्यनुगतमतेरुदयप्रसङ्गान्नैवमित्याह–। [b]"माघमासीये"ति ॥ शीतदुःखस्यैव साक्षात्कारात्तत्र 'दुःखमनुभवामी'तिवैपरीत्यस्यैव दर्शनादित्याह–। [c]"प्रत्युते"ति ॥ पराङ्गनासङ्गमस्य फलं दुःखमित्यनुमितिरूपानुभवे 'दुःखमनुभवामी'त्यनुगतमतेरभावात् नैवमित्याह–। [d]"परस्त्रियं चे"ति । यद्यपि सितासितस्नायिनः सुखानुभवो नास्त्येव, न वा पराङ्गनां भुञ्जानस्य दुःखानुभवः, किंतु शब्दात् सुखसाधनताऽनुभवः, दुःखसाधनतानुभवश्च, तत्र(३)'सुखमनुभवामि' 'दुःखमनुभवामी'ति वा कथमनुव्यवसायः स्यात्? व्यवसाये प्राधान्येन विषयीक्रियमाणस्यैवानुव्यवसाये ज्ञानविशेषणतयोल्लेखात्; 'सुखसाधनमनुभवामी'ति तु स्यादेव, यदि विषयान्तरसंचारो न स्यात्, तस्य(४)च "प्रत्युते"त्यादिनात्वयैवोपपादनात्; * नचानुभवभान(५)मावश्यकं, * तद्भानेपि तद्गतजातिभानस्यानावश्यकत्वाद्, अन्यथा सन्देहः क्वापि न स्यात्; तवैव वा कथ 'स्वर्गं जानामि' 'नरकं जानामी'ति वा नानुभवः, ज्ञानस्य त्वयाप्यभ्युपगमात्। * भवत्येव तत्र 'स्वर्गं जानामि'? *–इति

(१) अत्रापि पूर्ववदेवाधिगमोऽनुमानम्,तथाहि-अहं भाविनरकगमनानुभवनीययातनाकः, प्रतिषिद्धकारित्वाद्नहुषादिवद्व्यतिरेके इन्द्रादिवद्वेति । (२) अमन्दम्=अनल्पम् ( प्रचुरमिति यावत् ) आनन्दं=सुखं, संविदन्=जानन्नस्मीत्यर्थः ।

(३) तत्र=सुखसाधनत्वानुभवे सति । (४) तस्य=विषयान्तरे बुद्धिसञ्चारस्य । (५) अनुभवत्वजातिपुरस्कारेणानुभवस्य भानमित्यर्थः ।

चेत्तर्हि 'स्वर्गमनुभवामी"ति भवत्येवेत्यवेहि । किंच, तत्रानुव्यवसायसामग्र्यां 'सुखमनुमिनोमी'त्येवानुव्यवसायो, विशेषोल्लेखतिरस्कृतत्वात् सामान्योल्लेखस्य, अन्यथा "गौरि"तिज्ञाने सत्त्व-द्रव्यत्वपृथिवीत्वादीनामनुव्यवसायोल्लेखः स्यात्, एवं(१) चैकोपकारके ग्राह्ये नोपकारा,स्ततोऽपरे दृष्टे तस्मिन्नदृष्टा ये तद्ग्रहे सकलग्रह इत्यप्यापद्येत । *तथाऽप्यनुमित्यादावनुभवत्वे किं प्रमाणम्? *–इति चेत्, वह्न्याद्यनुमित्यादौ कदाचिद्वह्निमनुभवामीत्याद्यनुगतमतिरेव । निर्विकल्पके(२)एवानुभवत्वेनाभ्युपगम्यमाने कथमनुगतमलिभङ्गो न दर्शितः?, किं "माघमासीयनिशावसाने" इत्यादिकादम्बरीगद्येन?, तथापि प्रपञ्चान्तर्गतत्वे नैवानुभवत्वस्य खण्डितत्वादिति हृदयम् ॥

सू० [a]यदि तु शब्दोपदर्शितव्याप्तिजमनुमानमनुभव एव स्यात् तर्हि सुखं दुःखं चानुभवामीति तयोः प्रत्ययः स्यात् । अथ मन्यसे-*साक्षात्कारम[b]नुभवार्थमनुरुद्ध्य तयोर्नैवमधिगमव्यवहारौ, शब्दजानुमानापेक्षौ तु विमर्शकस्य(३)स्यातामेव तौ *–इति,

टी० पूर्वप्रघट्टकेनानुव्यवसायाभावं व्यवस्थाप्य संप्रत्यनुव्यवसायमापादयति–। [a]"यदि त्वि"ति । तथाच नेष्टापत्तिरिति भावः । यद्वा, ननु "स्वर्गकामो माघे सितासिते स्नायादि"तिशब्देन सितासितस्नानं स्वर्गसाधनमितिमात्रं प्रतीतं, स्वसंबन्धिता च तस्याऽऽनुमानिकी; तथाहि–सितासितस्नानं मम भाविस्वर्गजनकं, स्वर्गकामयैतादृशस्नानत्वादित्यनुमितेस्तत्सिद्धेः; तथा च "सत्यपि शब्दबलाद्भाविस्वकीयस्वर्गसुखसंप्रत्यये"–इत्यस-

(१) गौरितिज्ञानेऽविषयाणां सत्त्वादीनामपि भानाङ्गीकारे गौरिति ज्ञानमेवैकमुपकारकं यस्य गोत्वलक्षणग्राह्यस्य तदुपरि न गौरितिज्ञानकृतोपकारसिद्धिः, तथा च तस्मिन्=गोत्वलक्षणे ग्राह्ये दृष्टेऽपि येऽपरेऽदृष्टा घटपटादयस्तेषामपि ग्रहणेन सार्वज्ञ्यप्रसङ्गः स्यादित्यर्थः । एकोपकारके ग्राह्ये नोपकारा इत्यस्य, एकं यदुपकारकं गौरिति ज्ञानं तत्र न ग्राह्योपकारकत्वसिद्धिरिति वाऽर्थः ।

(२) दोषान्तरमप्याह–निर्विकल्पके इति । (३) विमर्शकस्य–

ङ्गमत आह—। "यदि त्वि"ति । यत्र शब्दोपदर्शितपुमभिप्राये(१) या व्याप्तिरिष्टसाधनत्वेन सह, सैव शब्दोपदर्शितव्याप्तिरित्यर्थः॥ b"अनुभवार्थमि"ति । अनुभवशब्दस्यार्थमित्यर्थः । यत्र सुखदुःखे साक्षात्क्रियमाणे तत्रैव तयोरनुभवामीतिप्रत्ययः सर्वसाधारणः, परीक्षकस्य तु तदनुमानयो(२)रपि तादृशः प्रत्यय इष्ट एवेति शङ्कार्थः ॥

मू० aतर्हि साक्षात्कारिणि ज्ञानेऽनुभवप्रत्ययव्यवहारौ साक्षात्त्वनिबन्धनाविति तत्रानुभवत्वजातिकल्पनायां न प्रयोजनप्रमाणे, इत्यनुभूत्यर्थभेदाल्लक्षणाऽननुगमो दोषः । bअथ(३) * स्मृतिव्यावृत्तेन रूपेण यः प्रत्यक्षादिष्वनुभव इत्यनुगतावगमः स साक्षात्कारित्वादनुपपन्नः, ततश्च साक्षात्कार्य्यसाक्षात्कारिविशेषेषु साधारणमनुभूतित्वमन्यदेवैष्टव्यम्*—इत्युच्यते, तदपि न युक्तं, cपदार्थान्तरव्यावृत्तेन रूपेण यस्तदितरेष्वनुगतप्रत्ययस्तद्व्यवहारो वा तत्र तदेव(४)रूपं निमित्तं, नतु जातिः काचित्तदनुरोधात् कल्प्यते, तथा(५) सत्यनक्षपदार्थेभ्यो घटा-

विचारकस्य, तौ=अधिगमव्यवहारौ, स्यातामेवेत्यर्थः । (१) अत्र घटकत्वं विषयत्वं वा सप्तम्यर्थः तथाच पुरुषाभिप्रायघटकीभूता तद्विषयीभूता वा या व्याप्तिरिष्टसाधनत्वरूपेण साध्येन सह स्वर्गकाम्यैतादृशज्ञानत्वलक्षणस्य लिङ्गस्य सैव शब्दोपदर्शितव्याप्तिरित्यर्थो निष्पन्नः ।

(२) तदनुमानयोः=सुखदुःखविषयकानुमानयोः । (३) "अनुभवोऽनुभव"—इत्यनुगतव्यवहारादिकार्य्यलिङ्गेन किञ्चित्कारणमनुमीयते, न तत्साक्षात्कारित्वमननुगमादतश्च साक्षात्कार्य्यसाक्षात्कारिसाधारणमनुगतव्यवहारकारणं कल्पनीयं, सानुभूतित्वजातिरेव परिशेषात्सिद्ध्यतीत्याशङ्कते—अथेति"—इति तु विद्यासागराः । (४) तदेव, इतरव्यावृत्तत्वमेवेत्यर्थः । (५) तथा सति=तत्कल्पने, अनक्षपदार्थेभ्यो घटादिभ्यो व्यावृत्तेनाऽनक्षभिन्नत्वादिना रूपेण पाशविभीतकेन्द्रियादिष्वनुगताऽक्षत्वजातिकल्पनापि प्रसज्येतेत्यर्थः ।

दिभ्यो व्यावृत्तेन रूपेण विभीतकादिषु साम्यावगमादक्षत्वादिजातिकल्पना प्रसज्येत ।

---

[†]इतोपि नानुभूतित्वं नाम स्मृतिव्यावृत्ता जातिः। [d]तथाहि-'घटः स एवायमि'ति तावत्प्रत्यभिज्ञा जायते, सा किं स्मृत्यनुभवरूपं ज्ञानद्वयम्?-१ एकमेव वा विज्ञानमंशे स्मृतिरंशे चानुभवः?-२ उत स्मृतिरेव?-३ आहोस्विदनुभव एव?-४ ।

टी० । [a]"तर्ही"ति । सत्यप्यनुभवत्वे व्यवहारार्थं साक्षात्त्वमवश्यापेक्षणीयं चेत् किमनुभवत्वेन? विमर्शकस्य तु साक्षात्त्वमन्तरेणाप्यनुमानादौ तद्व्यवहाराभ्युपगमेऽननुगम एवेति परिहारार्थः ॥ ननु साक्षात्त्वनिबन्धनमेव ना(१)नुभवामीतिव्यहारं ब्रूमः, किंतु स्मृतिभिन्नेषु ज्ञानेष्वनुभवव्यवहारो न विना जातिमित्याचक्ष्महे; सुखदुःखानुभवयोस्त्वनुभवामीतिव्यवहारः साक्षात्त्वैकार्थसमवायाधीन(२)इत्युक्तमिति शङ्कते-। [b]"अथे"ति॥ तर्हि स्मृतिभिन्नज्ञानत्वमेव तत्रतत्र निमित्तमस्तु किमनुभवत्वेन? अन्यथा पाशविभीतकेन्द्रियादावप्येकमक्षत्वसामान्यमभ्युपगम्येतेत्याह-। [c]"पदार्थान्तरे"ति ॥

---

सङ्करभयादप्यनुभवत्वं न जातिरितिदर्शयितुं प्रत्यभिज्ञानखण्डनमवतारयति-। [d]"तथाही"ति ॥

मू० [a]आद्ये, य एष प्रत्यभिज्ञायां प्रागवस्थाविशिष्टादिदन्ताविशिष्टस्याभेदः प्रकाशते स न स्मृतावन्तर्भावयितुं शक्यः, अननुभूतचरत्वेन संस्कारानु-

---

† प्रत्यभिज्ञात्मके ज्ञाने सङ्कीर्णत्वान्न सम्भवेत् ।
स्मृतित्वं वाऽनुभूतित्वं जातिरेतदथोच्यते ॥ १५ ॥
नृसिंहाकारवच्चैवतत्स्मरणानुभवात्मकम् ।
प्रत्यभिज्ञा नचास्त्येकं ज्ञानमित्यपि चोच्यते ॥१६॥

(१) न ब्रूमः-इति सम्बन्धः । (२) अनुभवत्वेन सह साक्षात्त्वस्य य एकस्मिन्ननुभवलक्षणेऽर्थे समवायस्तदधीन इत्युक्तं न्यायग्रन्थेष्वित्यर्थः ।

पनेयत्वात्(१) । [b]अत एव न तृतीयः । नाप्यनुभवेऽन्तर्भावयितुमसौ शक्यः, प्रत्यभिज्ञानकालेऽनुभवेन प्रागवस्थाया असंवेदनात्; [c]संवेदने वा'ऽनुभव एवे'तिशेषपक्षेऽन्तर्भावः स्यात्, स चाग्रे दूष्यते । [d]अत एव न द्वितीयः । प्रागवस्थाविशिष्टाऽभिन्नत्वांशेऽनुभवत्वस्वीकारश्चेत् प्रागवस्थावैशिष्ट्यमप्यनुभवविषये एव निविष्टमिति चरमपक्षे प्रवेशः । [e]अथ * 'प्रागवस्थाविशिष्टादभिन्नः' इत्ययमर्थोऽप्यनेकांशः, तत्र 'प्रागवस्थाविशिष्टः'-इत्यत्रांशे स्मृतित्वम्, 'अभिन्नः'—इत्यंशे चानुभवत्वम् *,-इत्युच्यते ।

टी० । [a]"आद्ये"इति । तत्तावैशिष्ट्यमात्रे संस्कारसामर्थ्येऽपि तद्विशिष्टाभेदग्रहे(२) तदसामर्थ्यादिन्द्रियस्यापीदन्ताविशिष्टमात्रग्रहसामर्थ्येऽपि(३)प्रतियोगिनस्तत्ताऽविशिष्टस्यानुपस्थितौ 'सोऽयमि'त्युभयाभेदावगाहनं न स्यादित्यर्थः ॥ अतिदेश्य(४)सन्निधानसौकर्यान्मध्ये एव स्मृतिरेवेतितृतीयं पक्षं निरस्यति—। [b]"अत एवे"ति । अभेदांशज्ञानस्य स्मृतावन्तर्भावयितुमशक्यत्वादेवेत्यर्थः ॥ [c]"संवेदने वे"ति । यदि तत्तेदन्ताविशिष्टस्यानुभवविषयत्वं, तदा 'अनुभव एवे'तिचतुर्थपक्षप्रवेश एवेत्यर्थः ॥ नरसिंहाकारं प्रत्यभिज्ञानमितिप्राभाकरमतं निरस्यति—। [d]"अत एवे"ति । स्मृत्यंशानुभवांशाभ्यामभेदस्याऽसंस्पर्शादेवेत्यर्थः ॥ अभिन्नत्वमिदन्ताविशिष्टत्वं च द्वयमेवानुभवविषयो नतु प्राग-

---

(१) संस्कारानुपनेयत्वात्, संस्काराविषयत्वादित्यर्थः । (२) तद्विशिष्टाभेदग्रहे=तत्तावैशिष्ट्यविशिष्टेन सहेदन्ताविशिष्टस्याभेदग्रहे ।

(३) अत्र "ततः"-इति पदमध्याहृत्य ततोऽनुपस्थिताविति सम्बन्धः । प्रतियोगिनः=तत्ताविशिष्टस्येदन्ताविशिष्टेन योऽभेदस्तत्प्रतियोगिन इत्यर्थः । (४) अभेदांशज्ञानस्य स्मृतावन्तर्भावयितुमशक्यत्वलक्षणं यद्दूषणमतिदेश्यं, तत्सन्निधानस्य=तत्प्रतिपादनस्य, सुकरत्वादित्यर्थः ।

वस्थाविशिष्टत्वमपीति नानुभवमात्रं प्रत्यभिज्ञेति शङ्कते-। [e]"अथे"ति ॥

मू० [a]एवं तर्हि प्रागवस्थाविशिष्टः स(१), इदन्त विशिष्टो, ऽभिन्नश्चायम,-इति स्मृत्यनुभूतिभ्यामावेदितं भवति, [b]प्रागवस्थाविशिष्टाश्रयतया त्वभेदः केनापि न प्रकाशित इति 'य एव प्रागवस्थाविशिष्टः, स एवायम्'-इति प्रत्यभिज्ञायाः शरीरं न स्यात्। * [c]अथानुभवेन योऽसावनुभूयमानधर्म्याश्रयतयाऽभेदो बोधितः स कोट्यन्तर(२)मनालम्ब्य न पर्य्यवस्यतीति(३) केनचित्खलु कस्यचिदभेदो भवति, ततः स्मृत्यंशोपनीतमेव सन्निधानात् कोट्यन्तरं प्रागवस्थाविशिष्टरूपमालम्बते, इत्यभेदस्य प्रागवस्थाविशिष्टाश्रयतया सिद्धिरिति *। तदेतत्तुच्छतरम्। [d]कोट्यन्तरमालम्बते इति किं कोट्यन्तराश्रितो भवति? (४), उत कोट्यन्तराश्रिततया ज्ञायते इति?। नाद्यः। अभेदस्येदानीं प्रागवस्थाविशिष्टधर्म्याश्रयेणोत्पत्तौ पूर्वं प्रागवस्थाविशिष्टेदन्ताविशिष्टयोर्भेदः स्यात्। द्वितीये तु यदेव कोट्यन्तराश्रिततया इदन्तावच्छिन्नधर्म्यभेदस्य ज्ञानं तत् स्मृतौ नान्तर्भावयितुं शक्यं, नाप्यनुभवांशे, इत्युक्त एव दोषः।

टी० ॥ विशकलितमेव प्रत्यभिज्ञानं स्यादिति परिहरति-। [a]"एवमि"ति ॥ तदेव विशदयति-। [b]"प्रागवस्थे"ति ॥ इदन्ता-

(१) स इति प्रागवस्थाविशिष्टोऽयमितीदन्ताविशिष्टोऽभिन्नश्चेति स्मृत्यनुभूतिभ्यामावेदितं भवतीत्यन्वयः। (२) कोट्यन्तरम्=तत्ताविशिष्टं प्रतियोगिनम्। (३) इतिशब्दो यस्मादित्यर्थे, यस्मात् केनचित्कस्यचिदभेदः=किञ्चिदनुयोगिकः किञ्चित्प्रतियोगिकोऽभेद इत्यर्थः।
(४) कोट्यन्तराश्रितो भवति = कोट्यन्तराश्रिततयोत्पद्यते।

विशिष्टधर्मिण्यभेदोऽनुभूयमानः स्मर्यमाणतत्ताविशिष्टधर्म्मिप्रतियोगिक एव पर्यवस्यतीति न प्रत्यभिज्ञाया विशकलितत्वं, न वाऽनुभवमात्रत्वमिति शङ्कते-। [c]"अथे"ति ॥ प्रत्यभिज्ञानकाले तत्तेदन्ताविशिष्टाऽभेदपर्य्यवसानाभिधानं पूर्वं तयोर्भेदमाक्षिपतीति तत्तुच्छमेव; अथ, प्रत्यभिज्ञाकाले तयोरभेदो भासत एवेत्युच्यते, तत्र स्मृत्यंशानुभवांशाभ्यां प्रत्येकं तज्ज्ञानमनुपपन्नमेवेत्युक्तमिति परिहरति-। [d]"कोऽस्यन्तरे"ति ॥

सू० [a]किंच, यदा च प्रभिज्ञानं "स" इत्यंशे स्मृतिः, "अयम्" इत्यंशे चानुभव, इत्येकं ज्ञानमभ्युपेयते तदा धर्मिणमादायापि स्मृत्यनुभवसङ्करो दुर्वारः । तथाहि-संस्कारेण तत्तामात्रं चो[1]पनीयते ? तत्ताविशिष्टो वा धर्मी ? । आद्ये "स"-इति प्रत्यभिज्ञायाः शरीरं न स्यात्, तत्तायाः केवलायाः संस्कारेणोपनीतत्वात् । नापि द्वितीयः । तथा सति 'अयमि'-त्यनुभवांशेपि धर्मिप्रकाशो वक्तव्य एव, अन्यथा इदन्तामात्रप्रकाशे "ऽय[2]मि"ति तच्छरीरं न स्यात्, एवं च संस्कारस्य चेन्द्रियस्य च धर्म्मिप्रतीतिहेतोरुभयस्योपनिपाते किं विशेष्यांशे भिन्नाभ्यां ज्ञानाभ्यामुत्पत्तव्यम् ? उत कारणद्वयसम्भेदादभेदमात्रभाजा ज्ञानेन ? । प्रथमे प्रत्यभिज्ञानस्यैकज्ञानव्यक्तिताभ्युपगमव्याघातः, [b]भेदपक्षोक्तदूषणापातश्च । द्वितीये धर्म्यंशे प्रत्यभिज्ञायां स्मृतित्वमप्यनुभवत्वमपीत्यनुभूतिस्मरणसङ्कर इति विषयव्यवस्थयापि नियमो भग्नः ।

(१) चकारो वाकारार्थे । (२) अयमित्येवंरूपेणेदन्ताविशिष्टतया धर्मिण उपस्थितिर्न स्यादित्यर्थः ।

टी० नरसिंहाकारं प्रत्यभिज्ञानमित्यत्र दोषान्तरमाह—। a"किंचे"ति । प्रत्यभिज्ञायां स्मृतित्वानुभूतित्वयोर्विषयांशावच्छेदभेदेन वृत्तिर्वाच्या, तत्र तत्तेदन्तयोर्विषययोरसाङ्कर्येण कपिसंयोगं(१)प्रति शाखामूलयोरिवावच्छेदकत्वमस्तु, तदुभयविशिष्टस्तु धर्मी द्वाभ्यां स्मृत्यंशानुभवांशाभ्यां विषयीकर्त्तव्य, इति (२)द्वयमप्यवच्छिन्द्यादिति धर्मिविषयतया स्मृतित्वानुभूतित्वसङ्करो दुर्वारः स्यादित्यर्थः । संयोग(३)प्रतिबन्दी तु न भवति, तस्यापि खण्ड्यमानत्वादिति भावः ॥ b"भेदपक्षोक्तदूषणापात"इति । अभेदस्योभयोरेकेना(४)प्यविषयीकरणम्—इति दूषणमित्यर्थः ॥

सू० aअथोच्यते* मा भूद्विषयोपाधिभेदाद्व्यवस्थानमुपाध्यन्तरात्तु भविष्यति, तद्यथा ;-संस्कारजत्वमादाय स्मृतित्वव्यवस्थितिरिन्द्रियसन्निकर्षजत्वमादाय चानुभवत्वव्यवस्थानम्, इति विरोधपरिहारोस्तु * । bन । प्रमात्वसामान्यानङ्गीकारे प्रमारूपताया विषय(५)व्यवस्थित्यैवोपगमेनोपाध्यन्तरोपन्यासेपि स्मृतित्वानुभूतित्वयोरेकस्मिन्नेव धर्मिण्यर्थे निवेशात् प्रमात्वाप्रमात्वयोरेकविषयतैव(६) । cकिंच, ज्ञानविकल्पानामध्यात्मं भावाभावसंवेदनात् स्मृतित्वानु-

(१) कपिसंयोगतदभावौ प्रतीति तु परमार्थः । (२) इतिहेतोः स धर्मी द्वयम् = स्मृतित्वमनुभूतित्वं च, अवच्छिन्द्यात् = स्वनिष्ठावच्छेद्यतानिरूपितावच्छेदकत्वेन संपादयेदित्यर्थः (स्मृतित्वाऽनुभूतित्वोभयावच्छिन्नो भवेदिति यावत्) तथाचैकधर्म्यवच्छेदेन सङ्कर एवेति भावः । (३) नन्वेवं संयोगतदभावयोरप्येको वृक्षलक्षणो धर्मी संयोगतदभावाभ्यामवच्छिन्द्यात्तथा च संयोगतदभावयोरपि मिथः साङ्कर्यं,-संयोगवति । प्रदेशे तदभावोऽभाववति प्रदेशे च संयोग इति स्यादृ इत्यत आह—संयोगेति । तस्यापि = संयोगस्यापि । (४) उभयोः स्मृत्यनुभवयोर्मध्ये एकतरेणापि (स्मृत्या, अनुभवेन वा) इत्यर्थः । (५) विषयव्यवस्थितया=विषयतयात्वातयात्वव्यवस्थया, उपाध्यन्तरोपन्यासे = इन्द्रियजत्वसंस्कारजत्वरूपोपाध्युपन्यासे । (६) "प्रसज्येत"—इति शेषः ।

भूतित्वयोर्द्वयोरपि प्रत्यभिज्ञायां स्वतःप्रतिभासेन विषय(१)निरूपणव्यवस्थित्यनङ्गीकारे स्मृतित्वादेरिदन्तायामपि स्मृत्यवगमप्रसङ्गात् ।

टी० ॥ ननु स्मृतित्वानुभूतित्वयोरेकज्ञानसमावेशेपि संस्कारजत्वेन्द्रियजत्वाभ्यामवच्छेदकाभ्यामविरोधो भविष्यतीत्याह—। [a]"अथोच्यते" इति ॥ [b]"न । प्रमात्वे"ति । साक्षात्त्वादिना परापरभावानुपपत्त्या(२)प्रमात्वाप्रमात्वे न जाती, किं तर्हि ? विषयतथात्वातथात्वनिबन्धनावुपाधी, तद्यदि स्मृतित्वानुभूतित्वयोर्विषयावच्छेदभेदेन वृत्तिर्न स्यात्तदा तयोः प्रमात्वाप्रमात्वयोरपि तथा(३) न स्याद्, इत्येकस्मिन्नेव विषये तज्ज्ञानं प्रमा चाऽप्रमा च स्यात्; नहि स्मृतिश्च नाऽप्रमा, यथार्थानुभवश्च न प्रमेत्यर्थः ॥ [c]"किंचे"ति । ज्ञानविकल्पानां=ज्ञानवैचित्र्याणाम्, अध्यात्मम्=आत्मन्यधिकरणे, भावाभावसंवेदनात्=सदसत्त्वसंवेदनात्, मानसेन प्रत्यक्षेण समुत्पन्नमात्रे प्रत्यभिज्ञाने विषयव्यवस्थामनपेक्ष्यैव तत्तेदन्तासामानाधिकरण्येन स्मृतित्वानुभूतित्वयोर्ग्रहणप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥

सू० [a]यदि च संस्कारजत्वमेव स्मृतित्वं, तदा तस्यैव विरोधे(४)ऽभिधीयमाने स एव विरोधसामञ्जस्यायोपाधिरुपन्यस्यते-इति नान्यस्य चेतसि निविशते(५)। [b]अथा*ऽन्यत्स्मृतित्वं नाम*, तदाप्यनुपपत्तिः ।

(१) विषयेण निरूप्यते यासा विषयनिरूपणी, (विषयाधीनेति यावत्,) सा चासौ व्यवस्थितिश्चेति तथा, तदनङ्गीकारे इत्यर्थः । स्मृतित्वादेरित्यस्य पूर्वत्रैवान्वयः, स्मृतित्वादेर्विषयनिरूपणव्यवस्थित्यनङ्गीकारे-इति । इदन्तायामपि स्मृत्यवगमप्रसङ्गात्, इदन्तायां स्मृत्या, तत्तायां चानुभवेन ज्ञानप्रसङ्गादित्यर्थः । (२) यदि साक्षात्त्वपेक्षया प्रमात्वं परं, तदा साक्षात्कारिणि भ्रमेपि प्रमात्वप्रसङ्गः; अथ प्रमात्वापेक्षया साक्षात्त्वं परं, तदा प्रमात्मकपरोक्षानुमित्यादावपि साक्षात्त्वप्रसङ्ग इति साक्षात्त्वेन प्रमात्वस्य परापरभावानुपपत्तिर्द्रष्टव्या ।
(३) तथा=अवच्छेदकभेदेन वृत्तिः । (४) विरोधे=साङ्कर्ये । विरोधसामञ्जस्याय = साङ्कर्यरूपदोषपरिहाराय । (५) 'आत्माश्रयादि'तिशेषः ।

[c]तथाहि-संस्कारजत्वं = संस्कारादनन्तरं नियमेन भावः, नियतत्वं च नानाव्यक्तिगतमेकं रूपं ग्राहकमक्रोडीकृत्या(१)संभवीति स्मृतित्वेनैव संस्कारजत्वं वक्तव्यं, तथाच संस्कारजत्वव्यवस्थितौ स्मृतित्वमुपाधिः, स्मृतित्वव्यवस्थितौ संस्कारजत्वम्,-इत्यन्योन्याश्रयः। [d]तस्मात् स्मृत्यनुभवसङ्करो दुर्वार एव।

[e]अपिच, स्मृत्यनुभवयोर्ये कारणसामग्र्यौ, ते प्रत्यभिज्ञायां मन्तव्ये ? न वा ?। न चेत्कथमंशतोपि स्मृतित्वमनुभवत्वं च प्रत्यभिज्ञानस्य ?। एवमेव(२) तथात्वेऽतिप्रसङ्गात्-स्मृत्यनुभूत्योः [f]स एव सङ्करः। प्रथमे तु पृथगेव कार्य्योत्पत्तिप्रसङ्गः, प्रत्येकं स्वस्वकार्ये समर्थत्वात् सामग्रीभेदस्य कार्यभेदहेतुत्वेनावधारितत्वात्।

टी० ॥ ननु स्मृतित्वं न संस्कारजन्यत्वादन्यत्, तथाच संस्कारातीन्द्रियत्वे तदप्यतीन्द्रियमेवेति न तत्तेदन्तासाधारण्येन स्मृतित्वानुभूतित्वयोर्ग्रहणप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह-। [a]"यदि चे"ति। प्रत्यभिज्ञायां केनावच्छेदेन संस्कारजत्वं ?, केन चेन्द्रियजत्वम् ?,-इत्येव विचार्यते, तत्र च संस्कारजत्वावच्छेदेन संस्कारजत्वं व्यवस्थापयितुमशक्यमित्यर्थः ॥ ननु स्मृतित्वं जातिर्वा, स्मृतोल्लेखि ज्ञानत्वमुपाधिर्वा, तदवच्छेदेन संस्कारजत्वं स्यादित्याह-। [b]"अथे"ति ॥ स्मृतित्वावच्छेदेन संस्कारजत्वं, तदवच्छेदेन प्रत्यभिज्ञायां स्मृतित्वम्,-इत्यन्योन्याश्रयमाह-। [c]"तथाही"ति ॥ [d]"तस्मादि"ति। तत्तांशेऽनुभवत्वमिदन्तांशेपि स्मृतित्वमिति कुतो नरसिंहाकारत्वमित्यर्थः ॥ सामग्रीभेदेन

(१) अक्रोडीकृत्य = अविषयीकृत्य। (२) एवमेव = संस्कारजत्वादिकमन्तरैव, तथात्वे = स्मृतित्वाद्यङ्गीकारे, ऽतिप्रसङ्गात् = स्मृतावनुभूतित्वस्याऽनुभूतौ च स्मृतित्वस्य साङ्कर्य्यप्रसङ्गादित्यर्थः।

कार्यभेदमाह–। [e]"अपिचे"ति ॥ [f]"स एवे"ति । सामस्त्येनैव प्रत्यभिज्ञायां स्मृतित्वानुभवत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥

सू० [a]अथ* यत्र(१)ते पृथग्जायेते तत्र पृथगेव कार्य्यं, प्रत्यभिज्ञायां तु तयोर्युगपज्जातत्वेन सम्भूय जननात् करम्बितकार्य्योत्पत्तिः । [b]यद्यपि घटपटादिसामग्र्योर्नैवं दृश्यते तथापि तद्विलक्षणस्वभावत्वाद् [c]अनयोरीदृशत्वमुपपद्यते; [d]नहि एकस्य(२), यादृक्, पदार्थस्य स्वभावस्तादृगऽन्यस्यापि सर्वस्य भवति, जगद्वैचित्र्यभङ्गप्रसङ्गाद् *–इति । नैतदस्ति । [e]यत्र हि मिलितत्वं तयोस्तत्र किं परस्परसहकारित्वमनयोरेष्टव्यं ? न वा ? । न चेत्, परस्परमेलनलक्षणो विशेषोऽनुपयोगी कार्यजननं प्रति, मिथः सहकारिभावविरहेणाऽप्रयोजकत्वात्; ततश्चाविशेषात्पृथगेव कार्य्यं प्रसज्येत । अथ परस्परसहकारित्वं तयोरिष्यते, तदाऽनुभवांशेपि संस्कारस्य व्यापारः, स्मरणांशेप्यक्षस्य, इति नियामकत्वाभिमतयोस्तयोरुभयांशे साधारण्यात् स्मृत्यंशेप्यनुभूतिरनुभूत्यंशेपि स्मरणमिति सुवज्रलेपायितं प्रत्यभिज्ञाया(३)मनुभूतित्वस्मृतित्वसङ्करेणेति । [f]नाप्यनुभव एवेतिपक्षः । [g]तथा सति तत्तावच्छिन्नस्याभेदाश्रयतायां न संस्कारो, नेन्द्रियसन्निकर्षश्चेति तदविषयत्वापातः ।

---

(१) यत्र ते=कारणसामग्र्यौ पृथग्=अन्योन्यनिरपेक्षतया जायेते=उत्पद्येते तत्र पृथगेव कार्य्यं जनयतः, प्रत्यभिज्ञायां पुनस्तयोस्संस्कारसंप्रयोगयोः संभूयान्योन्यसापेक्षतया जननात्=कार्य्योत्पादकत्वात्करम्बितस्य=मिलितस्यैव कार्य्यस्य स्मृत्यनुभवोभयरूपस्योत्पत्तिरित्यर्थः । (२) एकस्य पदार्थस्य यादृक्स्वभाव इत्यन्वयः ।

(३) प्रत्यभिज्ञायाम्=प्रत्यभिज्ञैकदेशयोः स्मृत्यनुभूत्योः ।

टी० ॥ सामग्रीद्वयसमाजादेकमेव कार्यमित्याह—। [a]"अ-थे"ति ॥ अन्यत्रापि तथाप्रसङ्गं वारयति—। [b]"यद्यपी"ति ॥ [c]"अनयोरि"ति । स्मृत्यनुभवसामग्र्योरित्यर्थः। ईदृशत्वम्=एक-कार्य्यजनकत्वम् ॥ ननु कथमेवमित्यत आह—। [d]"नही"ति ॥ परस्परनिरपेक्षयोः सामग्र्योः समाजे कार्यभेदः, सापेक्षयोः समाजे कार्य्यावैचित्र्यं, वैचित्र्ये वा सामग्र्य(१)प्रत्यभिज्ञानं स्मृत्या-कारमनुभवाकारं च भवेदित्याह—। [e]"यत्र ही"ति ॥ नैयायि-कमतमास्कन्दति—। [f]"नापी"ति ॥ [g]"तथा सती"ति । संस्का-रेन्द्रियाभ्यां मिलित्वा प्रत्यभिज्ञालक्षणोऽनुभवो जन्यते, तत्र तत्तावैशिष्ट्यांशे संस्कार, इदन्तावैशिष्ठ्यांशे चेन्द्रियमस्तु कारणं, तत्ताविशिष्टोपरक्ताभेदांशे नैकस्यापि सामर्थ्यं, संस्कारस्य तद्गोचरत्वादिन्द्रियस्य च तेन सममसन्निकर्षादित्यर्थः । अभेदो हि नात्र स्वरूपमात्रं, किं नाम तत्ताविशिष्टप्रतियोगिकान्योन्या-भावात्यन्ताभाववत्त्वं, तच्च प्रतियोगिघटितमूर्तित्वेन तदसन्नि-कर्षा(२)दसन्निकृष्टमेवेति भावः ॥

सू० * [a]नच संस्कारद्वारा प्रत्यासत्त्या संबद्धविशेषणतया तद्ग्रहः * । क्वचित् 'सोऽयं नवे'ति [b]तर्हि संशयो न स्यात् ।* [c]दोषवशात्तत्र तत्प्रकाशो, न संबद्धविशेष-णत्वाद् ? *-इति चेत्, [d]विनापि संस्कारं दोषवशा-त्तदापत्तेः(३)। [e]वस्तुप्रकाशिनि च दोषवाचोयुक्त्य-निरुक्तेः । [f]क्वापि तस्याऽवस्तुप्रकाशित्वाद्दोषत्वे कथमक्षादेरपि तन्न स्यात्। [g]विशिष्टत्वेन तयात्वस्य प्रकृतेप्यपरिहारः ।

(१) सामग्र्यं = सामग्रीनिष्पाद्यं समस्तमपि प्रत्यभिज्ञानमित्यर्थः; "सम-ग्रमि"ति पाठे तु राजमार्ग एव समस्तमितिपदान्तरस्य तत्राऽकल्पनात्। यद्वा समग्रमेव सामग्र्यमिति स्वार्थे ष्यञ् । (२) तदसन्निकर्षात् = तेन प्रतियोगिना सममिन्द्रियस्याऽसन्निकर्षात् ।
(३) तदापत्तेः = संशयापत्तेः ।

टी० ॥ नन्विन्द्रियेणैव संयुक्तसंयुक्तसमवेतविशेषणविशेष्यतया प्रत्यासत्त्या तदुपरक्ताभेदश्च भासतां, तथाहि–इन्द्रियसंयुक्तं मनः, तत्संयुक्त आत्मा, तत्समवेतः संस्कारस्त,द्विशेषणं च घटः, तद्विशेषणं च तत्ताविशिष्टाभेद,–इतिशङ्कां निरस्यति–। [a]"नचे"ति ॥ अनया प्रत्यासत्त्या सर्वत्र तत्तोपरक्ताभेदस्य प्रमैव स्यान्न तु संशय इत्याह–। [b]"तर्ही"ति । पूर्वानुभूते प्रत्यासत्तेः सत्त्वान्निश्चय एव स्यादननुभूते तत्तोल्लेखानुपपत्तेरित्यर्थः ॥ ननु दोषमाहात्म्यात्संशय एवोत्पद्यते, न निश्चयः,–इत्याह–। [c]"दोषे"ति ॥ संस्कारनिरपेक्षस्य दोषस्य तथासंशयकारणत्वेऽतिप्रसङ्ग–इत्याह–। [d]"विनापी"ति ॥ दोषान्तरमाह–। [e]"वस्त्वि"ति । 'सोयं नवे'तितत्तेदन्ताविशिष्टाभेदस्य वस्तुनो भानात् कथं दोषस्तत्कारणं स्यादित्यर्थः ॥ ननु प्रकृतेन दोषेण यदि वस्तु प्रकाशितमेतावतैव कथमस्याऽदोषत्वं, यावता तेन पित्तादिना दोषेण 'पीतः शङ्खः'–इत्यादाववस्त्वपि प्रकाशितं, प्रकृतसंशयस्यैव वा कोस्यन्तरमवस्त्वेवेत्याशङ्काह–। [f]"क्वापी"ति । क्वाचित्काऽवस्तुप्रकाशाधीनं यदि दोषत्वं तदेन्द्रियशब्दलिङ्गादीनामपि दोषत्वं भवेदित्यर्थः ॥ ननु पित्तादिविशिष्टस्येन्द्रियादेर्दोषत्वं, नतु केवलस्य, तथाच नागृहीतविशेषणा(१) न्यायेन पित्तादिकमेव दोषो, नत्विन्द्रियादिकमपीत्याशङ्काह–। [g]"विशिष्टत्वेने"ति । एवं सतीन्द्रियादिविशिष्टस्यैव पित्तादेरपि भ्रमजनकत्वेन दोषत्वमिति नागृहीतविशेषणान्यायादिन्द्रियादेरेव दोषत्वमायातं, नतु पित्तादेरित्यर्थः । तथात्वस्य=दोषत्वस्य, प्रकृतेपि–इन्द्रियादावपीत्यर्थः ॥

सू० [a]नहि विनैव कुतोपि विशेषादस्याऽवस्तुप्रकाशिता, [b]सत्यप्यर्थे दोषादवस्तुन एव प्रकाशे संशयात्प्रेक्षा-

(१) "नाऽगृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्यमुपसङ्क्रामति"–इतिन्यायेनेत्यर्थः ।

वत्प्रवृत्त्यादेरसम्भवापत्तेः । [c]*वस्तुविषयत्वेपि दोषादनिश्चयता ? *-इति चेन्न । [d]वस्तुतस्तस्या(१)सङ्कीर्णत्वात्तस्य प्रकाशे तदेव संशयैककोटौ प्रकाशितमिति कुतस्तदनिश्चयता । [e]निश्चयार्थस्य च संशयकोटावखण्डने संशये तदभावाधिकग्राहित्वेपि निश्चयत्वस्याप्रत्यूहत्वादेव, अभावनिश्चयः कोट्यन्तरं केवलमधिकं स्यात् ।

टी० ॥ ननु भवेदेवं यदि पित्तादिकमिन्द्रियादिसाहित्येनैव भ्रमं जनयेदित्यत आह-। [a]"नही"ति । अस्य=पित्तादेर्दोषस्य, कुतोपि विशेषादिन्द्रियादेर्विना नावस्तुप्रकाशकत्वमित्यर्थः ॥ ननु संशये विपर्यये वा धर्मी वस्तुभूतोऽस्तु, तथापि ताभ्यां(२)न स प्रकाश्यते, किंत्वलीकमेव किंचित्प्रकाश्यते, तथाचावस्तुभानात्तत्प्रकाशकयोस्तयो(३)र्जनकः स कथं न दोषः स्यादित्याशङ्क्याह-। [b]"सत्यप्यर्थे" इति । वस्तुमात्रं संशयस्य विषय-इतिजानतां प्रेक्षावतां क्वचिदपि संशयात् प्रवृत्तिनिवृत्ती न स्यातामित्यर्थः । यद्वा, वस्तुनो=धर्मिणोऽप्यभाने कुत्र संशयः प्रवर्तयेदित्यर्थः ॥ ननु प्रवृत्त्यनुरोधात्संशयस्यास्तु वस्तुविषयता, यत्पुनरयमनिश्चयाकारस्तत्र दोष एव तन्त्रं, तथाच निश्चयप्रतिबन्धकत्वमेव दोषत्वमित्याह ।- [c]"'वस्तुविषयत्वेपी"ति ॥ धर्मी तावन्न सङ्कीर्णः=न स्थाणुपुरुषोभयात्मा, किंत्वेकरूप एव, तथाच वस्तुतो यद्रूपो धर्मी तत्र संशयो निश्चयरूप एवेति क्वायमनिश्चयो येन निश्चयप्रतिबन्धकतया तज्जनको दोषः स्यादित्याह-। [d]"'वस्तुत" इति ॥ ननु भवेदेवं निश्चयो यदि पुरुषे धर्मिणि पुरुषत्वमात्रमुल्लिखेदपितु स्थाणुत्वं पुरुषत्वाभावं वाऽवास्तवमधिकमुल्लिखन्न निश्चय इत्यत आह-।

(१) तस्य = धर्मिणः । (२) ताभ्याम् = संशयविपर्य्ययाभ्याम् ।
(३) "अवस्तुमात्रप्रकाशकयोस्तयो"रित्यपि पाठः ।

[e]"निश्चयार्थस्ये"ति । निश्चयस्य योऽर्थो विषयः—पुरुषत्वविशिष्टो धर्मी, स चेद्बाधकप्रत्ययेनाखण्डितस्तदा तत्र नायमनिश्चयोऽधिकं तु यद्भासते तत्राप्ययं विपर्ययरूपो निश्चय एवेत्यर्थः ॥

सू० [a]*जातिः संशयत्वं, तत्प्रयोजकश्च दोषः ? *—इति चेद्, [b]'इदं तद्वा न वे'तिसंशयकोट्यर्थनिर्देशसमन्वयेन वाशब्दप्रतीतिव्यवहारयोरभावापत्तेः । [c]प्रतीत्या सह वाकारार्थसंबन्धे, 'प्रत्येमि न वे'तितदापत्तेः । [d]वाकारार्थस्य प्रतीतिगतत्वेपि निश्चयत्ववत्(१) 'स्थाणुमानय पुरुषं वे'तिस्थाणुपुरुषगतपाक्षिकलोकव्यवहारानुपपत्तेः । [e]तस्माद् वाकारार्थस्य ज्ञानधर्मत्वे साक्षात्कारित्वादिवद्विषयानन्वयापत्तिरेवेति ।

टी० ॥ नन्वेककोटिकनिश्चयाद्विरुद्धोभयकोटिकनिश्चयोप्ययं विजातीय एवाभ्युपगन्तव्यः, तथाच संशयत्वमेव तत्र जातिरिति, तदवच्छिन्नज्ञानासाधारणकारणं दोष इत्याह—। [a]"जातिरि"ति ॥ संशयकोट्योरर्थौ स्थाणुत्वपुरुषत्वे, तयोर्निर्देशः(२)= स्थाणुशब्दः पुरुषशब्दश्च, तत्समन्वित(३)एव वाशब्दः प्रतीयते व्यवह्रियते च, तेन स्थाणुत्वपुरुषत्वयोरेवाऽव्यवस्थितत्वं वाशब्दार्थः, तथाच विषयवैलक्षण्यकृतमेव निश्चयात् संशयस्य वैलक्षण्यं, नतु जातिकृतमित्याह—। [b]"इदं तद्वे"ति ॥ ननु प्रतीतिगतमेवाऽव्यवस्थितत्वं वाशब्दार्थो, नतु विषयाव्यवस्थितत्वं वाशब्दार्थ(४)इत्यत आह—। [c]"प्रतीत्ये"ति ॥ अत्रैव दोषान्तर-

(१) यथा निश्चयत्वस्य ज्ञानधर्मत्वेनार्थनिर्देशकशब्देन समन्वयो नास्ति तथा वाकारार्थस्याऽव्यवस्थितत्वस्य ज्ञानधर्मत्वे स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यर्थगतत्वेन प्रतीतिर्न स्यादिति भावः । "निश्चयवदि"ति त्वपपाठः ।

(२) निर्दिश्यतेऽर्थोऽनेनेतिव्युत्पत्त्या निर्देशपदस्य निर्देशकशब्दपरतामाह—निर्देश इति । (३) समन्वयः = सामानाधिकरण्यम्, तथाच तत्समानाधिकृत इत्यर्थः ।

(४) "वाशब्दार्थः"—इत्ययं प्रायः पुस्तकान्तरेषु पाठो नोपलभ्यते ।

माह-। [d]"वाकारार्थस्ये"ति । संशयाद्विषये पाक्षिको व्यवहार इति वाकारार्थः । पाक्षिकत्वम्(=अव्यवस्थितत्वं) विषयगतं, नतु ज्ञानगतमित्यर्थः ॥ [e]"तस्मादि"ति । यद्यव्यवस्थितत्वं (वाकारार्थः) संशयगतं स्यात्तदा यथा विषये साक्षात्त्वं नानुभूयते तथा संशयविषयेप्यव्यवस्थितत्वं नानुभूयेतेत्यर्थः ॥

यद्यपि ज्ञानगतेनापि ज्ञानत्वानुभवत्वसाक्षात्त्वादिना ज्ञातो,ऽनुभूतः, साक्षात्कृत, इति विषयोप्युपरक्तो गृह्यते, इति तद्वदेव संशयगतेनापि वाकारार्थेन विषयानुरञ्जनमस्तु, तथापि 'साक्षात्कृत' इति यथा तद्विषये सर्वत्र तदुपरागस्तथा धर्म्यंशेपि वाशब्दार्थोपधानमिह स्यादिति भावः । अत्र प्रसङ्गतो दोषखण्डनं, संशयखण्डनं, वाकारार्थखण्डनं च कृतं; तत्र यद्यपि प्रमाऽप्रमयोर्वैलक्षण्यदर्शनात्कार्य्यवैलक्षण्यस्य च कारणवैलक्षण्यप्रयोज्यत्वात् प्रमाकारणविलक्षणं कारणमवश्यमप्रमायामवगन्तव्यं, तच्च नेन्द्रियादि, उभयसाधारणत्वादित्यसाधारणं पित्तादिरेव तथा वाच्यम्, तस्य चाऽननुगतस्यापि तत्तदप्रमाप्रयोजकत्वं गृहीत्वा दोषवाचोयुक्तिः; प्रमाप्रतिबन्धकत्वेनाऽप्रमात्वावच्छिन्नकार्यताप्रतियोगिक(१)कारणतावच्छेदकरूपवत्त्वेन वा दोषपदशक्तिग्रहात्; स्व(२)प्रमां प्रति कारणत्वेपि पित्तादेर्विषयत्वातिरिक्तेन रूपेणाप्रमां प्रत्यसाधारण्यस्य विवक्षितत्वात्; एवं 'स्थाणुत्वेन पुरुषत्वेन वा न निश्चिनोमि धर्मिणं किंतु सन्दिहानोस्मी'तिनिश्चयविलक्षणस्य सर्वलोकसिद्धस्य संशयस्य निश्चयत्वमापाद्यापलापयितुमशक्यत्वं; कारणस्यापि समानधर्मदर्शना(३)साधारणधर्म-

(१) कार्य्यतानिरूपितकारणतेत्यर्थः । (२) ननु पित्तादेर्दोषस्य स्वविषयकप्रमाजनकत्वमप्यस्ति तत्कथमप्रमाजनकतावच्छेदकरूपवत्त्वेनैव तत्सिद्धिरित्यत आह-स्वेति । (३) समानो धर्मः स्थाणुपुरुषयोरुच्चैस्तरत्वादिः, तद्दर्शनेन स्थाणुर्वा पुरुषो वेति' संशयः; असाधारणो धर्मः नित्येभ्योऽनित्येभ्यो व्यावृत्तं शब्दत्वं तज्ज्ञानतोपि भवति शब्दो नित्यो नवेति संशयः; वादिनोर्विप्रतिपत्त्यनन्तरं मध्यस्थस्य जायमानः संशयस्तु प्रसिद्ध एवेति । समानधर्मदर्शनाद्यन्यतमस्य प्रतिस्वमनुभवादिति सम्बन्धः ।

दर्शनविप्रतिपत्तीनामन्यतमस्य प्रतिस्वं निश्चयकारणविलक्षणस्याऽनुभवात्कार्ये च संशये विधिकोटिप्राधान्यं निषेधकोटिप्राधान्यं वाऽनुभूयमानमवश्यं वाच्यम्, वाक्यार्थश्च विरोध एव, भवति हि 'स्थाणुर्वा पुरुषो वे'तिशब्दश्रवणानन्तरं स्थाणुपुरुषविरोधज्ञानं, विरोधप्रतिसन्धायिन एवैतादृशः शब्दप्रयोग इति; तथापि प्रपञ्चखण्डनयुक्तिरत्रापि गृहीतेति भावः ॥

सू० [a]*नच प्रत्यासत्तौ सत्यामपि प्रत्यासत्त्यपुरस्कारान्मनसा न ग्रहणं तत्र दोषवशा(१)दित्यस्तु* । दोषे सत्यपि वस्तुनः संस्कारेण, संस्कारस्यात्मना, तस्य मनसा, तस्य च बाह्येन्द्रियेण, प्रत्यासत्त्यपेक्षणे एव तदर्थप्रकाशनियमोपपत्तेः कः प्रत्यासत्त्यपुरस्कारस्त्वन्मते स्यात् ? । [b]यदि तु संस्कारप्रत्यासत्तिमनपेक्ष्य तथा सन्दिह्यते तदाऽननुभूय [c]प्रस्मृत्य वा तथा सन्दिह्येत । [d]वस्तुतस्तु, मनसा(२)संस्काराग्राहिणा, चक्षुरादिना चात्माऽग्राहिणा, तादृशप्रत्यासत्त्या ग्रहणानुपपत्तेः(३)नियमेन ।

टी० ॥ ननु प्रत्यासत्तौ सत्यामपि तत्तानिश्चयो न भवति,

---

(१) दोषवशात्प्रत्यासत्त्यपुरस्कारान्मनसो न ग्रहणमित्यन्वयः ।
(२) तादृशप्रत्यासत्त्या तत्तावैशिष्ट्यं मनसा गृह्यते? चक्षुरादिना वा?, न तावन्मनसा, तस्यात्मग्राहकत्वेपि संस्काराग्राहकतया तद्विशेषणतत्तावैशिष्ट्यग्राहकत्वायोगात्, नापि चक्षुरादिना, तस्यात्मग्राहकत्वाभावेन तत्समवेतसंस्कारादिग्राहकत्वस्य सुतरामसम्भवादित्याह—मनसेत्यादिना । (३) यद्यपि "ग्रहणानुपपत्तेः नियमेने"त्येव प्रायः पुस्तकेषु पाठ उपलभ्यते तथाप्यत्र प्रतिज्ञान्तरस्याप्रदर्शनात्सहेतुकप्रतिज्ञाप्रदर्शनपरेणैव "ग्रहणानुपपत्तिः नियमेन" इतिपाठेन भाव्यम्, "ईदृशप्रत्यासत्त्या ग्रहणानुपपत्तिनियमादि"ति तु "नियमेने"त्येतावन्मात्रस्यैव व्याख्याकृतोऽभिप्रायप्रदर्शनं, नतु समग्रफक्किकायाः, इति व्याख्याकृतोऽभिप्रायाबोधविजृम्भित एव पाठप्रमादो लोकानामित्यालक्ष्यते । यथाश्रुतपाठदुराग्रहगृहीतान्तःकरणैस्तु प्रतिज्ञावाक्यमध्याहृत्य कथञ्चिद्योजनीयो ग्रन्थ इति श्रीमन्तो गुरुचरणाः श्री ६ रामसिश्रशास्त्रिणः ।

दोषेण प्रत्यासत्तेस्तिरस्कृतत्वात्; साधारणधर्मदर्शनात्सन्देह एवेत्याह—। [a]"नचे"ति । वास्तवी प्रत्यासत्तिः कथं दोषेण तिरस्करणीया ?, प्रत्युत तत्ताऽऽरोपार्थं पुरस्करणीयैव, स्मृतताया एव तत्तायाः 'सोयं नवे'त्यत्रारोपादित्यर्थः । यद्यपि 'इदं रजतमि'त्यारोपे शुक्तित्वेन सह सतोपि संयुक्तसमवायस्य दोषेण तिरस्कारो दृष्टः, तथापि तस्यापि खण्ड्यत्वादिति भावः ॥ उक्तमेव द्रढयति—। [b]"यदि त्वि"ति॥ [c]"प्रस्मृत्ये"ति । विस्मृत्येत्यर्थः ॥ संस्कारद्वारा संबद्धविशेषणतया प्रत्यासत्त्या तत्ताभाने 'सोयं नवे'तिसंशयानुपपत्तिमुक्त्वा प्रकृते संबद्धविशेषणताप्रत्यासत्तिरेव न भवतीत्याह—। [d]"वस्तुतस्त्वि"ति । "नियमेन"—इत्यन्तेयं फक्किका । ईदृशप्रत्यासत्त्या ग्रहणानुपपत्तिनियमादित्यर्थः ॥

सू० [a]तदिन्द्रियाग्राह्याश्रयकप्रतियोगिकेतरस्य ग्रहणे स्वग्राह्यसंबद्धविशेषणतायाः प्रत्यासत्तित्वनियमात् ।

टी० ॥ अत्र हेतुमाह—। [a]"तदिन्द्रिये"ति । 'विशेषणताप्रत्यासत्तिः सर्वत्र स्वग्राह्यसंबद्धविशेषणतारूपैव भवति नत्वन्ये'तिनियमादित्यर्थः । प्रकृते च संस्कारो नेन्द्रियग्राह्य इति तद्विशेषणतया तज्ज्ञानं न संभवतीत्यर्थः ॥ ननु नेयं व्याप्तिः यद् विशेषणता स्वग्राह्यसंबद्धविशेषणतारूपैव भवति, घ्राणरसनाभ्यां गन्धरसविशेषाभावस्य घ्राणरसनाऽग्राह्येपि द्रव्ये विशेषणतया ग्रहणाद्, अत एनां(१)विशिनष्टि—। "तदिन्द्रियाग्राह्ये"ति। प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियाग्राह्य आश्रयो यस्य स तदिन्द्रियाग्राह्याश्रयको गन्धरसादिः, स प्रतियोगी यस्य गन्धाद्यभावस्य, तदितरत् प्रमेयं यत्र विशेषणतया गृह्यते तत्रेयं व्याप्तिरिति न व्यभिचार इत्यर्थः । यद्वा, "नियमेने"त्यग्रे योजनीयम् । तदिन्द्रियाऽग्राह्येत्यत्र नियतं तदिन्द्रियाग्राह्यत्वं विवक्षितं, नतु कादाचित्कम् । अन्यथा चक्षुषा कदाचिद्भूतलादि न गृह्यते इति तदाश्रयस्य(२) घटादेरभावो विशेषणतया गृह्यमाणोपि तदिन्द्रियाग्राह्याश्रयकप्रतियोगिकेतरो न भवतीति सहचारदर्शनस्थलाभावाद् व्याप्ति-

(१) एनां=व्याप्तिम् । (२) तद् भूतलादि आश्रयो यस्येतिव्युत्पत्त्या तदाश्रितस्येत्यर्थः ।

परिच्छेदः (१) कुत्र स्यात्?, तथाच तदिन्द्रियाऽग्राह्यत्वं तदिन्द्रियस्वरूपायोग्यत्वं विवक्षितं, तच्च नियमपदान्तर्भावेन निर्वहतीति भावः। प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियाग्राह्येऽधिकरणे यः प्रतियोगी समारोप्य निषिध्यते स एव तदिन्द्रियाग्राह्याश्रयकः प्रतियोगी, तस्य योऽभावस्तदितरत्रायं नियमः, तेन वायौ रूपाभावस्य चाक्षुषत्वमुपपद्यते। अन्यथा(२)घटादौ रूपाभावस्य रूपग्राहकेन्द्रियग्राह्याश्रयकप्रतियोगिकत्वेन तद्ग्रहेऽपि वायुविशेषणतया न स्यात्। *वायौ रूपाभावप्रतीतिर्लिङ्गजा ? *,—इत्यनुपपन्नमेव, सर्वत्र तथाभावप्रसङ्गात्। यदि अन्यत्र योग्यानुपलब्धिरिन्द्रियसहकारिणी, तदा प्रकृतेऽपि समानं, वायावपि रूपानुपलम्भस्य प्रतियोगिसत्त्वविरोधित्वात्। महतो रूपसमवाये ग्रहणावश्यम्भावात्। केचित्तु "नियमेन तदिन्द्रियाग्राह्यो यस्याश्रयः(३) स्वेतरोलम्भकव्यतिरेकोपलम्भाविषयो, यथा परमाणौ पृथिवीत्वादि, नतु वायौ रूपादि, ततश्च तत्प्रतियोगीतरग्रहणे विशेषणतया व्याप्तिः"—इत्याहुः। यद्यपि घटादौ विशेषणतया तत्ताभानम-

(१) व्याप्तिपरिच्छेदः=व्याप्तेरवधारणम्। (२) अन्यथा, यत्किञ्चिदधिकरणकसमारोपितप्रतियोगीतरप्रतियोगिकाभावस्थले स्वग्राह्यसम्बद्धविशेषणताप्रत्यासत्तेर्नियमाङ्गीकारे-इत्यर्थः। (३) स्वशब्दो दृष्टान्ते पृथिवीत्वादिपरो दार्ष्टान्तिके त्वभावाश्रयत्वाभिमतवस्तुपरः। यथा पार्थिवपरमाणौ पृथिवीत्वं स्वस्मात्पृथिवीत्वादितरस्य महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपवत्त्वलक्षणस्योपलम्भकस्य व्यतिरेकेण चाक्षुषोपलम्भाविषयः नत्वेवं वायौ रूपादि स्वस्माद्रूपादितोऽतिरिक्तस्य महत्त्वलक्षणस्योपलम्भकस्य व्यतिरेकेण चाक्षुषोपलम्भाऽविषयः, किन्तु रूपादिव्यतिरेकादेव, एवमेव यस्याऽभावस्याश्रयः स्वस्मादतिरिक्तस्योपलम्भकस्य व्यतिरेकेणोपलम्भाविषयः स्यात्तदीयप्रतियोगीतरप्रतियोगिकाभावग्रहणे एव स्वग्राह्यसम्बद्धविशेषणतया व्याप्तिरित्यर्थः। रूपाभावपृथिवीत्वाभावयोराश्रयौ, वाय्वाप्यपरमाणुलक्षणौ, भवतः स्वेतरोपलम्भकस्य महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपवत्त्वस्य व्यतिरेकेण चाक्षुषोपलम्भाऽविषयावतस्तयोः स्वग्राह्यसम्बद्धविशेषणताप्रत्यासत्तिमन्तरेणैव भानमित्यर्थः। यद्वा, यस्य=समारोपितप्रतियोगिनः, आश्रयः=आश्रयत्वेन संमतः,—इत्यर्थः। अस्मिन्नर्थेऽग्रे "तत्प्रतियोगीतरग्रहणे"—इत्यस्य तस्मात्प्रतियोगिन इतरप्रतियोगिकस्याभावस्य ग्रहणे—इत्यर्थः।

विरुद्धमेव, तथापि संस्कारविशेषणतया तावन्न भानमित्यर्थः ॥

सू० [a]अन्यथाऽऽप्यपरमाणवादौ पृथिवीत्वादेरन्यत्र ग्राह्यतया निरस्तस्वरूपायोग्यत्वस्याभावो दृगादिभिर्गृह्येत । [b]नहीन्द्रियविहारदेशेषु निष्परमाणुकत्वनियमो युक्ताभ्युपगमः । [c]शब्दाभावप्रत्यक्षतावादिनये श्रोत्रेन्द्रियविशेषणता सप्तमः सन्निकर्षः, नतु तत्र संबद्धविशेषणतेत्यतोऽपि न व्यभिचारः ।

टी० ॥ उक्तव्याप्तौ विपक्षबाधकमाह—। [a]"अन्यथे"ति । यद्यप्यभावग्रहे प्रतियोगियोग्यतावदधिकरणयोग्यतापि तन्त्रमिति प्रत्यासत्तौ सत्यामपि तद्विरहादेव न परमाणौ पृथिवीत्वाभावग्रह इति, तथापि शब्दाभावप्रत्यक्षतावादिमते नैतदिति भावः ॥ ननु पृथिवीत्वाभावेन संबद्धविशेषणतापि प्रकृते नास्तीत्यत आह—। [b]"नही"ति ॥ "तदिन्द्रियाग्राह्याश्रयके"त्यादिविशेषणव्युदस्तमपि व्यभिचारं प्रकारान्तरेणापि व्युदस्यति—। [c]"शब्दाभावे"ति । व्यभिचारनिरासेऽयमपि प्रकार इत्यपेरर्थः । 'सप्तम'-इति संबद्धविशेषणतापेक्षया, विशेषणतया षष्ठ एव; शब्दसाक्षात्कारानुरोधेन यथा शुद्धसमवायः प्रत्यासत्तिरेवं शब्दाभावसाक्षात्कारानुरोधेन विशेषणताया अपि शुद्धायाः प्रत्यासत्तित्वोपगमात् । संबद्धविशेषणताया एव यत्र ग्राहकत्वं तत्परं व्याप्त्युपदर्शनमिति भावः ॥

सू० * [a]नचात्मसंयुक्तमनः (१) प्रति [b]पूर्वानुभूतार्थात्म-

(१) वस्तुत एकैव ग्राह्यासत्तिर्विवक्षावशाद्ग्राह्यासत्तिग्राहकासत्तिभेदेन द्विधा विभज्यते; तत्रात्मसंयुक्तमनः प्रति (=आत्मसंयुक्तमनसा सह निरुक्तमनसो वा) संस्कारः (=संस्कारलक्षणा, अर्थात् मनः संयुक्तात्मसमवेतसंस्कारलक्षणा) ग्राहकासत्तिः, (=अर्थग्राहकेण संस्कारेण समं, निरुक्तसंस्कारस्य वा सम्बन्धः, ) तथा आत्मसंयुक्तमनः प्रति पूर्वानुभूतार्थात्मप्रत्यासत्तिरपि (=पूर्वमनुभूतौ यावर्थात्मानौ तयोः प्रत्यासत्तिरपि) संस्कारः, (=संस्कारलक्षणा, अर्थात् मनःसंयुक्तात्मसमवेतसंस्कारविषयत्वलक्षणा) ग्राह्यासत्तिः, सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञायां संस्कारः पूर्वानुभूतात्मप्रत्यासत्तिः सोऽयं घट इत्यत्र तु पूर्वानुभूतार्थप्रत्यासत्तिरितिविभागः ।

प्रत्यासत्तिरेव संस्कारः इति तदतीन्द्रियत्वं न दोषाय, प्रत्यासत्तेरतीन्द्रियाया इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्यो(१)पगमादितिस्वीकृते निस्तारः*, [c]तथा सति "स"-इत्यंशे चक्षुरादेः प्रत्यासत्त्यभावात्प्रत्यभिज्ञाया अचाक्षुषत्वापातात्। [d]"अयमि"त्यंशो दृगादिना, तदंश(२)स्तु मनसा, गृह्यतां, तदेतदभेदस्तु केनेत्युक्तमप्यावर्तते इति। [e]एतेन 'संस्कारः सहकारिमात्रम् इन्द्रियस्यातिप्रसङ्गनिवारकः प्रत्यभिज्ञायां, तदर्थं (३)इन्द्रियेणासन्निकृष्ट एवोल्लिख्यते विभ्रमार्थवत्, सन्निकृष्टग्राहिता चेन्द्रियस्य सन्निकर्षसहकार्य्यवश्यम्भावमात्रं, तच्चेदमंशसन्निकर्षादेव स्यात्, नतु सर्वग्राह्यसन्निकर्षसहकारिता'-इत्यपि निरस्तम्, [j]'सोयं(४)न वे'तिसंशयाभावापातेनैवेति।

टी० ॥ ननु मा भूच्चक्षुषस्तत्तया सह संयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेतसंस्कारविशेषणताप्रत्यासत्तिरपितु यथा घटेन सह चक्षुषः संयोगस्तथा मनसस्संस्कार एव प्रत्यासत्तिरस्त्वित्यत आह-। [a]"नचे"ति। संस्कारोऽसंबद्धः कथं मनःप्रत्यासत्तिः स्यादित्यत उक्तम्-"आत्मसंयुक्तमनः प्रती"ति। तथाच मनःसंयुक्तात्मसमवेतः संस्कारो मनःप्रत्यासत्तिरिति ॥ संस्कारग्राहकासत्ति(५)मभिधाय ग्राह्यासत्तिमाह-। [b]"पूर्वानुभूते"ति ॥ एवं शङ्कायां परिहारमाह-। [c]"तथा सती"ति। एतावतापि चक्षुषा समं प्रत्यासत्तिर्नोपपादितेति प्रत्यभिज्ञायाश्चाक्षुषत्वं न स्यात्, प्रत्युत मानसत्वं स्यात्, तथाच विरोध इत्यर्थः ॥ ननु तत्तांशे मानसत्वमिदन्तांशे च चाक्षुषत्वमस्तु को विरोधः? इत्यत आह-।

(१) इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य प्रत्यासत्तेरतीन्द्रियाया उपगमादित्यन्वयः। इन्द्रियार्थसन्निकर्षाभिन्नप्रत्यासत्तेरतीन्द्रियत्वोपगमादित्यर्थः। (२) तदंशः, तत्तांश इत्यर्थः। (३) तदर्थः, तच्छब्दार्थ इत्यर्थः। (४) "एतेने"त्यस्यैवातिदेशमाह-सोयमिति। (५) संस्कारेणार्थग्राहकेण मनसः सम्बन्धमित्यर्थः।

[d]“अयमि”ति ॥ ननु यावत्प्रत्येतव्येन्द्रियसन्निकर्षो न तन्त्रं, किंतु प्रत्येतव्येन्द्रियसन्निकर्षमात्रं, स चेदमंशेनैव, तदंशस्त्वऽसन्निकृष्ट एवभासते, तत्रातिप्रसङ्गः सहकारिणा संस्कारेण वारणीय इत्याशङ्क्याह—। [e]“एतेने”ति ॥ [f]“सोयमि”ति । उक्तसामग्रीसत्त्वे निश्चय एव स्याद्, दोषस्य खण्डितत्वादिति भावः ॥

मू० [ab]‘तदद्राक्षमि’त्यादिस्मृतिरपि चैवमनुभवः स्यात्, मनस(१) आत्मसंयोगसहकृतादर्थात्मसन्निकर्षात्संस्काराज्जायमानायास्तस्या इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वादेव; मनसात्मसंयोगादात्मसमवायेन प्रत्यक्षीक्रियमाणैर्ज्ञानादिभिः स्मर्यमाणस्यार्थस्याविशेषादिति । [b]एतेन ‘तत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिकान्योन्याभावविरहः स्वरूपाभेदो वाऽयं भाती’(२)त्यपि निरस्तम् । अन्योन्याभावव्यतिरेकोऽन्योन्यमेव तत्तेदन्तोपाध्यवच्छिन्नयोः स्यात्, न च तन्मिलितमेकेन सुग्रहम् । एवं स्वरूपाभेदोपि तयोरैक्यं तदनवगाहिना दुरवगममेव । [c]संस्कारोपनीते च विषये यदि ज्ञानमनुभवः स्यात् स्मृतिरपि कुतो नानुभूतिः ? । [d]अथ* न संस्काराधीनत्वमात्रेण स्मृतित्वं, किंत्वनुभवकारणासंपृक्तसंस्कारजत्वेन, ततश्चाधिकार्थाक्षसन्निकर्षापेक्षं प्रत्यभिज्ञानमनुभव एव भवति, नतु स्मृतिः ? *—इति चेन्न ।

टी० ॥ संस्कारस्य प्रत्यासत्तित्वपक्षे सहकारित्वपक्षे च दोषान्तरमाह—। [a]“तदद्राक्षमि”ति । यथा ‘जानामी’त्यनुभवः संयुक्तसमवायान्मानसस्तथा ‘अद्राक्षमि’तिस्मृतिरपि संस्कारलक्षणात्सन्निकर्षान्मानसोनुभवः स्यादित्यर्थः ॥ [b]“एतेने”ति । यथा

(१) मनःप्रतियोगिकात्मसंयोगसहकृतात्पूर्वानुभूतार्थात्मसन्निकर्षाऽभिन्नात्तद्घटकाद्वा संस्काराज्जायमानायाः स्मृतेरिन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वादनुभवत्वं स्यादित्यर्थः । (२) ‘इदन्त्वावच्छिन्ने’—इति शेषः ।

'सोयं, नतु तद्विधर्मे'तितद्वैधर्म्याभावः संस्कारेन्द्रियाभ्यां प्रत्येकं मिलित्वा चोपनेतुमशक्य (१) एवं 'सोयं, न तदन्योन्याभाववान्'एवं 'न स्वरूपभिन्न' इत्यत्राप्यन्योन्याभावात्यन्ताभाववत्त्वं तत्स्वरूपाभेदो वा न ताभ्यामुपनेतुं शक्यमित्यर्थः ॥ संस्कारजत्वेपि यथा प्रत्यभिज्ञाऽनुभव एवं स्मृतिरप्यनुभव एव स्यादित्याह–। [c]"संस्कारे"ति । एतच्चाचार्यमतेन; वार्तिककारमते तु प्रत्यभिज्ञापि स्मृतिजन्या, न संस्कार जन्येति ॥ ननु संस्कारजन्यत्वमात्रं न स्मृतित्वप्रयोजकं येन प्रत्यभिज्ञापि स्मृतिः स्यादपितिवन्द्रियसन्निकर्षाजन्यत्वे सति संस्कारजन्यत्वं, तच्च प्रत्यभिज्ञायां नास्तीति न तस्याः स्मृतित्वमित्याह–। [d]"अथे"ति ॥

**मू० [a]संस्काराऽसम्पृक्तानुभवकारणजत्वेनानुभवत्वं भवति प्रत्यभिज्ञानं तु संस्कारसहितानुभवकारणजं स्मृतिरेवेति वैपरीत्यं किं न स्यात् ?। [b]"अन्यत्र न स्मृति(२)रनुभवकारणसम्पृक्तसंस्कारजन्या'-इति तु 'नान्यत्रानुभवोपि संस्कारसम्पृक्तार्थेन्द्रियसंप्रयोगजन्य'-इतिसाम्यादेवाबाधकम् । [c]तदेवं(३)विनिगमनायां प्रमाणाभावात्, स्वयंकल्पितव्यवस्थावैपरीत्येनापि कल्पनासंभवात्, प्रत्यभिज्ञानमुभयकारणसंभवात् स्मृतिश्चानुभवश्चेति मन्तव्यम् । तथाच स्मृतिव्यावृत्तमनुभवत्वं जातिरस्तीति प्रत्याशा निरवकाशा ।**

(१) संस्कारेण वैधर्म्याभाववतो धर्मिणः, इन्द्रियेण च तत्तायाः, अविषयीकरणादिति भावः । (२) स्मृतिरन्यत्राऽनुभवकारणसंपृक्तसंस्कारजन्या न,–इत्यबाधकम्, अन्यत्राऽनुभवोपि संस्कारसंपृक्तार्थेन्द्रियसंप्रयोगजन्यो न,–इतिसाम्यादेवेत्यन्वयः । (३) तदेवं (संस्कारजत्वात्प्रत्यभिज्ञानं स्मृतिरुत संप्रयोगजत्वादनुभव इत्यत्र) विनिगमनायां प्रमाणाभावात्प्रत्यभिज्ञानं स्मृतिश्चाऽनुभवश्चेति मन्तव्यमिति सम्बन्धः । ननु केवलसंस्कारजत्वं स्मृतित्वस्य, अतिरिक्तकारणजत्वं चानुभवत्वस्य प्रयोजकमिति मत्कल्पनमेव नियामकमित्याशङ्क्य प्रतिकल्पनत्वान्मैवमित्याह–स्वेति । प्रमाणाभावादुभयात्मत्वमपि नैष्टव्यमित्यत आह–उभयेति ।

नच विषयांशे स्मृतित्वानुभवत्वयोर्व्यवस्था कर्तुं शक्यते, तन्निरासस्य निवेदितत्वात् (१)। ततश्च तदेव ज्ञानं तस्मिन्नेवांशे स्मृतिश्चानुभवश्चेत्यापतितेति यदि न विरोधबुद्धिर्भवतस्तदा [d]तदधीने तत्रैवार्थे प्रमात्वाप्रमात्वापाते(२)ऽपि सा तेऽस्तु।

टी० ॥ तर्हीन्द्रियजन्यत्वेन प्रत्यभिज्ञाऽनुभवोऽपि न स्यात्, संस्काराजन्यत्वे सतीन्द्रियजन्यत्वस्यानुभवत्वप्रयोजकत्वात्, प्रत्यभिज्ञायां च तदभावाद्,-इत्यपि स्यादित्याह-। [a]"संस्कारे-"ति ॥ नन्वनुभवसामग्र्यजन्यत्वेऽपि संस्कारमात्राधीनत्वेन कुत्र स्मृतित्वं दृष्टं येन प्रत्यभिज्ञायां तदापादनीयमित्यत आह-। [b]"अन्यत्रे"ति। तर्हि संस्कारजन्यत्वेऽपि कुत्रेन्द्रियजन्यत्वमात्रेणानुभवत्वं दृष्टं येन प्रत्यभिज्ञायां तत्कल्पनीयमित्यपि तुल्यमित्यर्थः ॥ प्रकृतमुपसंहरति-। [c]"तदेवमि"ति। संस्कारजन्यत्वेन स्मृतित्वमिन्द्रियजन्यत्वेन चानुभवत्वं, नचात्रावच्छेदकभेदेन द्वयोर्वृत्तिस्तस्या निरस्तत्वादिति स्मृतित्वसाङ्कर्यादनुभवत्वं न जातिरित्यर्थः। यद्यपि प्रत्यभिज्ञानमेकं ज्ञानं साक्षात्कार्यनुभवरूपतयाऽनुव्यवसायसिद्धं, तस्य च विषयस्तत्तेदन्तावच्छिन्नान्योन्याभावात्यन्ताभावः, स च स्वरूपमेव तयोस्तद्गताऽसाधारणधर्मो वा कश्चिदित्यन्यदेव, तत्तदनुभवस्य दुरपह्नवत्वात्, तच्च संस्कारेन्द्रियाभ्यां जन्यते, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्वयोरपि कारणत्वावधारणात्, अन्यथा कार्यस्याकस्मिकत्वेनाहेतुकत्वेन परप्रतिपादनार्थं(३)तवापि वाग्व्यवहारो न स्यात्, प्रतिनियतविषययोरपि संस्कारेन्द्रिययोः संभूयकारित्वं प्रत्यभिज्ञाऽन्यथानुपपत्त्यैव, तत्र सोपपद्यतां प्रत्यभिज्ञानं, सा च तत्तेदन्ताविशिष्टाभेदस्तद्विषयोऽस्त्विवति त्वयापि वक्तुमशक्यम्, अनुभवविरोधात्; क्षणभङ्गापत्तेश्च। 'योऽहमद्राक्षं सोऽहं स्मरामी'-

(१) "तदा धर्मिणमादायापि स्मृत्यनुभवसङ्करो दुर्वारः"-इत्यत्र निवेदितत्वात्। (२) प्रमात्वाप्रमात्वापातेऽपि सा=अविरोधबुद्धिस्तेऽस्त्वित्यर्थः। (३) परप्रतिपादनार्थम्=परप्रतिपत्तिजननार्थम्।

स्यभेदप्रतिसन्धानस्य सर्वतैर्थिक(१)सिद्धत्वात्। तत्ताऽभेदश्चेन्द्रियसंबद्धविशेषणतयैव भासते, घटादेश्च प्रत्यभिज्ञायमानस्य ग्राह्यत्वेन स्वग्राह्यसंबद्धविशेषणताया एव सत्त्वात्। * तत्तांशमात्रे संस्कारेणापि तदवच्छिन्नाभेदांशो(२)पि विशेषणतया कथं भासेत ? *,—इति चेन्न, संस्कारानुपनीतस्यापि विशेषणताभ्युपगमात्। * भूतले घटाभावस्येव(३)विशेषणतयैव तत्ताभाने किं संस्कारेण * ?—इति चेन्न, अननुभूते प्रत्यभिज्ञाया अदर्शनाद् अनुभवस्यापि तत्कारणत्वसिद्धौ तस्य च चिरध्वस्तस्य व्यापारापेक्षायां संस्कारकारणत्वकल्पनात्। अतीतापि तत्ता विशेषणमेव, 'द्वे द्रव्ये'—इत्यत्र द्वित्व(४)मिव, तत्ता च पूर्वानुभववैशिष्ट्यं, तदसत्त्वकाले तज्ज्ञानं न भ्रमः। * कथम् ? *—इति चेन्न 'सोयमि'ति 'तदभिन्नोयमि'ति प्रतीयते, नतु 'तदवच्छिन्न(५) इदानीमि'ति प्रत्यभिज्ञाविषयो येन भ्रमः स्यात्, संस्कारजन्यत्वेन च न स्मृतित्वमिन्द्रियाजन्यत्वस्योपाधित्वात्। * नचेन्द्रियजन्यत्वेन चानुभवत्वे सध्ये संस्काराजन्यत्वमुपाधिः* । अनुभवत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेनोपाधिव्यतिरेकेण(६)तद्व्यतिरेकस्य साधयितुमशक्यत्वेनोपाधेर्बाधितविपर्ययत्वेनाऽऽभासत्वात्। अस्तु वा प्रत्यभिज्ञानं स्मृतिजन्यं, तथाच संस्कारजन्यत्वेन स्मृतित्वापादनमिन्द्रियजन्यत्वेन चानुभवत्वसाधने संस्काराऽजन्यत्वमुपाधिश्चानवकाशः। स्मृत्युपनीतैव तत्ता भासते भ्रमे इव रजतत्वमितिप्रत्यभिज्ञाखण्डनमनवकाशं, तथापि हस्तसमावरणमात्रमेतत्सर्वमिति हृदयम्॥ [b]"तदधीने"इति। स्मृतित्वेनाप्रमात्वं, यथार्थानुभवत्वेन प्रमात्वम्, अवच्छेदभेदं विनैव प्रत्यभिज्ञायां स्यादिदं च तवानिष्टमित्यर्थः॥

---

(१) तैर्थिकाः=शास्त्रकाराः।

(२) "अभेदांशोपी"ति त्वपपाठः। (३) भूतले घटाभावप्रत्यक्षस्थले प्रागनधिगतस्यैव घटाभावस्य विशेषणतया भानाङ्गीकारेण संस्कारानुपनीतस्यैव तस्य विशेषणता। (४) द्वित्वं ह्यपेक्षाबुद्धिजन्यत्वेन चतुर्थक्षणादावतीतमपि द्रव्यविशेषणं यथा तद्वदित्यर्थः। (५) तदवच्छिन्नः, तत्तावच्छिन्न इत्यर्थः। (६) उपाधिव्यतिरेकेण=संस्कारजन्यत्वेन, तद्व्य-

मू० [a]एतेन([1])विरोधापत्त्याऽनुभवत्वस्वीकारे बाधकेन स्मृतिव्यतिरिक्तमनुभवत्वं नामानुगतं साक्षात्कारिज्ञानानुमित्यादिसाधारणमनुभवबलादेव व्यवस्थापनीयमिति प्रतीतिकलहोऽपि([2])निरस्तः । * [b]ननु चाऽनुभव एव शरणमिह, प्रत्यभिज्ञाने ह्यनुभवत्वमेवानुभूयते नतु स्मृतित्वं, तेन संस्कारजत्वपीन्द्रियार्थसन्निकर्षाधिकापेक्षयाऽनुभवत्वमेवेति विनिगमनायामपीदमेव प्रमाणम् । अन्यथा प्रत्यभिज्ञानेऽनुभवप्रत्ययो न स्यादिति प्रतीतिकलहेन प्रत्यवस्थेयमिति ? * । न, [c]इदन्तातत्तावभासयोरनुभवस्मरणभागयोः सत्त्वेनानुभवस्यैकपक्षेऽसाधारणीकृत्य प्रमाणयितुमिहाऽशक्यत्वात् ।

टी० ॥ अनुगतप्रतीत्यभावादनुभवत्वं न जातिरित्युक्तमिदानीं जातिसाङ्कर्यादपि न तदित्याह—। [a]"एतेने"ति । यद्वा, प्रघट्टकनिर्व्यूढमर्थं संक्षेपतोऽनुवदति—। "एतेने"ति ॥ नन्वनुगतानुभवत्वजातौ प्रतीतिकलहः ([2])प्रत्यभिज्ञायां स्मृतित्वानुभवत्वविरोधात्तदाहूतप्रमात्वविरोधाद्वा निरसनीयः, स एव नास्ति, अनुभवत्वेनैव सर्वप्रतीतिसिद्धत्वादित्याह—। [b]"ननु चे"ति ॥ यथेदन्तांशे'ऽनुभवामी'त्यनुभवः तथा तत्तांशे 'स्मरामी'त्यनुभव इति न सकलांशानुभवत्वानुभव इत्याह—। [c]"इदन्ते"ति । यद्वा, तत्तांशे स्मृतित्वप्रौढयेणानुभवत्वेनानुभवोऽयं कूटसाक्षी([3])त्यर्थः ॥

---

तिरेकस्य=अनुभवत्वव्यतिरेकस्येत्यर्थः । (१) एतेनेत्यस्यैव विवरणं,–बाधकेनेत्यन्तम् । विरोधापत्त्या=प्रत्यभिज्ञायां स्मृतित्वानुभवत्वयोः प्रमात्वाप्रमात्वयोश्च विरुद्धधर्मयोः समावेशेन, अनुभवत्वस्वीकारे=अनुभवत्वस्य जातित्वस्वीकारे, बाधकेनेत्यर्थः ।

(२) इतिहेतोः प्रत्यभिज्ञायामनुभवत्वास्वीकारे सोऽयं घट इत्याकारकतत्तेदन्तावगाहिज्ञानेऽनुभवत्वावगाहिप्रतीत्या कलहः=विरोधो निरस्त इत्यर्थः । (२) कूटसाक्षी=मिथ्यार्थगोचरः ।

सू० [a]एतेन–स्मृत्यनुभवसङ्करप्रसङ्गेनानुभूतिपद(१)व्यवच्छेद्यं परिप्लुतं मन्तव्यम् । (२) * [b]नच वाच्यं प्रत्यभिज्ञानं व्यवच्छेद्यं मा भूत् स्मृत्यन्तरं तु भविष्यतीति *, तस्याप्यनुभूतित्वेन भवताऽवश्यं स्वीकर्त्तव्यत्वात् । [c]तथाहि–'घटस्तत्रासीदि'त्यादिस्मृतौ पूर्वकालविशिष्टो घटः स्फुरति, नचासौ(३)पूर्वमनुभूता भूतता या संस्कारेणोपनीयेत, प्रत्युत पूर्वं वर्तमानताया एवानुभूत्या ग्रहणं, [d]तस्मादिदानीं पूर्वता(४)ग्रहणसामग्रीसंभेदात् 'सोयमि'तिप्रत्यभिज्ञानवद्विशिष्टावगमोप्यसौ स्मृत्यनुभवात्मक एवाभ्युपगन्तव्यः । एतेनानुभवसामग्रीसहितः संस्कारोनुभवकारणमितिपक्षे पूर्वमाशङ्किते [e]इदमपि दूषणं द्रष्टव्यम् । तथा सति [f]स्मृत्युच्छेदापत्तेः । [g]नच तदस्ति स्मरणं यत्र सा(५)न प्रकाशते, ततश्च व्यवच्छेद्यानुपपत्तिः ।

टी० ॥ ननु 'तत्त्वानुभूतिः प्रमे'तिलक्षणखण्डनमुपक्रान्तं, तत्र किमप्रस्तुतेन प्रत्यभिज्ञाखण्डनेनेत्यत आह–। [a]"एतेने"ति । अत एव खण्डनोद्धारे यदेतस्य प्रकरणस्याऽप्रस्तुतत्वमुक्तं, तदपि

(१) 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा'–इतिप्रमालक्षणकुक्षिनिविष्टानुभूतिपदेत्यर्थः ।

(२) { निराकार्य्यनुभूतीतिशब्दव्यावर्त्यता पुरा ।
प्रत्यभिज्ञात्मबोधस्य, स्मृतौ सा चात्र खण्ड्यते ॥ १७ ॥ }

(३) असौ=पूर्वकालसम्बन्धरूपा, भूतता (=तत्ता) पूर्वं नानुभूता या संस्कारेण विषयीक्रियेतेत्यर्थः । पूर्वं प्रत्यभिज्ञाखण्डनावसरे तत्तायां पूर्वदेशकालसम्बन्धरूपायां देशकालयोस्तत्कालीनवर्तमानत्वाभिप्रायेण संस्कारविषयत्वोक्तिरिदानीं तु तयोरेव देशकालयोरेतत्कालीनमतीतत्वमभिप्रेत्य संस्काराऽविषयत्वमुक्तमिति ध्येयम् । (४) पूर्वता=भूतता, तद्ग्रहणसामग्रीन्द्रियसन्निकर्षादिरूपा, तस्याः घटग्राहक संस्कारैः सह सम्भेदात्=संमिश्रणादित्यर्थः (५) सा=भूतता, तत्तेति यावत् ।

प्रत्युक्तम् ॥ [b]"नच वाच्यमि"ति । यद्यपि प्रत्यभिज्ञानमनुभूति पदव्यवच्छेद्यत्वेन नोपक्रान्तं, न वा तद्व्यवच्छेदः सिद्धान्त्यभिमतः, शङ्क्यो वा, तथापि स्मृतीनामनुभवत्वापादनाय प्रस्तावनामात्रपरमेतत् ॥ [c]"तथाही"ति । यद्यपि पूर्वानुभवकालीना विद्यमानतैव तत्ता([1]), पूर्वकालवैशिष्ट्यं वा, पूर्वानुभववैशिष्ट्यं वा, पूर्वदेशसंबन्धो वा, यत्किञ्चित्कालीनसंबन्धो([2])वा, सर्वत्र पूर्वानुभवविषयतायाः सत्त्वात्; पूर्वानुभवविषयत्वस्य तत्तात्वे य एवानुभवेन पूर्वं गृहीतस्तद्विषये एव स्मरणाभ्युपगमात् न तत्तांशेनुभवप्रसङ्गः, तथापि स्मरणस्य मानसानुभवत्वे किं बाधकमिति हृदयम् ॥ [d]"तस्मादि"ति । स्मृतावतीततामाने संस्कारस्यासामर्थ्यादिन्द्रियमेव कारणं वाच्यम्, धर्म्यंशे च संस्कारः, इति सर्वस्मृतीनां स्मृत्यनुभवसाङ्कर्यमित्यर्थः ॥ [e]"इदमपी"ति । सर्वस्मृतिषु स्मृत्यनुभवसाङ्कर्यमित्यर्थः॥ [f]"स्मृत्युच्छेदापत्तेरि"ति । अनुभूतिपदव्यवच्छेद्यस्मृत्युच्छेदापत्तेरित्यर्थः ॥ ननु प्रमुष्टतत्तांशमेव स्मरणमनुभूतिपदव्यवच्छेद्यमस्त्वित्यत आह—। [g]"नचे"ति ॥

सू० ([3])यदपि [a]कैश्चिदुच्यते—"दोषवशात्प्रमुष्टतत्तांशं स्मरणं भवती"ति, तदपि नोपपन्नं, तदीयस्मरणत्वे प्रमाणाभावात् । * [b]नचानुभवसामग्र्यभावात् पारिशेष्येण स्मृतित्वम्*, [c]इन्द्रियार्थसन्निकर्षव्यावृत्त्यानुभवसामग्र्यभावात् पारिशेष्येणानुमित्यादेरपि स्मृतित्वापत्तेः । * [d]सर्वानुभवसामग्र्यभावात् *,—इति चेत्, [e]कथं पुनस्तत्तांशशून्यरजतादिज्ञानहेतुसामग्री नानुभवसामग्रीत्यवधारितमायुष्मता ? । * [f]पञ्च-

(१) तत्ता=भूतता । (२) यत्किञ्चित्कालीनः, पूर्वकालीन इत्यर्थः । पूर्वकालवैशिष्ट्यमितिलक्षणे पूर्वकालसम्बन्धाधिकरणत्वमुक्तमिह तु पूर्वकालसम्बन्धमात्रमित्यपौनरुक्त्यम् ।

(३) { खण्डयन्स्मरणं चान्यन्मुष्टतत्ताकरूपयत् ।
तस्यापि तत्पदेनात्राऽपाकरोति च वार्यताम् ॥ १८ ॥ }

प्रमाणी(¹)कारणसामग्र्यसंभवात् *,-इति चेन्न, [g]चतुष्प्रमाणीजनकसामग्र्यसंभवात् पञ्चमी(²)प्रमा किं न पारिशेष्यात्स्मरणं त्वया व्यवास्थापि ?। [h]कुत्र च प्रतिपन्नं पञ्चप्रमाणीकारणसामग्र्यभावे जायमानं ज्ञानं स्मृतिर्भवतीति ?, 'घटस्तत्रासीदि'त्यादिज्ञानानामनुभवत्वोपन्यासस्य कृतत्वात् । [i]अथ मन्यसे,-* प्रत्यक्षादिकारणसामग्र्यनुपपत्त्या रजतमात्रस्य च पूर्वमनुभूतत्वेन तद्विषयसंस्कारसंभवात् संस्कारस्यैव हेतुताङ्गीक्रियते, न त्वन्यत्कारणत्वेन कल्प्यते, इन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यसंभवे जायमानस्य त्वनुमानादेरननुभूतविषयत्वेन तस्मा(³)न्नोत्पत्तिसंभव इति तत्कारणं लिङ्गादिकमङ्गीक्रियते, ततः प्रमाणान्तरासहकृतसंस्कारजत्वं, तद्व्यङ्ग्यो वा जातिविशेष एव, स्मृतित्वम् *,-इति,

टी० ॥ [a]"'कैश्चिदि"ति । 'इदं रजतमि'तिभ्रमस्थले ग्रहणस्मरणरूपज्ञानद्वयभेदाग्रहवादिभिरित्यर्थः ॥ ननु रजतेन सममिन्द्रियसन्निकर्षाभावादगत्यैव तज्ज्ञानं स्मरणमभ्युपेयमित्यत आह-। [b]"नचे"ति ॥ गूढाभिसन्धिराह-। [c]"इन्द्रियार्थे"ति । अनुभवत्वावच्छिन्नसामग्र्यभावात् तत्र स्मृतित्वम्, अनुमित्यादौ तु न तदवच्छिन्नसामग्र्यभावो लिङ्गपरामर्शादेरनुभवसामग्र्या एव सत्त्वादिति शङ्कते-। [d]"सर्वे"ति ॥ गूढाभिसन्धिः पुनराह-। [e]"कथमि"ति ॥ नन्वर्थापत्तिमादाय प्रत्यक्षादीनि मीमांसकमते पञ्चैवानुभूतयः प्रमाणानि, प्रमुष्टतत्तांशे च स्मरणे तत्कारणव्यतिरेकादेव स्मृतित्वमिति शङ्कते-। [f]"पञ्चे"ति । प्रमाणपदं

(१) पञ्चानां प्रमाणानां समाहारः पञ्चप्रमाणी, पञ्चपूलीत्यादिवत् ।
(२) पञ्चमी प्रमा = अर्थापत्तिः । (३) तस्मात् = संस्कारमात्रात् ।

भावसाधनं(१), पञ्चपदं च यथादर्शनप्रमाणसङ्ख्यो(२)पलक्षणपरम्, एवमग्रेऽपि ॥ स्वाभिप्रायमुद्घाटयति—। g"चतुरि"ति । चतस्र एव प्रमास्त्वदभ्युपगता:(३), पञ्चमी प्रमा स्मृतिरेव भवेदित्यपि सुवचमित्यर्थः ॥ प्रमुष्टतत्तांशस्मरणस्य स्मरणान्तरदृष्टान्तेन पञ्चप्रमाणीसामग्रीविरहे जायमानत्वात् स्मृतित्वं साधनीयं, तदेव तु नास्ति, सर्वेषामेव स्मरणानामनुभवत्वस्योक्तत्वादित्याह—। h"कुत्र चे"ति ॥ ननु प्रमुष्टतत्तांशस्मरणे परिशेषात्संस्कारमात्रं कारणम्, अनुमित्यादौ तु लिङ्गपरामर्शादीनां कारणानां सत्त्वादपूर्वसाध्यादिसंसर्गे पूर्वाननुभूते(४)च संस्कारभावात् संस्काराजन्यत्वेन चानुमित्यादेरनुभवत्वस्यैव व्यवस्थापनान्न प्रतिबन्दिरिति शङ्कते—। i"अथे"ति ॥

मू० मैवम् । aतत्र कारणत्वं किमिति नाक्षस्यैव ?, येन संस्कारजत्वं व्यवस्थाप्यते । *bतेनार्थेन सह तदाऽक्षस्य सन्निकर्षाभावादसन्निकृष्टस्य च तस्य ज्ञानजनकत्वेऽतिप्रसङ्गात् नेन्द्रियजत्वं तस्य ? *,—इति चेन्न, cसंस्कारस्यापि केवलस्य तज्जनने(५)ऽतिप्रसङ्गतादवस्थ्यात् । * dसहचरित(६)धर्मदर्शनादिना सहकारिणा युक्तस्य संस्कारस्य तज्जनने नास्त्यतिप्रसङ्गः ? *,—इति चेत्, eतेनैव सहकारिणा सहित-

(१) भावसाधनम् = प्रमितिः प्रमाणम् ( = प्रमा,) इतिभावव्युत्पत्तिकम्।

(२) चार्वाकस्य मते प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं, कणादबौद्धयोस्त्वनुमितिरपि, नैयायिकैकदेशिनामुपमितिरपि, नैयायिकानां शाब्दमपि, भाट्टवेदान्तिनोरनुपलब्धिरपि, पौराणिकानां साम्भविकैतिह्यके अपि, तान्त्रिकाणां चेष्टापि—इति यथाशास्त्रमुत्तरोत्तरं प्रमाणसङ्ख्या द्रष्टव्या ।

(३) 'भवेयुरि'ति शेषः । (४) 'साध्ये'इति शेषः, यद्वा 'पूर्वाननुभूते'—इति'अपूर्वसाध्यादिसंसर्गे'इत्यस्यैव विशेषणम् । (५) तज्जनने=स्मृतिजनने । अतिप्रसङ्गतादवस्थ्यात् = सादृश्यदर्शनादिविरहदशायामनुद्बुद्धसंस्कारेभ्योऽपि स्मृतिप्रसङ्गात् । (६) सहचरितो धर्मः = चाकचक्यादिरूपः समानो धर्म्मः ।

स्येन्द्रियस्यापि तज्ज्ञानजननेऽतिप्रसङ्गाभावात् । * [f]अननुभूतेपि तर्हि प्रसङ्गः *,-इति चेन्न, [g]तवापि तद्धर्मतानधिगते(१)तद्धर्मवत्यधिगते तस्य संस्कारवतः स्मृत्यापत्त्या समाधिसाम्यात् । * [h]लुप्ततत्साहचर्य्यदर्शनजसंस्कारस्यापि तथा सति सहचरितरजताद्यक्षजप्रतीतिप्रसङ्गः ? *,-इति चेन्न, [i]तवापि मते तादृशस्य रजतादिसंस्कारवतो रजतादिस्मृतिप्रसङ्गसाम्यात् । [j]तस्माद्यत(२)स्ते कालव्यवधानादितः संस्कारलोपस्तदनुपनिपातस्यापि हेतुत्वोपगमेऽनतिप्रसङ्गात्(३) ।

टी० ॥ परिशेषं प्रत्याचष्टे-। [a]"तत्रे"ति ॥ रजतादिना सन्निकर्षाभावान्नाक्षजत्वमिति शङ्कते-। [b]"तेने"ति ॥ यथाऽनुपपत्त्या नाक्षजत्वं, तथैव न संस्कारजत्वमपीत्याह-। [c]"संस्कारस्यापी"ति ॥ सदृशादृष्टचिन्ताद्युद्बोधितसंस्कारः स्मृतिकारणमतो नातिप्रसङ्ग इति शङ्कते-। [d]"सहचरिते"ति ॥ संस्कारसहकारित्वेन यदपेक्षितं तदक्षसहकार्य्येवास्तु, सन्निकर्षसंस्कारौ तु न तन्त्रमित्याह-। [e]"तेनैवे"ति ॥ यदि संस्कारं विनेन्द्रियमात्रात् सदृशादिदर्शनसहायात् प्रमुष्टतत्तांशं स्मरणं तदातिप्रसङ्गमाह—। [f]"अननुभूतेपी"ति ॥ यत्र रजतधर्मतया चाकचिक्यं† नानुभूतं, रजतं धर्मि पुनरनुभूतमेव, तत्र चाकचिक्यवति शुक्त्यादौ दृष्टे च रजतगोचरसंस्कारसत्त्वेपि यद्विलम्बात् (४)स्मृतिविलम्बस्त-

(१) तद्धर्मतानधिगते = चाकचक्यादौ शुक्त्यादिधर्मतयाऽनधिगते, तद्धर्मवति = चाकचक्यादिधर्मवति शुक्त्यादौ, चाधिगते सतीत्यर्थः ।

(२) यतः कालव्यवधानादितः (विपरीतसंस्कारादिरादिशब्दार्थः) ते मते संस्कारलोपः तदनुपनिपातस्य = तदभावस्येति यावत् ।

(३) विद्यासागरास्तु "नातिप्रसङ्गात्"-इति पाठं शुद्धमाहं चाद्रियन्ते ।

† यद्यपि चाकचिक्यपदघटित एव प्रायः पुस्तकेषु पाठ उपलभ्यते तथापि वयं तु चाकचक्यपदघटितं पाठं साधु मन्यामहे । (४) रजताधिकरणकचाकचक्यादिविषयकज्ञानविलम्बादित्यर्थः ।

द्विलम्बादननुभूते ममापि स्मृतिविलम्बो नतु संस्कारविलम्बादित्याह—। [g]"तथापी"ति ॥ ननु रजतादिस्मरणमिन्द्रियजमेव चेत्तदा लुप्तसंस्कारस्या(१)पि रजतादेर्ज्ञानप्रसङ्गः; किंच, तयोर्धर्मधर्मिणोर्यत्साहचर्यं संम्बन्धस्तस्य दर्शनाद्यः संस्कारो जातः स यस्य लुप्तस्तस्यापि सहचरितं यद्रजतादि धर्मिभूतं तद्विषया त्वन्मतेऽक्षजा प्रतीतिः स्यादित्याह—। [h]"लुप्ते"ति ॥ गूढाभिसन्धेरुत्तरम्—। [i]"तथापी"ति । तादृशस्य=लुप्तसाहचर्यदर्शनजसंस्कारस्य पुंसः, केवलधर्मिगोचरसंस्कारवतः स्मृतिप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ अभिसन्धिमाह—। [j]"तस्मादि"ति । त्वन्मते यत्संस्कारलोपकारणं तदभावविशिष्टादिन्द्रियादेव स्मरणोपपत्तेः किं संस्कारेणेत्यर्थः ।

सू० तदेवम्—

> [a]तत्सदृक्प्रत्यभिज्ञानं(२)यत्ते संस्कारबोधकम् ।
> सहकारि तदेवास्तामक्षस्याऽतिप्रसक्तिनुत् ॥ २८ ॥

'तत्सदृशप्रत्यभिज्ञानं तु स्मर्त्तव्यस्मरणपूर्वकम्'—इत्येतदपि सममेव(३) । * [b]तथाप्यन्यत्रार्थसन्निकर्षमन्तरेणेन्द्रियस्य ज्ञानकरणत्वं नोपलब्धचरम् ? *,—इति चेन्न, [c]विशिष्टरूपेण(४)भ्रमविषये मया तदुपगमात्, [d]सहकारिभूतदोषशक्तेर्वा प्रत्यासत्तित्वेनेष्टत्वात् । [e]किंच, संस्कारस्यापि प्रमाणान्तराऽसहकृतस्य नान्यत्र ज्ञानजनकत्वं दृष्टमिति तदपि कथं कल्प्यते ? ।

---

(१) लुप्तसंस्कारवतः पुरुषस्येत्यर्थः ।

(२) तेन = अनुभूतरजतेन सदृगिदमिति तत्सजातीयसादृश्यज्ञानं यत्ते सिद्धान्ते संस्कारोद्बोधकत्वेनाभिमतं तदेव ममाक्षस्य सहकार्य्यास्तामित्यर्थः । (३) यथा तव मते तत्सदृशप्रत्यभिज्ञानं स्मर्तव्यस्मरणपूर्वकं सत्संस्कारोद्बोधकं तथा मन्मतेऽपि तत् स्मर्तव्यस्मरणपूर्वकं सदिन्द्रियसहकारि भविष्यतीति साम्यमेवेत्यर्थः । (४) अत्र तृतीयाविभक्त्यर्थोऽभेदः, तथा च रजतत्वविशिष्टशुक्त्यभिन्नो यो भ्रमविषयस्तत्र तदुपगमात् = सन्निकर्षमन्तरेणैवेन्द्रियस्य करणत्वोपगमात् । यद्वा विशिष्टरूपेणेत्यस्य लोकविलक्षणप्रकारेणेत्ययमर्थः ।

[f]*प्रत्यभिज्ञाने एव संस्कारस्य सदृशदर्शनादि सहकारि कल्पितं(१)नत्विन्द्रियस्य ? *,-इति चेत् [g]न, प्रत्यभिज्ञाने संस्कारेन्द्रिययोर्द्वयोरपि कारणत्वात्, सदृश(२)दर्शनादिसहकृतत्वदर्शनाविशेषात् ।

टी० ॥ [a]"तत्सदृशे"ति । तस्य=रजतादेः, सदृशं=शुक्त्यादि, तस्य प्रत्यभिज्ञानं=ज्ञानं,(३) तथाच सदृशाऽदृष्टचिन्तासहकृत-मिन्द्रियमेव स्मृतिजनकम्, अतः स्मृतेरनुभवत्वमित्यर्थः ॥ दृष्टा-न्वयव्यतिरेकस्य सन्निकर्षस्याभावाद् रजतस्मरणं नाक्षजमित्या-ह-। [b]"तथापी"ति ॥ [c]"विशिष्टे"ति । भ्रमविषयरजतस्मरण-मक्षजं नेन्द्रियसन्निकर्षमपेक्षते -इत्युच्यते, नत्व(४)नुभवमात्रमि-त्यर्थः, धर्मीन्द्रियसन्निकर्षस्य प्रत्यभिज्ञाने इव प्रकृतेपि सत्त्वा-दिति भावः ॥ येन दोषेण तत्तामोषस्त्वया वाच्यः स एवेन्द्रि-यप्रत्यासत्तिरित्याह-। [d]"सहकारी"ति ॥ विवादपदं रजतस्म-रणं तथापि संस्कारमात्रजं कथं स्यात् ?, संस्कारस्य प्रमाणसा-हित्येनैव प्रत्यभिज्ञानादौ जनकत्वावधारणादित्याह-। [e]"किं-चे"ति ॥ प्रत्यभिज्ञादिदृष्टान्तानुरोधेन चेत्तत्कल्पना तदा तत्र संस्कारस्य सदृशदर्शनादि सहकारी इत्यन्यत्रापि तथैवेति शङ्क-ते-। [f]"प्रत्यभिज्ञाने"इति ॥ तत्रापी(५)न्द्रियसहकारित्वमेव वक्तव्यमित्याह-। [g]"ने"ति ॥

(१) सदृशदर्शनादिसहकृतस्य संस्कारस्य प्रत्यभिज्ञाने एव कारणत्व दृष्टं नेन्द्रियस्येति भावः । (२) सदृशदर्शनादित्यतः प्राक् 'तयोरि'-ति शेषः । अयमाशयः-यथा त्वया प्रत्यभिज्ञायां सदृशदर्शनस्योद्बोधक-विधया संस्कारं प्रति सहकारित्वं वक्तव्यं तथा तत्रेन्द्रियं प्रत्यपि तस्य सहकारित्वं शक्यते एव मयापि वक्तुं, तद्वदेव चान्यत्रापीति । (३) ज्ञानं, तेन सदृगिदमितिसादृश्यज्ञानमित्यर्थः, क्वचित्तु ज्ञानमितिपदं नास्ति । यद्वा शङ्करमिश्रस्य प्रत्यभिज्ञानशब्देनापि मौलिकेन प्रकृते ज्ञानमात्रमेव व्याचिख्यासितं, नतु तेन सदृगिदमित्याकारकं प्रत्यभिज्ञारूपं विशि-ष्टज्ञानमपीति बोध्यम् । (४) अनुभवत्वावच्छिन्नोऽनुभवः सन्निकर्षं नापे-क्षते इति नतूच्यते, इति सम्बन्धः । (५) तत्रापि=सदृशदर्शनादावपि । यद्वा तत्रापि=प्रत्यभिज्ञायामपि, 'सदृशदर्शनादीनामि'ति शेषः ।

मू० *[a]अत्र(१)सदृशदर्शनसहकारित्वे संस्कारसहकारित्वस्यापि प्रसङ्गः प्रत्यभिज्ञानवत्? *,-इति चेन्न, [b]तथा सति तद्वदेव तत्तोल्लेखापत्तेः, [c]सदृशदर्शनादिसहकृतत्वेन च तत्तांशप्रसञ्जने(२)संस्कारजत्वस्योपाधित्वम्। * [d]नच सदृशदर्शनसहकारितैव तत्ताप्रयोजिकेति त्यज्यतां, न संस्कारः-इति युक्तम्*, [e]सदृशदर्शनं परित्यज्य संस्कारे सत्यप्यतथाबोधात्(३)। * [f]तथापि सदर्थे प्राप्यकारित्वमिन्द्रियस्य दृष्टं न हातुं शक्यम्? *,-इति चेन्न। [g]उक्तमत्र यथेन्द्रियस्य प्राप्तिसहकृतस्य ज्ञापकत्वं दृष्टं तथैव संस्कारस्यापि प्रमाणान्तरसहकृतस्य ज्ञापकत्वमुपलब्धमिति तदपि हातुं न युक्तमिति;

टी० ॥ यथा प्रत्यभिज्ञाने सदृशदर्शनमिन्द्रियसहकारि दृष्टं तथा संस्कारोपि तत्रेन्द्रियसहकार्यैवेति कथं रजतस्मृतौ संस्कारहितरस्कृतः? इत्याह-। [a]"अत्रे"ति ॥ संस्कारजत्वे प्रमुष्टतत्ताकं स्मरणमेव न स्यादित्याह-। [b]"तथा सती"ति ॥ ननु संस्कारवत् सदृशदर्शनादेरपि तत्तोलेखसामर्थ्यमविशिष्टमित्यत आह-। [c]"सदृशेति। संस्कारजत्वनिवृत्तया तत्र तत्तोल्लेखनिवृत्तिरित्यर्थः॥ संस्कारजत्वोपाधेः पक्षवृत्तित्वमाशङ्काह-। [d]"नचे-"ति। विवादपदे रजतज्ञाने तत्तोल्लेखो नास्ति, तथाच तन्निवृत्त्या तद्व्याप्यस्य सदृशदर्शनजत्वस्य निवृत्तिरस्तु संस्कारजत्वं च तत्र स्यादेव, तथाच स्मरणमेव प्रमुष्टतत्ताकमिति शङ्कार्थः॥ सदृश-

(१) अत्र=रजतादिभ्रमे, सदृशदर्शनस्येन्द्रियं प्रति सहकारित्वे संस्कारस्यापीन्द्रियं प्रति सहकारित्वप्रसङ्ग इत्यर्थः, भ्रमज्ञाने संस्कारेन्द्रिययोर्द्वयोरपि कारणत्वाविशेषादिति भावः। तथाच संस्कारजत्वाद्रजतादिभ्रमः स्मृतिरेव। यद्वा, अत्र = इन्द्रिये सदृशदर्शनस्य सहकारित्वे संस्कारेपि सहकारित्वस्य प्रसङ्ग इत्यर्थः। (२) भ्रमज्ञानं तत्तोल्लेखि, सदृशदर्शनादिसहकारिजन्यत्वाविशेषादित्यापादने इत्यर्थः।
(३) अतथाबोधात्=स्मृत्यात्मकबोधाभावात्।

दर्शनादिविनाकृतस्य संस्कारस्य स्मृतिजनकत्वं न दृष्टमिति तन्निवृत्त्या (१) संस्कारजत्वमपि निवर्तते इति कथं तत्स्मरणं भवेदिति परिहरति—। [e]"सदृशदर्शनमि"ति ॥ नन्वसन्निकृष्टरजतविषयकं प्रत्यक्षं कथं स्यादिन्द्रियस्य प्राप्यकारित्वात्तथा चागत्यैव तत् स्मरणं मन्तव्यमिति शङ्कते—। [f] "तथापी"ति ॥ प्राप्त्यभावाद् यथा नेन्द्रियं तत्र रजते प्रवर्तते तथा प्रमाणान्तराभावात् संस्कारोऽपि न प्रवर्तते, प्रत्यभिज्ञानादौ मानान्तरसहकृतस्यैव जनकत्वनिर्णयादिति प्रतिबन्दिमाह—। [g]"उक्तमि"ति ॥

सू० [a]"सं(२)स्कारस्यापि चेन्द्रियप्रत्यासत्तित्वस्वीकारेण तद्विरहासिद्धेः । [b]तत्तांशमोषकल्पनं च स्वतन्त्रसंस्कारजत्वपक्ष एव याव(३)दधिकम् । [c]कुतश्चायं तत्तांशमोषः ?–इति विचारमधिकरोति, [d]पूर्वं वर्तमानादिकालविशेषविशिष्टस्य रजतादेरेकस्मिन्ननुभवे प्रकाशिततया तज्जन्येन संस्कारेणापि तथैवो(४)पनेतुमुचितत्वात्; प्रत्यभिज्ञायां तथैव फलदर्शनात् । * दोषवशात्तत्तांशमोषः? *,–इति चेन्न, [e]विषयसंबन्धस्य स्वभावत्वेन(५) संस्कारे तदलोपात् ।

टी० ॥ ननु प्रतिबन्दिरदूषणमित्यत आह—। [a]"संस्कारस्यापी"ति । संस्कार एव मनसः प्रत्यासत्तिरिति मानसमेव रजतज्ञानमित्यर्थः ॥ अक्षनिरपेक्षसंस्कारजत्वे तत्तोल्लेखध्रौव्यमिति दोषान्तरमाह—। [b]"तत्तांशे"ति । यद्यप्यक्षापेक्षसंस्कारजत्वेऽपि प्रत्यभिज्ञायां तत्तोल्लेखो दृष्टः(६)तथापि संस्कारजत्वे तत्तांशमोष-

(१) सदृशदर्शनादिनिवृत्त्येत्यर्थः । (२) पूर्वं प्रत्यासत्त्यभावमभ्युपेत्य दूषणमवादीदानीं तु स एवासिद्ध इत्याह–समिति । (३) स्वतन्त्रसंस्कारजत्वपक्षे एव तत्तांशमोषकल्पनं यावत् ( तावद् ) अधिकमित्यन्वयः । ( ४ ) तथैव=पूर्वकालवैशिष्ट्यरजताद्यर्थं तदुभयविषयकेणैव । (५) संस्कारे विषयसम्बन्धस्य ( =तत्तारूपविषयसम्बन्धस्य ) स्वभावत्वेन–इति सम्बन्धः । (६) "तथा च रजतभ्रमस्यैन्द्रियकत्वेऽपि तत्तोल्लेखेन भाव्यम्"–इति शेषः ।

कल्पनमिह त्वया कर्त्तव्यमिति कल्पनागौरवमित्यर्थः(१) ॥ कल्पयितुमपि न शक्य(२)मित्याह—। c"कुत"इति ॥ सामग्रीबलात्तथाभानध्रौव्यमित्याह—। d"पूर्वमि"ति। अनुभवे यो वर्त्तमानकालो विशेषणतया भासते स एव स्मरणे तत्तया भासते,—इति वस्तुगतिः, तथाच विशेष्यमात्रं स्मर्य्यते नतु विशेषणमपि—इदं कथं स्यादित्यर्थः ॥ यदि दोषस्तत्तया सह प्रत्यासत्तिं विलुम्पति तत्राह—। e"विषये"ति । संस्कारेण सह तत्तायाः स्वभावः प्रत्यासत्तिः, सच संस्काररूपमेव, नच तल्लोपः, तल्लोपे वा विशेष्यस्मृतिरपि न स्यादित्यर्थः ॥

सू० * a"दोषात् स्मृतौ bतथा ? *, —इति चेत्, cकः पुनरसौ दोषः ?। * dयस्माद्भ्रान्त्युत्पत्तिः परेषा(३)म् *, —इति चेत्, eतर्हि 'तद्रजताविशिष्ट(४)मिदं रजतमि'त्यत्र, 'सैव रजतव्यक्तिरियमि'त्यत्र वा, 'पुनस्तदेव रजतमुपस्थितमि'तीह वा fसामान्यत एव रजतस्य तदापि परामृष्टस्य भ्रान्तौ तत्तांशमोषः स्यात्, दोषस्य विद्यमानत्वात् । gअन्यथा 'इदं रजतमि'त्यंशेपि तस्मिन् ज्ञाने तत्तांशमोषो न स्यादित्यास्तामियं hप्रसक्तानुप्रसक्तिः ।

टी० ॥ ननु दोषः संस्कारं न विलुम्पति, किंतु तत्तांशे स्मृतिलक्षणं कार्यं प्रतिबध्नातीत्याह—। a"दोषादि"ति ॥ b"तथे"ति ।

(१) अयंभावः,—संस्कारासहकृतेन्द्रियकज्ञाने तत्तांशमोषो दृष्टः, केवलसंस्कारजन्यस्मरणे तु न स दृष्टः, सोयमदृष्टोपि त्वया कल्प्यते इति तवैव गौरवमिति । (२) "तत्तांशमोषणम्"—इति शेषः ।

(३) परेषाम्=नैयायिकानां—भवतामित्यर्थः, विशेषणताविशेष्यसन्निकर्षेण प्रत्यभिज्ञायां तत्ताप्रत्यक्षवादिना तेनैव कथाया उपक्रान्तत्वात्, अत एवात्र व्याख्यायां भ्रान्तिशब्दस्यान्यथाख्यातित्वेनार्थप्रकाशनमपि श्लिष्टतरम् । यद्वा, परेषां नैयायिकादीनामित्यर्थः, अस्मिन्पक्षे व्याख्यायाम् "अन्यथाख्यातिजनकत्वम्"—इत्यत्रान्यथाख्यातिशब्दस्य विपरीतख्यात्यर्थकतयोपलक्षणतया वाऽख्यातिख्यातिव्यतिरिक्ताश्चतस्रः ख्यातयः सङ्गृह्यन्ते । (४) अविशिष्टम्=सदृशम् ।

लोप इत्यर्थः॥ भवेदेवं यदि दोष एव व्यवस्थितः स्यात्, नचैवमित्याह—। [c]"कः पुनरि"ति॥ अन्यथाख्यातिजनकत्वं दोषत्वमित्याशङ्कते—। [d]"यस्मादि"ति। "यदपि कैश्चिदुच्यते"—इत्यारभ्य प्राभाकरो वादो, नचासावन्यथाख्यातिं मन्यते, इत्यत उक्तम्—"परेषामि"ति॥ [e]"तर्ही"ति। रजतव्यक्त्यन्तरे, शुक्तौ वा, यत्रैवंप्रकारो भ्रमस्तत्रापि तत्तामोषः स्यादित्यर्थः॥ ननु तच्छब्देन वणिग्वीथ्यादिदृष्टरजतविशेषपरामर्शे विशेषदर्शनान्नायमाकारो भ्रमस्येति कुतस्तत्तामोष आपाद्यते, इत्यत उक्तम्—। [f]"सामान्यत एवे"ति। तदा=तच्छब्देन सामान्याकारेणैवोपस्थितं रजतं परामृश्यते न तु पुरोवर्तिविलक्षणाकारेणेत्यर्थः॥ ननु तत्तांशे स्मृतेरप्रतिबन्धात् त्वदुदाहृतज्ञानस्थले दोष एव नास्तीत्यत आह—। [g]"अन्यथे"ति। 'तदेवेदं रजतमि'तिज्ञानं 'तदेवेदमि'तिप्रत्यभिज्ञानं नरसिंहाकारं, 'रजतमि'त्याकारस्तु स्मरणमेव; अन्यथा रजताभेदग्रहेऽन्यथाख्यात्यापत्तेः, तथाच यदि दोषो नास्ति तदा रजतांशेऽपि तत्तामोषो न स्यादित्यर्थः॥ [h]"प्रसक्ते"ति। प्रमाखण्डनमुपक्रान्तं, तत्प्रसक्तं प्रत्यभिज्ञानखण्डनं, तदनुप्रसक्तं दोषखण्डनमित्यर्थः॥

सू० *[a]नच प्रत्यभिज्ञा नाम स्मरणानुभवाभ्यामन्य एव प्रकार-इति वाच्यम्*, [b]अननुभवत्वेनाप्रमात्वापातात्। * [c]नचैवमस्त्वित्यपि वाच्यम्*, [d]अक्षणिकत्ववादिना स्थिरसिद्धौ प्रमात्वेनोपन्यस्तत्वात्; [e]ईदृशप्रसिद्धलक्ष्यत्यागेन च लक्षणोपपादनेऽनियमः प्रसज्येतेति। [f]तस्माज्जातिवाचिनो(१)ऽनुभवपदस्य स्मृतितो व्यवच्छेदार्थमुपादानम्-इति सर्वथानुपपन्नमिति। [g]नापि स्मृत्यन्यत्वमनुभवार्थः, नापि स्मृतिलक्षणरहितत्वम्, उक्तक्रमेण स्मृत्यनुभूतिसङ्करस्य दर्शितत्वेन व्यवच्छेदकत्वानुपपत्तेः। इतोऽपि न स्मृत्यन्यत्वमनुभवार्थः, तथाहि—

(१) जातिवाचिनः = मीमांसकमतेऽनुभवत्वात्मकजातिवाचिनः।

टी० ॥ चित्ररूपमिव प्रत्यभिज्ञानं स्मरणानुभवविलक्षणमेवेत्यपि नेत्याह—। [a]"नचे"ति ॥ "तत्त्वानुभूतिः प्रमे"तिप्रमालक्षणादननुभवत्वेनाप्रमात्वापात इत्याह—। [b]"अननुभवत्वेने"ति ॥ ननु स्मृतिवत्(१)प्रत्यभिज्ञानमपि यथार्थमात्रं नतु प्रमापीत्यत आह—। [c]"नचैवमि"ति ॥ [d]"अक्षणिकत्ववादिने"ति। योऽहमन्वभूवं सोऽहं स्मरामीत्यादिप्रतिसन्धानस्यात्मादिस्थैर्यसाधनत्वेन त्वयोपन्यस्तत्वादित्यर्थः ॥ यत्रयत्रातिव्याप्ति—(२) स्तत्तद्यदि त्याज्यमेव तदा परमार्थव्यवस्थैव (३)न स्यादित्याह—। [e]"ईदृशेति" ॥ अनुभवत्वस्य स्मृतिव्यावृत्तजातेरनुपपत्तौ 'तत्त्वानुभूतिः प्रमे'तिलक्षणेनुभूतिपदमव्यावर्तकमेवेत्युपसंहरति—। [f]"तस्मादि"ति ॥ अनुभवत्वं जातिर्मास्तु, स्मृत्यन्यज्ञानत्वलक्षणमुपाधिरस्तु, नहि तत्रापि जातिसाङ्कर्यभयमित्यत आह—। [g]"नापी"ति। "तत्सदृक्प्रत्यभिज्ञानं यत्तु संस्कारबोधकम्"—इत्यादिना सर्वासां स्मृतीनामनुभवत्वव्युत्पादनेन ज्ञानमात्रमनुभव इति(४) प्रमालक्षणेऽनुभवपदव्यवच्छेदकत्वानुपपत्तिरित्यर्थः। यद्वा, स्मृतीनामनुभवत्वव्युत्पादनेन 'स्मृत्यन्यत्वमि'त्यत्र स्मृतिपदव्यवच्छेद्यानुपपत्तिरित्यर्थः ॥

सू० स्मृत्यन्यत्वं [a]यत्किञ्चित्स्मरणान्यता वा ?–१ सर्वस्मृतिव्यक्त्यन्यता वा ?–२ स्मृतित्वरहितत्वं वा ?–३ अभिप्रेतम्। [b]प्रथमे तु स्मृत्यन्तरव्यतिरेकात्स्मृत्यन्तरमप्यनुभूतिः स्यात्, नहि यतो (५)व्यतिरिक्ता

(१) यथाभूतार्थावगाहिस्मृतिवदित्यर्थः। (२) यत्रयत्र प्रत्यभिज्ञादौ, अतिव्याप्तिः—अप्रमालक्षणस्य प्रमालक्षणस्य त्वव्याप्तिरेवेति ध्येयम्, तत्तत् = प्रत्यभिज्ञादिकं, यदि त्याज्यम् = प्रमालक्षणाऽलक्ष्यत्वेन स्वीकरणीयमित्यर्थः। (३) "पदार्थव्यवस्थैव"—इति तु पुस्तकान्तरस्थः पाठः। (४) इतिशब्दो हेत्वर्थे, यस्माज्ज्ञानमात्रमनुभवस्तस्मात् "तत्त्वानुभूतिः प्रमा"-इतिप्रमालक्षणेऽनुभवार्थकाऽनुभूतिपदनिष्ठव्यवच्छेदकत्वस्यानुपपत्तिरित्यर्थः। अनुभवपदमित्यापाततः, "तत्त्वानुभूतिः प्रमे"ति पूर्वोक्तप्रमालक्षणेऽनुभवपदाभावात्। यद्वा, "यथार्थानुभवः प्रमे"तिवक्ष्यमाणलक्षणाऽभिप्रायेणानुभवपदं प्रयुक्तम्। (५) यतः स्मरणव्यक्त्यन्तरादेका स्मृतिव्यक्तिर्व्यतिरिक्ता तत्स्मरणमेव न भवति (इति) नहीत्यन्वयः।

स्मरणव्यक्त्यन्तरादेका स्मृतिव्यक्तिस्तत् स्मरणमेव न भवति येन तदन्यत्वं न स्मृत्यन्यत्वं स्यात् । नापि द्वितीयः । मदीयादिस्मृतिव्यक्तिभ्यो हि भवता कथङ्कारं व्यतिरिक्तत्वमवधारणीयम् प्रमायाः ?, तासां भवता प्रत्येतुमशक्यत्वात् । तथाहि,-न तावत् परकीयज्ञाने परस्या[c]स्मादृशोऽध्यक्षसम्भवः, नाप्यनुमानार्थापत्ती, लिङ्गानुपपद्यमानयोः सर्वत्रार्वाग्दृशा प्रत्येतुमशक्यत्वात्; नापि शब्दः,[d]सर्वत्र तस्यासम्भवात् । [e]उपमानाद्यसम्भवोपि स्फुट एव, ततः कथं सर्वाभ्यः स्मृतिव्यक्तिभ्यो व्यतिरेकोनिरूप्यः प्रमायाः ? इत्यबोधादसिद्धिर्लक्षणस्य ।

टी० ॥ [a]"यत्किञ्चिदि"ति । स्मृतिविशेषान्योन्याभाववत्त्वमित्यर्थः ॥ [b]"प्रथमे" इति । स्मृतिविशेषान्योन्याभाववत्त्वं स्मृतिविशेषे गतमिति सोप्यनुभवः स्यादित्यर्थः ॥ [c]"अस्मादृश" इति । अयोगिन इत्यर्थः । यद्यपि सर्वस्मृत्यनुपस्थितौ "तासां सर्वासामि"ति तवाप्यभिधानमनुपपन्नम्, उपस्थितौ वा ममापि तदुपस्थितिः स्यात्, तथापि विशिष्य प्रतियोगितावच्छेदकेन प्रकारेण(१)तदुपस्थितिरशक्येत्यर्थः ॥ [d]"सर्वत्रे"ति । नहि स्मृत्यन्यत्वग्रहदशायामवश्यं तादृशः शब्दो(२)स्तीत्यर्थः ॥ [e]"उपमाने"ति । उपमानस्य सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसंबन्धमात्रपरिच्छेद(३)फलकत्वेन सर्वस्मृत्युपस्थापकत्वायोगात्(४) । आदिपदादैतिह्या-(५)

(१) तत्तत्स्मृतित्वेन प्रकारेणेत्यर्थः । (२) तादृशः शब्दः = तत्तच्चैत्रमैत्रादिस्मृतिवाचकः शब्दः । (३) परिच्छेदोऽवधारणम् । (४) 'स्मृतिः स्मृतिपदवाच्या'-इत्याकारकवाच्यवाचकभावसम्बन्धमात्रज्ञानरूपत्वादुपमानस्य तत्कारणीभूतं स्मृत्यात्मकसम्बन्धिज्ञानं ततः पृथगेव वक्तव्यं नच तदुपमानमिति भावः । (५) इति ह इत्येवैतिह्यं, स्वार्थे तद्धितप्रत्ययात्; इति (=एवम्) ह (= स्फुटम्) आसीदित्येतदर्थबोधकं यत्तदैतिह्यम्, यथा 'इह वटे यक्षस्तिष्ठती'ति पारम्परिकं वाक्यं, तस्यापि स्मृत्यन्यत्वग्रहदशायां नियतं प्रागसम्भव एव ।

दिमङ्ग्रहः, सर्वमतखण्डनस्योपक्रान्तत्वात् ॥

मू० *[a] नच वाच्यम् स्मृतित्वेन सर्वाः स्मृतिव्यक्तयः सर्वकालसर्वपुरुषसंबन्धिन्यः स्वात्मीयां(१)स्मृतिव्यक्तिं प्रत्यक्षयताप्रत्यक्षादेवावगम्यन्ते सामान्यलक्षणयेन्द्रियप्रत्यासत्त्या व्याप्तिग्रहणकाले इव व्याप्यव्यापकव्यक्तय इति*, [b]दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्दोषग्रस्तत्वात् । [c]तथा सत्येकं प्रमेयं प्रत्यक्षयतः प्रमेयत्वसामान्यप्रत्यासत्त्या विश्वमेव प्रत्यक्षं स्यात्, [d]एवमभ्युपगच्छतश्च श्रद्दधीमहि ते सार्वज्ञ्यमिदं यदि जानासि किमस्मच्चेतसि विपरिवर्तते इति । नापि तृतीयः । स्मृतित्वरहितत्वं हि स्मृतित्वाभाववत्त्वं वा स्यात् ?-१ स्मृतित्व(२)प्रतियोगिकमाश्रयस्य स्वरूपं वा ?-२ तज्ज्ञानं वा ?-३ न तावदाद्यः । तथाहि, स्मृतित्वान्योन्याभावोपि स्मृतित्वाभावो भवत्येव, तद्वत्त्वं स्मृतिष्वप्यस्ति,

टी० ॥ ननु स्मृतित्व यत्सामान्यं तद्विशेषणतया(३)सर्वैः सर्वाः स्मृतयो ग्रहीतुं मनसैव शक्याः, कथमन्यथा धूमत्वविशेषणतयाऽतीतानागतमकलधूमव्यक्तयो भासन्तां, दृश्यते हि पक्षवर्तिनो धूमादनुमिति, सा च सामान्यलक्षणामन्तरेण न स्यादित्याह-। [a]"नचे"ति ॥ सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तेरतिप्रसञ्जक-

(१) स्वात्मीयां स्मृतिव्यक्तिं प्रत्यक्षयता स्मृतित्वेन सर्वाः स्मृतिव्यक्तयः सामान्यलक्षणया इन्द्रियप्रत्यासत्त्या प्रत्यक्षादेवावगम्यन्ते व्याप्तिग्रहणकाले व्याप्यव्यापकव्यक्तय इवेति न च वाच्यमित्यन्वयः । (२)प्राभाकरस्य मतेऽभावस्याधिकरणात्मकत्वेनानुभूतौ स्मृतित्वराहित्यं स्मृतित्वप्रतियोगिकमाश्रयस्यानुभूतेः स्वरूपमेवेत्यभिप्रेत्य पृच्छति-स्मृतित्वेति । तज्ज्ञानम् = स्मृतित्वप्रतियोगिकं यदाश्रयस्य स्वरूपं तज्ज्ञानमित्यर्थः । (३) 'तद्विशेषणतया'-इति बहुव्रीहिः, सामान्यविशेषणकतयेत्यर्थः । एवमग्रेधूमत्वविशेषणतयेत्यत्रापि बोध्यम् ।

तया प्रमाणाबाधितत्वाद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकावनुपपन्नाविस्याह-। [b]"दृष्टान्ते"ति ॥ अतिप्रसङ्गमेवाह-। [c]"तथा सती"ति ॥ ननु प्रमेयत्वसामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या विश्वं प्रत्यक्षमेवेत्यत आह-। [d]"एवमि"ति । प्रमेयत्वेन यदि विश्वमेव प्रत्यक्षं तदा सर्वस्य हृदि स्थितं परेण ज्ञायेत; *नच तदपि प्रमेयत्वेन ज्ञायते एवेति वाच्यम्*, घटत्वादिनापि ज्ञानप्रसङ्गात्, घटघटत्वतद्विशिष्टयानां प्रमेयत्वलक्षणप्रत्यासत्त्या सन्निकृष्टत्वात्; *सामान्यलक्षणायाः प्रत्यासत्तेरयं महिमा—यदेव सामान्यं प्रत्यासत्तिस्तत्प्रकारकमेव ज्ञानं तया जन्यते इति प्रमेयत्वेन परहृदयगतज्ञानं, नतु घटत्वेन*,—इति चेत्तर्हि यदि घटत्वमिन्द्रियसन्निकृष्टं, परस्यापि हृदि घट एव, तदा 'घटं जानामी'त्युत्तरापत्तेः;* परमनोगतस्यापि घटस्य तत्र घटत्वेन ज्ञानमस्त्येव तन्मनोगतत्वेन तु तत्र ज्ञानं नास्ति तन्मनोगतत्वस्य सामान्यस्याप्रत्यासत्तित्वात् *,—इति चेन्न, नियामकाभावात; नहि भासमानत्वे सत्यपि प्रकारं प्रति विशेषः(१) कश्चिदस्ति; * नचानागतपाकप्रवृत्तेर्ज्ञानसाध्यतया तत्र च प्रमाणान्तरस्य तदानीमभावादगत्या सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिरिति वाच्यं*, ज्ञानेच्छाप्रयत्नानां समानविषयतामन्तरेणापि समानप्रकारकतयैवोपपत्तेः(२);* नच

(१) अयं भावः,-परमनोगतस्य घटस्य घटत्वेन भाने जिज्ञासायां सत्यां कदाचित् तन्मनोगतत्वेनापि भानं प्रत्युत्तरणं चावश्यकम्, नहि भूतले घटत्वेन घटज्ञानवान् भूतलस्थत्वजलस्थत्वादिजिज्ञासायां तथाविधं प्रकारं न प्रतिपद्यते, प्रकृते तु शतशोऽपि जिज्ञासायां तन्मनोगतत्वं नैव प्रतिपद्यते इति घटत्वेन घटस्य भासमानत्वे तन्मनोगतत्वादिलक्षणं प्रकारान्तरं प्रत्यभासमानत्वं विशेषो न युक्त इति । (२) सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिवादिमते वर्तमानपाकव्यक्तिं पश्यता तद्गतपाकत्वलक्षणसामान्यलक्षणप्रत्यासत्याऽनागतपाकव्यक्तिरपि तत्क्षणे दृष्टैव, तथाच तत्र प्रथमत इष्टसाधनताज्ञानं, तत इच्छा, ततः प्रवृत्तिश्चोपपद्यते; खण्डनिकमते तु ज्ञानेच्छाकृतीनां समानविषयतानियम एव नास्ति, समानप्रकारताया एव नियमः, तथा च वर्तमानपाकव्यक्तिदर्शनकाले तद्व्यक्तिमात्रविषयकमेव ज्ञानं, नतु पाकत्वलक्षणसामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिबलादनागतपाकव्यक्तिविषयकमपि, कृतिश्चाशित तद्विषयिणीति ज्ञानकृत्योरसमानविषयत्वेपि समानपाकत्वप्रकारता न व्याहन्यते इति भावः ।

व्यभिचारशङ्कार्थं सामान्यलक्षणा, नह्यनुपस्थितधूमे वह्निवैयधिकरण्यं शङ्कितुं शक्यमित्यनागत(१)धूमज्ञाने सति व्यभिचारशङ्कायाः संभवादिति वाच्यम् *, अयं धूमो वह्निजन्यो न वेति वह्निजन्यत्वसन्देहस्यैव व्यभिचारशङ्कात्वात्, तस्य चोपस्थितधूमे एव संभवात्, नहि सामानाधिकरण्यमात्रं(२)कार्यकारणभाव इति भावः ॥

सू० ततश्च स्मृतेरपि [a]तथात्वापत्तेः, तदव्यवच्छेदाद् [b]विशेषणवैयर्थ्यं च; [c]विना विशेष्यमिच्छादावपि प्रसङ्गात् । * स्मृतित्वस्य संसर्गाभावस्तत्र विवक्षितः *,-इति चेन्न, तथाहि 'स्मृतित्वस्य संसर्गाभावः'-इति किमुच्यते ?, किं स्मृतित्वस्य संसर्गाभावः(३) ? उत संसर्गविशिष्टस्य स्मृतित्वस्य ? अथान्यदेव वा किञ्चिदनया वाग्भङ्ग्या विवक्षितम् ?-। आद्ये स्मृतित्वसंसर्गस्यान्योन्याभावः स्मृतावस्तीति स एव प्रसङ्गः(४), नहि स्मृतित्वसंसर्गः स्मृतिः । अत एव न द्वितीयोपि, [d]नहि संसर्गविशिष्टं यत् स्मृतित्वं तदेव स्मृतिव्यक्तिः, ततश्च संसर्गविशिष्टस्मृतित्वेन सह स्मृतिव्यक्तेरन्योन्याभावमादायोक्तदोषाऽनिवृत्तिः ।

(१) अनीतानागतेति त्वत्र युक्तं पाठमुत्पश्यामः, उपलक्षणं वानागतपदमतीतस्यापि ।

(२) वह्नित्वावच्छिन्ननिरूपितधूमत्वावच्छिन्ननिष्ठसामानाधिकरण्यलक्षणव्याप्त्यभिन्न एव यद्युपस्थितवह्निधूमयोः कार्य्यकारणभावः स्यात्तदा वह्निजन्यत्वसन्देहस्य व्यभिचारशङ्कात्वेपि तदर्थं सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिरवश्यमपेक्ष्येत न त्वेतदस्तीत्याह-'नहि सामानाधिकरण्यमात्रमि'ति, उपस्थितधूमे उपस्थितवह्निसामानाधिकरण्यस्योपस्थितवह्निधूमीयकार्य्यकारणभावसमनियतत्वात्कथञ्चिदभिन्नत्वेन 'सामानाधिकरण्यमात्रमि'त्युक्तम् । (३) "स्मृतित्वविशिष्टस्य संसर्गस्याऽभावः"-इत्यपि क्वचित्पाठः । (४) स एव प्रसङ्गः=स्मृतावनुभूतित्वप्रसङ्गो विशेषणानर्थक्यप्रसङ्गो वा ।

टी० ॥ [a]"तथात्वापत्ते"रिति । अनुभवत्वापत्तेरित्यर्थः ॥ [b]"विशेषणवैयर्थ्यं चे"ति । स्मृत्यन्यज्ञानत्वमनुभवत्वमुक्तं तत्र ज्ञाने स्मृत्यन्यत्वविशेषणस्य वैयर्थ्यं, विशेषणे सत्यपि स्मृतावतिव्याप्तेर्दुर्वारत्वादित्यर्थः । यद्वा, प्रमालक्षणे(१)नुभवत्वस्य विशेषणस्य वैयर्थ्यं, स्मृत्यनुभवविवेकाभावादित्यर्थः ॥ ननु तत्त्वविषयत्वमेवास्तु प्रमालक्षणं किमनुभवेन विशेष्येणेत्यत आह-। [c]"विने"ति । एवं सति न केवलं स्मृतावतिव्याप्तिः, किं तर्हि ? इच्छादा(२)वप्यतिव्याप्तिरेवेत्यर्थः । यद्वा, ननु स्मृत्यन्यज्ञानत्वमित्यत्र ज्ञानमपि विशेष्यं त्यज्यतामित्यत आह-। "विने"ति ॥[d]"नही"ति । संसर्गविशिष्टस्मृतित्वस्यान्योन्याभावः सर्वस्मृतिव्यक्तिष्वनुगत इति विशेषणवैयर्थ्यं तदवस्थमेवेत्यर्थः ॥

सू० [a]एवं तत्र तत्रापि संसर्गविशेषणप्रक्षेपे दोषाऽनिवृत्तिरेव, अनवस्थायां वा पर्यवसानं विशेषणप्रक्षेपपरम्परायाः । [b] * नच वाच्यं स्मृतित्वसंसर्गस्य न संसर्गान्तरेण संबन्धित्वं किंतु स्वभाव एव, तत्कुतः परम्परागवेषणं कार्यमिति *, स्मृतित्वसंसर्गस्यान्योन्याभावमादाय कृतस्य प्रसङ्गस्य परिहर्तुं तदानीं सुतरामशक्यत्वात्, [c]संसर्गान्तरविशेषणवचनस्याधिकार्यपर्य्यवसायित्वात्* । [d]किञ्च,(३)तदुभयस्वरूपातिरेकं तत्संसर्गस्यामन्यमानेन स्मृतित्वसंसर्गः स्मृ-

(१) "तत्त्वानुभूतिः प्रमा"-इतिप्रमालक्षणे इत्यर्थः ।

(२) इच्छादौ, यथाभूतार्थगोचरेच्छादावित्यर्थः । (३) एवं स्मृतित्वसंसर्गस्य संसर्गाभावमनुभूतावभ्युपगम्य तद्दृष्टान्तेन स्मृतावतिव्याप्तिरवादि सम्प्रति तु सोपि नानुभूतौ सिद्ध्यतीतिलक्षणस्याऽसम्भवदोषमाह-किञ्चेति, तदुभयस्वरूपातिरेकम्-स्मृतित्वस्य यः समवायात्मकः संसर्गो यश्च स्मृतित्वात्मकधर्मसहितो धर्मी (=स्मृतिः) केवलो वा,-एतदुभयस्वरूपातिरेकं, तत्संसर्गस्य=स्मृतित्वसंसर्गस्याऽमन्यमानेनेत्यर्थः । एवं च स्मृतित्वसंसर्गः स्मृति-स्मृतित्व-स्वात्मकसमवायैतत्त्रितयस्वरूपो निष्पन्नः, तथा चानुभूतौ कथं तत्त्रितयात्मकस्य संसर्गस्य निषेधः, स्मृतित्वस्य,

तित्वधर्मि(१)स्वरूपं चेत्येतयोः संसर्गात्मकत्वे व्यवस्थाप्यमानेऽनुभूतौ कथं तादृशस्य संसर्गस्य निषेधः? किमनुभूतेः स्वरूपं नास्ति? उत स्मृतित्वसंसर्गस्य?, ततः कस्य निषेधः? (२)।

टी० ॥ ननु स्मृतित्वसंसर्गस्यान्योन्याभावमादाय स्मृतिषु प्रसङ्गो न भवति, यतः (३) स्मृतित्वसंसर्गस्यापि संसर्गाभाव एव स्मृतित्वरहितत्वं, तच्च न स्मृतिषु, तत्र स्मृतित्वसंसर्गस्य विद्यमानत्वादित्यत आह—। [a]"एवमि"ति। अपरापरसंसर्गप्रक्षेपे चरमसंसर्गस्यान्योन्याभावमादाय स्मृतौ प्रसङ्गतादवस्थ्यमविश्रान्तौ चानवस्थैवेत्यर्थः ॥ ननु स्मृतित्वसंसर्गे संसर्गान्तरं नास्ति, किंतु स्वरूपसंबन्धेनैवाऽसौ संसृष्टः, तथाच नानवस्थेत्यत आह—। [b]"नच वाच्यमि"ति। स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावात्संसर्गाभावस्य संसर्गान्तरविशेषणद्वारा कथञ्चिद्भेदो भवेत्तदभावे तु भेदकाभावात्तदन्योन्याभावमादाय सुतरां प्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ तदेवाह—। [c]"संसर्गान्तरे"ति ॥ किञ्च, स्मृतित्वरहितत्वं—स्मृतित्वसंसर्गनिषेधः, स्मृतित्वसंसर्गश्च तव स्मृतित्वं धर्मिस्वरूपं (४)चेत्यत्र पर्यवसन्नं, तादृशश्च स्मृतित्वसंसर्गोऽनुभवस्याप्यस्तीति न तन्निषेधस्तत्र संभवतीति पुनरपि विशेषणवैयर्थ्यादिकमेवेत्याह—। [d]"किञ्चे"ति ॥

---

स्मृतौ स्मृतित्वसमवायस्य, अनुभूत्यात्मकधर्मिणश्चेतित्रयाणामपि यथायथं स्वरूपतः सत्त्वात्, यद्यप्यनुभूतिर्न स्मृत्यात्मकधर्मिस्वरूपा, तथापि धर्मित्वेन धर्मिविवक्षया दोषस्तदवस्थ एवेति भावः। अत एव च न स्मृतित्वसंसर्गस्य संसर्गाभावोऽप्यनुभूतौ, नहि भूतले संयोगेन घटसद्भावकाले घटसंयोगस्याभाव इत्यलमनल्पविस्तरेण। (१) स्मृतित्वधर्मिस्वरूपम्=स्मृतित्वस्य यो धर्मी (स्मृतिः) तत्स्वरूपं; यद्वा, स्मृतित्वं च धर्मी च स्मृतित्वधर्मिणौ तयोः स्वरूपं (स्मृतिस्मृतित्वोभयस्वरूपमितियावत्), विद्यासागरकृतव्याख्यानुसारिपाठे तु स्मृतित्वेतिपदं न दृश्यते, केवलं तदघटित एव "स्मृतित्वसंसर्गो धर्मिस्वरूपं चेत्येतयोः संसर्गात्मकत्वे व्यवस्थाप्यमाने"-इति पाठः। (२) 'द्वयोरपि स्वरूपेण सत्त्वाद्'-इति शेषः।
(३) यतः स्मृतित्वरहितत्वं-स्मृतित्वसंसर्गस्यापि संसर्गाभाव एव-इत्यन्वयः।
(४) 'स्मृतित्वं धर्मिस्वरूपं चे'त्युपलक्षणं स्वात्मकसंसर्गस्यापि, स्मृतित्वसंसर्गस्मृतित्वधर्मिस्वरूपैतदुभयात्मकत्वस्यैव प्रक्रान्तत्वात्।

मू० [a]अर्थान्तरभूतस्य च संसर्गस्य निषेधे स्मृतावपि प्रसङ्गस्तदवस्थः, स्मृतौ तस्यार्थान्तरभूतस्य भवतानभ्युपगमात्। स्वरूपमेव तयोः ([1])संबन्ध इति हि तत्र भवतोऽभ्युपगमः। [b]अथोच्यते, * अनुभूतिस्मृतित्वसंसर्गयोः स्वरूपसंभवेपि न परस्परसंबद्धबुद्धिजनकत्वं तयोः, तादृक्त्वं ([2]) च यत्र तयोस्तत्र संबन्धात्मकत्वं स्वरूपयोरुच्यते*,-इति, मैवम्, [c]विशेषोपसंग्राहकासिद्धौ तस्याप्यनुपपत्तेः।

टी० ॥ ननु स्मृतित्वसंसर्गो न निषिध्यते किंतु स्मृतित्वसंसर्गस्यार्थान्तरभूतः संसर्गोनुभवे निषिध्यते तथाच स्मृतित्वरहितत्वं([3])न स्मृतौ किंत्वनुभवे तदस्तीत्यत आह-। [a]"अर्थान्तरभूतस्ये"ति। त्वदभ्युपगमरीत्या स्मृतावप्यर्थान्तरभूतः स्मृतित्वसंसर्गस्य संसर्गो नास्तीति पुनरपि स्मृतौ प्रसङ्गो दुर्वार इत्यर्थः। *स्मृतौ स्मृतित्वमस्त्यनुभूतौ च तदत्यन्ताभावः?*-इति चेत्, स्मृत्यनुभवयोर्विशेषाभिधानमतन्त्रमेव, यतः स्मृतित्वस्याप्यनुभूतित्ववदुपप्लावनीयत्वात् ([4]); 'अत्यन्ताभावः'-इति च यद्यात्यन्तिकोऽभावस्तदा स्मृतावपि स्मृतित्वस्यात्यन्तिक एवान्योन्याभावोऽस्तीति प्रसङ्गतादवस्थ्यं, यदि च नित्यः संसर्गाभावोऽत्यन्ताभावः,तदा संसर्गान्योन्याभावमादाय कृतस्य प्रसङ्गस्यापरिहार एवेति भावः॥ नन्वनुभूतेः स्वरूपं स्वरूपमेव, स्मृतित्वसंसर्गस्यापि स्वरूपं स्वरूपमेव, नच तदुभयं स्वरूपं संबन्धात्मकं, परस्परोपश्लिष्टप्रत्ययजनकयोरेव स्वरूपयोः स्वसंबन्धात्मकत्वाद्, उपश्लिष्टप्रत्ययश्च स्मृत्यैव समं स्मृतित्वसंसर्गस्य नत्वनुभूत्यापीति शङ्कते-। [b]"अथोच्यते" इति॥ स्वरूपविशेषस्मृतौ स्मृतित्वसंसर्गं वा

(१) तयोः = स्मृतिव्यक्तिस्मृतित्वयोः। (२) तादृक्त्वं=परस्परसम्बद्धबुद्धिजनकत्वम्। (३)स्मृतित्वरहितत्वम्=स्मृतित्वसंसर्गनिषेधः।

(४) 'अन्योन्याभावसंसर्गाभावभेदव्यवस्थितौ"-इतिकारिकाया अग्रे कियद्दूरे "गृहीतस्य ज्ञानं स्मृतिरिति च स्मृतिलक्षणे धारावाहिकज्ञानेऽतिप्रसक्तिः"-इत्यादिमूलग्रन्थेनोपप्लावनीयत्वादित्यर्थः।

सह यदुपश्लिष्टप्रत्ययजनकत्वं तदुपग्राहकमवच्छेदकं चेन्नास्ति तदा तस्यापि (=उपश्लिष्टप्रत्ययजनकत्वस्यापि) अनुपपत्तिरित्याह—। [c]"विशेषे"ति ॥

सू० [a]उपसङ्ग्राहकान्तरोक्तौ तत्सम्बन्धेपि प्रसङ्गेनापरापरोपसङ्ग्राहकगवेषणायामनवस्थापातात्, [b]एतावतापि(१)चानुभूतिस्वरूपे कस्य निषेधो वर्णितः स्यात् ?। * [c]"स्मृतित्वसंसर्गानुभूती संबद्धे"—इत्येवंरूपबुद्धिजनकत्वस्य * ?-इति चेन्न, [d]भ्रान्त्यात्मिकाया ईदृशबुद्धेर्जनकत्वस्य वारयितुमशक्यत्वात्। *यथार्थायाः ?*,-इति चेत्, [e]ईदृशबुद्धेर्यथार्थाया यदि सत्त्वमभ्युपैषि तदानुभूतौ स्मृतित्वप्रसङ्गः, अथ नाभ्युपैषि, किं प्रति(२)तस्या जनकत्वाभावो निरूप्यः?।

टी० ॥ यदि स्मृतौ तदुपश्लिष्टप्रत्ययजनकत्वं प्रति किंचिदवच्छेदकमनुगतं वाच्यं, तदा तेनापि संबन्धः स्वरूपमेव वाच्यं, तत्रापि तदुपग्राहकपरम्परानुसरणेऽनवस्थेत्याह—। [a]"उपसङ्ग्राहके"ति ॥ अनुभूतौ स्मृतित्वसंसर्गो नास्तीत्यत्रान्योन्याभावमादाय कृतः प्रसङ्गस्तदवस्थ एवेत्याह—। [b]"एतावतापी"ति। स्मृतित्वसंसर्गनिषेधस्य वर्णयितुमशक्यत्वादिति भावः॥ ननु 'स्मृतित्वसंसर्गस्मृती संबद्धे'—इतिबुद्धिरस्ति, 'स्मृतित्वसंसर्गानुभूती संबद्धे'—इतिबुद्धिर्नास्ति, तथाचैतादृशबुद्धिजनकत्वस्यैव निषेधोऽनुभवे क्रियते, इति शङ्कते—। [c]"स्मृतित्वे"ति ॥ 'अनुभवोपि स्मृतिरेवे'तिभ्राम्यतः 'स्मृतित्वसंसर्गानुभूती संबद्धे'-इतिबुद्धिः संभवत्येवेति तज्जनकत्वस्यानुभवे निषेद्धुमशक्यत्वमिति परिहरति—। [d]"भ्रान्ती"ति ॥ 'स्मृतित्वसंसर्गानुभूती संबद्धे'—इतीदृशप्रमाजनकत्वमनुभवे यदि निषिध्यते तदा निषेध्यस्य क्वचिदपि

(१) सम्बद्धबुद्धिजनकत्वमेव स्मृतिस्मृतित्वसंसर्गयोर्न सम्भवति नियामकाभावादित्युक्तमिदानीं तदभ्युपगमेप्यनुभूतिलक्षणस्यासिद्धिरित्याह-एतावतेति। (२) किं प्रति = किं प्रतियोगिनं प्रति, तस्याः = तादृशानुभूतिनिष्ठः।

सिद्धौ स्मृतित्वसंसर्गोऽनुभवे सिद्ध एवेत्याह-। [e]"ईदृशी"ति ॥

सू० [a]अथात्यन्तासतीमेतादृशबुद्धिं प्रति जनकत्वाभावावधारणमनुभूतेरभ्युपैषि [b]तदा स्मृतावपि प्रसङ्गः, [c]यावत्यस्तद्बुद्धयस्तत्र जायन्ते तदधिकां तादृशबुद्धिमत्यन्तासतीं प्रत्यजनकत्वस्य स्मृतावपि संभवात् । * [d]सर्वामेव तादृशबुद्धिं प्रत्यजनकत्वमनुभूते, र्नत्वेवं स्मृतेः * ?-इति चेन्न, [e]सर्वतद्व्यक्तिप्रमित्यसम्भवात् । [f]किंच, 'सर्वामि'ति कोर्थः ? किमसतीं सर्वाम् ?, उत सतीम् ?, उत सतीमसतीं चेत्युभयीं प्रत्यजनकत्वम् ?। [g]आद्ये द्वितीये च स्मृतावपि तदजनकत्वमस्त्येव, नहि (१) 'स्मृतित्वसंसर्गस्मृती संबद्धे'-इति यावत्यः स्मृतिव्यक्तिषु बुद्धय उत्पद्यन्ते ताः प्रति प्रत्येकं स्मृतिव्यक्तिषु जनकत्वमस्ति (२) ।

टी० ॥ नन्वेतादृशी बुद्धिः क्वचिदपि नास्त्यत एवानुभूतौ तादृशबुद्धिजनकत्वं निषिध्यते इति शङ्कते- [a]"अथे"ति ॥ अत्यन्तासत्यास्तादृशबुद्धेर्जनकत्वं स्मृतावपि नास्तीति स एव प्रसङ्ग इति परिहरति-। [b]"तदे"ति ॥ ननु यथाऽनुभूतौ स्मृतित्वसंसर्गज्ञानमसत् न तथा स्मृतौ, तथाच कथमत्यन्तासत्तादृशबुद्धिं प्रत्यजनकत्वं स्मृतावपीत्यत आह-। [c]"यावत्य"इति । स्मृतौ स्मृतित्वसंसर्गबुद्धयः सत्यो भवन्तु तेनैवा (३)सतीं तादृशबुद्धिं प्रत्य-

(१) असतीं सर्वां प्रत्यजनकत्वपक्षस्य (प्राथमिकस्य) स्मृतौ स्फुटत्वात्समुपेक्ष्य सतीं तादृशबुद्धिं प्रत्यजनकत्वपक्षं (द्वितीयं) व्याचष्टे-न हीति । (२) 'प्रत्येकं, मिलितात् (सर्वस्मात्) भिन्नमि'तिमते सर्वां निरुक्तबुद्धिं प्रति सर्वस्याः स्मृतेर्जनकत्वेऽपि नैकैकस्याः स्मृतेर्जनकत्वमिति भावः । यद्वा यावन्निरुक्तबुद्धिं प्रति तत्तद्विषयीभूतप्रत्येकस्मृतिव्यक्तेर्विषयविधया जनकत्वेऽपि तत्तद्बुद्ध्यविषयीभूतप्रत्येकस्मृतिव्यक्तेरजनकत्वमेव, नहि 'चैत्रीयस्मृतित्वसंसर्गस्मृती सम्बद्धे'-इत्याकारकबुद्धिजनकत्वं मैत्रीयस्मृतिव्यक्तेरस्तीति भावः । (३) तेनैव=स्मृतौ स्मृतित्वसंसर्गबुद्धेः सत्त्वेनैव, असतीम्=अनुभूत्यादावसतीं, तादृशबुद्धिं=स्मृतित्वसंसर्गबुद्धिंप्रतीत्यर्थः ।

जनकत्वं स्मृतौ सुलभमित्यर्थः॥ ननु बुद्धौ सत्त्वमसत्त्वं वा विशेषणमतन्त्रं, किन्तु सवाः स्मृतित्वसंसर्गोपश्लिष्टबुद्धीः प्रति जनकत्वमनुभूतौ निषेधाम इत्याह-। [d]"सर्वामि"ति ॥ सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या सर्वतादृशबुद्धिजनकत्वनिषेधः प्रतीयेत, सैव नास्तीत्याह—। [e]"सर्वतद्व्यक्ती"ति ॥ ननु सामान्यलक्षणायां त्वदनभ्युपगममात्रमतन्त्रमित्यनुशयेनाह—। [f]"किंचे"ति ॥ एकैकस्याः स्मृतिव्यक्तेः सतीमसतीं वा तादृशबुद्धिं सर्वां प्रति जनकत्वं न सम्भवतीति स्मृतिरपि न स्मृतिः स्यादित्याह—। [g]"आद्ये द्वितीये चे"ति ॥

मू० [a]काञ्चित्सतीं प्रति च तदजनकत्वं प्रागेव दूषितं, तृतीये च नानुभूतावपि तदजनकत्वं, सत्यासत्यतादृशबुद्धेर्भावेनाभावेन च सतीमसतीं प्रत्यजनकत्वस्यासम्भवादिति । * [c]स्यादेतत्, स्मृतित्वस्यान्योन्याभावमादाय याऽतिप्रसक्तिर्दर्शिता सा नोपपद्यते, भेदाभेदवादिमते स्मतित्वभेदाभेदस्य स्मत्या सहाऽभ्युपगमात्, ययोर्भेदाभेदस्तयोस्तत्रान्योन्याभावानभ्युपगमात्(१)* । न ।

टी० ॥ नन्वेकैकस्याः स्मृतिव्यक्तेः सर्वां प्रति जनकत्वं मास्तु काञ्चिन्मतिं सतीं प्रति तु तद(२)स्तीत्यत आह । [a]"काञ्चिदि"ति । अनुभूतौ यथार्थतादृशबुद्धिसिद्धौ स्मृतित्वापत्तिदोषस्य प्रागभिधानादित्यर्थः॥ [b]"तृतीये"इति । जनकत्वनिरूपकतादृशबुद्धेः सत्त्वेऽनुभूतौ तदजनकत्वम्?, असत्त्वे च निरूपकाप्रसिद्ध्या तदजनकत्वमशक्यग्रहमित्यर्थः । प्रत्येकमजनकत्वमादाय स्मृतौ प्रसङ्गे(३)सत्येव दोषान्तरमेतत् । यद्यपि 'स्मृतित्वसंसर्गानुभूतौ न सम्बद्धे'-।इत्येवं प्रतीयमानाभावप्रतियोगिनः सम्बन्ध-

(१) अन्योन्याभावानभ्युपगमात्=आत्यन्तिकभेदाऽनभ्युपगमात्, (अभेदसहिष्णुभेदानभ्युपगमादिति यावत्) अभेदसहिष्णुर्भेदस्त्वङ्गीक्रियते एव। (२) "अनुभूतेस्तु काञ्चिदपि स्मृतित्वसंसर्गबुद्धिं सतीं प्रति जनकत्वं नास्ति"—इति शेषः। (३) प्रसङ्गे=अनुभवत्वप्रसङ्गे ।

स्य निषेधे नुभूतौ, नतु स्मृतावपीत्यनुभवसिद्धमेतत्, स च सम्बन्धः स्वरूपं वा सम्बन्धान्तरं वेत्यन्यदेतत्; किंच 'स्मृतित्वं स्मृतौ', 'स्मृतित्वसमवायः स्मृतौ', 'स्मृतित्वसंसर्गः स्मृतावि'त्यादिप्रतीतिविषयीक्रियमाणः स्मृतित्वसंसर्गोऽनुभूतौ निषिध्यते; यद्वा, स्मृतिस्मृतित्वसंसर्गस्वरूपं नानुभव इति निषेधः सम्भवत्येव, तथापि विचार्यमाणमिदमपि हस्तसमावरणमेवेति भावः ॥ भट्टमतेनोपपत्तिं शङ्कते-। [c]"स्यादेतदि"ति । स्मृतित्वरहितत्वमि'त्यत्र स्मृतित्वाभाववत्त्वं विवक्षितं, तच्च स्मृतित्वान्योन्याभाववत्यां स्मृतावपि गतम्-इति यदुक्तं तन्नोपपद्यते, यतः स्मृतित्वस्य स्मृत्यभिन्नतया(१) तदन्योन्याभावस्य तत्राभावादिति शङ्कार्थः ॥

मू० [a]कथं ह्यवधार्य्यं स्मृतित्वस्य भेदाभेदः स्मृत्या, नानुभूत्या-इति ? । * [b]अनुभूत्या सह तद्विशिष्टप्रमाया अभावाद् ?*-इति चेन्न, [c]किं सत्या वा? किमसत्या वा ? इत्याद्युक्तविकल्पदोषात् । [d] *प्रागभावप्रतियोगिन्याः ? *-इति चेन्न, [e]अनुभूतौ तादृश्याः स्वीकारेणानुभूतेस्तथात्वापातात् । [f]स्मृतिस्मृतित्वयोरन्योन्याभावाभावश्चा(२)न्योन्यात्माऽनुभूतावपि तुल्यः, नहि स्मृतित्वान्योन्याभावोऽनुभूतिः, इ[g]त्युक्तमावर्तते ।

---:◇:---

टी० ॥ स्मृतेरिवानुभूतेरपि धर्मः स्मृतित्वं कुतो न भवति ? तथाचानुभूत्यभिन्नमपि स्मृतित्वमिति व्याप्यवृत्तेस्तदन्योन्याभावस्य तत्राप्यभावादिति परिहारमाह-। [a]"कथं ही"ति । अनुभूतौ स्मृतित्वरहितत्वस्योपपादयितुमशक्यत्वादिति भावः ॥ नन्वनुभूतिमादाय स्मृतित्वविशिष्टप्रमा नास्तीति न स्मृतित्वमनुभूतेरपि धर्म इति न भेदाऽभेद इतिशङ्कामाह-। [b]"अनुभू-

(१) स्मृत्यभिन्नतया=स्मृतिभेदसहिष्णुभेदवत्तया, तदन्योन्याभावस्य=स्मृतित्वात्यन्तिकभेदवत्त्वस्य, तत्र=स्मृतौ । (२) अन्योन्याभावाभावश्च=आत्यन्तिकभेदाभावश्च, अन्योन्यात्मा=अन्योन्याऽभावस्वरूपः

त्ये''ति ॥ स्मृतित्वानुभूत्योर्वैशिष्ट्यप्रमा यदि सती निषिध्यते तदा तत्सिद्धावनुभूतौ स्मृतित्वं सिद्धम्, अथासती निषिध्यते तदा स्मृतावपि न स्मृतित्ववैशिष्ट्यं, तत्राप्य(१)सत्याः प्रमाया अभावात्–इतिपरिहारमाह–। c''किं सत्या''इति । ननु सत्यसती वा प्रमेति न ब्रूमः, किन्त्वनुभूतिस्मृतित्वयोर्वैशिष्ट्यप्रमा प्रागभावप्रतियोगिनी नास्ति यथा स्मृतिस्मृतित्वयोरितिशङ्कामाह–। d''प्रागभावे''ति ॥ प्रागभावप्रतियोगिनी या तादृशी(२)प्रमा सा नास्तीति यद्यर्थस्तदा प्रागभावप्रतियोगित्वं तादृशप्रमायाः सिद्धमेवेति तदुत्पाद आवश्यक इति सिद्धमनुभूतौ स्मृतित्ववैशिष्ट्यम्, अथ तादृशी प्रमा(२)प्रागभावप्रतियोगिनी न भवतीत्यर्थः तथापि प्रमायाः सिद्धावनुभूतौ स्मृतित्वं सिद्धमेवेतिपरिहारमाह–। e''अनुभूतावि''ति ॥ दूषणान्तरमाह–। f''स्मृतौ''ति। स्मृतिस्मृतित्वयोरन्योन्याभावविरहो(३)भेदाभेदवादे यथाऽभ्युपगम्यते तथाऽनुभूतावपि स्मृतित्वान्योन्याभावविरहोऽस्त्येव, स्मृतित्वान्योन्याभावविरहो हि तदन्योन्याभावान्योन्याभावरूपः, सोऽनुभूतावपि समानः, नहि स्मृतित्वान्योन्याभाव एवानुभूतिरित्यर्थः ॥ g''उक्तमि''ति । यथा स्मृतित्वराहित्यं तदन्योन्याभाव(४)इत्युक्तं तथा स्मृतित्वान्योन्याभावराहित्यमपि तथैव वक्तव्यमन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेदस्य त्वयाऽद्याप्यनुपपादनादित्यर्थः ॥

---

सू० a*अथ(५)मा भूद् भेदाभेदमादाय परिहारस्तथापि 'इदं तन्न भवति' 'इह तन्नास्तीतिप्रतीतिसाक्षिक एवान्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेदः ? *–इति चेन्न,

---

(१) तत्रापि = स्मृतावपि, असत्याः = अनुभूत्याद्यवच्छेदेनासत्याः (स्मृतित्ववैशिष्ट्यप्रमायाः) अभावादित्यर्थः । (२) तादृशी प्रमा = अनुभूत्यनुयोगिकत्वविशिष्टस्मृतित्ववैशिष्ट्यप्रमा । (३) अन्योन्याभावविरहः = आत्यन्तिकभेदाभावः । (४) तदन्योन्याभावः = स्मृतित्वान्योन्याभावः; तथैव = स्मृतित्वान्योन्याभावान्योन्याभावरूपम् ।

(५) { अन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेदखण्डनम् । प्रक्रम्यते निबन्धेऽस्मिन् भङ्गार्थं भेदवादिनाम् ॥ १८ ॥ }

[b]प्रतियोगिरूपोपाध्यवैचित्र्या(१)दभावे जात्यादिभेदानभ्युपगमाच्चानयोर्भेदबुद्धिरेव प्रामाण्यमनश्नुवाना कूटसाक्षिणी(२)ति तदनादरणात् । *[c]नच स्वप्रतियोगि [d]समानकालसमानाधिकरणोऽभावोऽन्योन्याभावः, [e]तदन्योन्याभाववाँश्च तदभावः संसर्गाभावः*, [f]यथासंभवमात्माश्रयाद्य-ऽननुभव-स्वभेदाऽननुगम-तत्तदवगमानभ्युपगमानामनुत्तरणीयत्वप्रसङ्गात् ।

टी० ॥ अन्योन्याभावसंसर्गाभावयोः प्रतीतिवैलक्षण्याद् वैलक्षण्यमिति शङ्कते—। [a]"अथे"ति ॥ [b]"प्रतियोगी"ति । प्रतियोगिभेद, उपाध्यन्तरभेदो, जातिभेदो वा, यदि प्रत्येतव्यभेदको नास्ति तदा प्रतीतिवैलक्षण्यमतन्त्र(३)मित्यर्थः ॥ प्रतीतिवैलक्षण्यबलादायातमुपाधिवैलक्षण्यमाशङ्क्य निराकरोति—। [c]"नचे"ति ॥ प्रागभावप्रध्वंसाभावाभ्यामतिव्याप्तिवारणायाह—। [d]"समानकाले"ति । अत्यन्ताभावेऽतिव्याप्तिवारणायोक्तं—"समानाधिकरणे"ति, आकाशाद्यन्योन्याभावोपग्रहश्च यथाकथञ्चित्तदधिकरणविवक्षया(४),बदरसंयोगस्य स्वप्रतियोगिना बदरेण कुण्डे सामानाधिकरण्यमत उक्तम्—"अभाव"इति, प्रतियोगिपदस्य (५)निरूपकपरत्वात्; स्वाभाव(६)विरहात्मपरतायान्त्वभावपद-

(१) 'भूतले घटो नास्ति' 'भूतलं घटो ने'त्युभयत्राप्यन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्घटस्य प्रतियोगिन एकत्वात्तयोर्भेदो न स्यादेवमन्यत्रापीति भावः । (२) कूटसाक्षिणी = मिथ्याबुद्धिसाक्षिणी । (३) प्रतीतिवैलक्षण्यं हि प्रत्येतव्यवैलक्षण्याधीनमिति प्रतीतिवैलक्षण्यात्प्रागन्योन्याभावसंसर्गाभावरूपप्रत्येतव्यवैलक्षण्ये तदनियामकमेवेति भावः । (४) वृत्त्यनियामकसम्बन्धेन सम्बन्धित्वविवक्षयेत्यर्थः । (५) ननु बदरस्य कथं संयोगं प्रति प्रतियोगित्वं ? प्रतियोगिन उदयनाचार्य्यमतेन स्वाभावविरहात्मत्वात् बदरसंयोगस्य च बदराभावरूपत्वाभावात्, नापि च बदरसंयोगाभावो बदरमित्यत आह—प्रतियोगीति । (६) ननु बदरसंयोगस्य प्रतियोग्येव बदरं न भवति, आचार्य्यमते प्रतियोगिनः स्वाभावविरहात्मत्वाद् बदरस्य च संयोगाभावरूपत्वाभावात्, तथाच न बदरसंयोगेऽतिप्रसङ्गः इत्याह—स्वाभावेति, अतिरिच्यते = अधिकं भवति, तथाच न देयमेवाभावपदम् ।

मतिरिच्यते, यत्किञ्चित्प्रतियोगिसमानकालसमानदेशत्वमत्यन्ताभावस्यापीत्यत उक्तं-"स्वे"ति ॥ [e]"तदन्योन्याभाववानि"ति । तद्भिन्न इत्यर्थः ॥ [f]"यथासम्भवमि"ति । अभावत्वं (१)हि भावभिन्नत्वं, तच्च भावान्योन्याभाववत्त्वमित्यन्योन्याभावेनैवान्योन्याभावनिरूपणादात्माश्रयः; अथाभावत्वं भावत्वात्यन्ताऽभाववत्त्वं, तदाऽत्यन्ताभावस्य संसर्गाभावत्वात् तस्य चान्योन्याभावाभाववत्त्वेन(२)त्वयाऽभिधानादन्योन्याभावनिरूप्यः संसर्गाभावस्तन्निरूप्यश्च पुनरन्योन्याभावः-इत्यन्योन्याश्रयः; अथाभावत्वं, भावभिन्नत्वं तच्च भाववैधर्म्यं, तच्च तदन्य(३)वृत्तिधर्मात्यन्ताभाववत्त्वं, तदन्यत्वं च तदन्योन्याभाववत्त्वमिति स्वापेक्षाऽपेक्षित्वेन(४) चक्रकम्; अथाभावत्वं भावविरोधित्वं, विरोधित्वं च धर्मो धर्मिभिन्नः, स च येन भेदेन भिन्नः सोऽन्योन्याभावो वाच्यः, स यदि स्ववृत्ति(५)स्तदात्माश्रयो,ऽन्योन्यवृत्तिस्तदान्योन्याश्रयो,ऽपरापराभ्युपगमे चानवस्था; यद्वा अन्योन्याभावस्यान्योन्याभावोस्ति? न वा? आद्ये, स यदि स्वरूपमेव, तदा स्वनिरूप्यत्वादात्माश्रयः अथापर, स्तदा तस्याप्यन्योन्याभावो यदि पूर्व एव, तदान्योन्यनिरूप्यत्वेऽन्योन्याश्रयः; अथ प्रथमान्योन्याभावादन्य एव द्वितीयान्योन्याभाव,स्तदा तस्यापि यदि प्रथम एव, तदा चक्रकं; यदि प्रथमादन्यः, तदा

---

(१) 'स्वप्रतियोगिसमानकालसमानाधिकरणो ऽभाव'-इत्यन्योन्याभावलक्षणस्थमभावत्वमित्यर्थः । (२) अन्योन्याभावाभाववत्त्वेन = अन्योन्याभावभिन्नत्वेन । (३) तदन्येति, अभावान्यभावृत्तिभावत्वरूपधर्मात्यन्ताभाववत्त्वमित्यर्थः । (४) चक्रकम्-भावभिन्नत्वमभावान्यवृत्तिधर्मात्यन्ताभाववत्त्वघटकीभूतमभावान्यत्वमभावान्यत्वं चाऽन्योन्याभावमन्योन्याभावश्च पुनर्भावभिन्नत्वमपेक्षते इति चक्रकमित्यर्थः । स्वापेक्षापेक्षित्वेन,स्वं = भावभिन्नत्वं, तदपेक्षः परम्परया (अभावान्यत्वद्वारा) अन्योन्याभावः, तदपेक्षित्वेन भावभिन्नत्वस्येत्यर्थः । यद्वा, स्वं = चक्रकघटकत्रयमध्ये द्वितीयम् (अभावान्यत्वम्) तदपेक्षोऽन्योन्याभावस्तदपेक्षित्वेन भावभिन्नत्वस्येत्यर्थः । स्वापेक्षापेक्षितत्वेनेति पाठे तु न क्लिष्टकल्पना । (५) स्ववृत्तिः = स्वात्मकेन भेदेन धर्मिणो भिन्नः ।

पञ्चषष्ठाद्यभ्युपगमे(१) यदि परावृत्तिस्तदाचक्रकम्; अपरावृत्तौ, चानवस्था; तदुत्तरान्योन्याभावाननुभवश्च; 'स्वप्रतियोगी'त्यत्र स्वपदेन विशिष्य तत्तदन्योन्याभावाभिधानेऽननुगमः; तस्य-तस्याऽन्योन्याभावस्याऽसर्वज्ञेनावगमो नाभ्युपगम्यते(२)इत्यर्थः। यदा स्वशब्देनान्योन्याभावाभिधानं तदा तेनैव तन्निरूपणे आत्माश्रयः; प्रतियोगिपदेन च यद्यन्योन्याभावविरोध्यभिधीयते तदात्माश्रयः;—इत्याद्युन्नेयम् । यद्यपि प्रतीतिवैलक्षण्यं प्रत्येतव्यवैलक्षण्याऽविनाभूतं, तदेव चात्रोद्देश्यं, विशिष्य वैलक्षण्यानभिधानेपि न किञ्चिदनिष्टं, नहीक्षुक्षीरगुडादिमाधुर्याणां विशिष्यानभिधानमात्रेण निवृत्तिः । किञ्च, प्रतीतिविशेष एव लक्षणमुभयोः संभवति, संभवति च तादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिकत्वं संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिकत्वमुभयोः प्रत्येकं वैचित्र्ये प्रतीतिवैचित्र्याहृतं, तथापि हस्तसमावरणमेतत्, 'संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्'—इत्यस्यापि मयोपपादनीयत्वात्; तथा च वक्ष्यते—"नाऽत्यापत्त्या प्रमामात्रात्ते तेऽर्थाः स्वीक्रियोचिताः"—इत्यादीति भावः ॥

मू० [a] * ननु 'संसर्गप्रतियोगिको निषेधः संसर्गाभावः, तादात्म्यप्रतियोगिकश्च तादात्म्याभावः—इत्यु[b]क्ते एव न मिश्रता तयोः, [c]यो हि संसर्गतादात्म्यस्य निषेधः स संसर्गनिषेध एव न भवति, तादात्म्यप्रतियोगिकत्वात् * ?—इति मैवम्, [d]द्रव्यगुणकर्मणां समवायिकारणेषु हि तेषां प्रध्वंसाः नैवं संसर्गाभावाः स्युः, संसर्गप्रतियोगित्वे तु संसर्गस्य समवायस्वरूपतया समवाया ऽनित्यत्वप्रसङ्गात् । [e]किंच,

(१) "पञ्चषष्ठाद्यभ्युपगमे"—इति तु प्रायः पुस्तकेषु प्रतीयमानः प्रामादिकः पाठो ज्ञेयः। पञ्चषाद्यभ्युपगमे—इति तु युक्तः पाठः,यदि तु यथोक्तपाठे एव श्रद्धाजाड्यं तदा तु पञ्चभिर्युक्तः षष्ठ आदिर्येषामित्येवं कथञ्चिद्विगृह्य । निर्वोढव्यम् । (२) नाभ्युपगम्यते,—केनापि शास्त्रकृता न स्वीक्रियते इत्यर्थः। नाऽभ्युपगम्यते इत्यस्य असर्वज्ञेन इत्यनेनान्वये तु नानुव्यवसीयते इत्यर्थः।

तर्हि संसर्गान्योन्याभावौ द्वावपि न घटादिप्रतियोगिकाविति घटादेः कालादिवन्निरवधित्वापातः, [f]संसर्गतादात्म्ययोश्चाविशेषितयोर्निषेधे सामान्यत एव तयोरुच्छेदः स्यात्, [g]एवं यद्यदेव प्रतियोगि वाच्यं तत्तत्स्वरूपत एव न स्यात् ।

टी० ॥ उक्तिसम्भवमात्रेण शङ्कते-। [a]"नन्वि"ति ॥ [b]"उक्ते एवे"ति । उक्ते सत्येवेत्यर्थः । मिश्रता = एकत्वम् ॥ [c]"यो ही"-ति । स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावमादाय स्मृतौ यः प्रसङ्गः कृतः स तदा भवेत् यदि स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावः संसर्गाभावो भवेदपितु तादात्म्याभाव एवासौ, स्मृतित्वसंसर्गतादात्म्यप्रतियोगित्वादित्यर्थः ॥ यदि संसर्गप्रतियोगिकोऽभावः संसर्गाभावः स्यात्तदा द्रव्यादीनां समवायिकारणगतौ ध्वंसप्रागभावौ संसर्गाभावौ न स्यातामित्याह-। [d]"द्रव्ये"ति । यद्यपि समवायनित्यत्वेपि रूपादिनिरूपितत्वावच्छिन्नस्य समवायस्यानित्यत्वमेव, विशिष्टस्यान्यत्वात्(१); तथाच रूपसमवायो ध्वंसते एव, अत एव वायौ स्पर्शसमवाये सत्यपि रूपसमवायो नास्तीति, तथापि नित्यमपि विशेषणान्तरावच्छिन्नं ध्वंसते इत्यनुपपन्न(२)मेवेति भावः ॥ यदि च संसर्गप्रतियोगिक एवाभावः संसर्गाभावस्तदा घटादयो नाभावप्रतियोगिन इति देशभेदेन तेषामनिषेधे वैभवं, कालभेदेन तेषामनिषेधे नित्यत्वमपि, इति पदार्थवैचित्र्यं साधु त्वया व्युत्पादितमित्याह-। [e]"किंचे"ति । दोषान्तरमाह-। [f]"संसर्गे"ति । घटादीनां प्रतियोगिकोटावप्रवेशे संसर्गमात्रं तादात्म्यमात्रं च निषिध्येतेति ते(३)क्वचिदपि देशे काले वा न स्याताम् इत्यर्थः ॥ घटादीनामपि स्वरूपेण प्रतियोगित्वे समानमिदं

(१) 'विशिष्टं शुद्धादतिरिच्यते'-इतिमते विशिष्टसमवायस्य शुद्धसमवायादतिरिक्तत्वादित्यर्थः, तथाच रूपसमवायः=रूपनिरूपितत्वावच्छिन्नः समवायः, ध्वंसते=विनश्यत्येव । (२) अनुपपन्नमेवेति, ब्राह्मणत्वविशेषणावच्छिन्नस्य गौडादेर्दण्डादिविशेषणान्तरावच्छिन्नत्वेनाऽगौडत्वादेर्लोकेऽदर्शनादित्याशयः । (३) ते = संसर्गतादात्म्ये ।

दूष(१)णमित्याह—। g"एवमि"ति ॥

मू० a तस्यापि संसर्गं प्रति धावने च तदक्षतं, b संसर्गानवस्था, c शेषोच्छेदात्पूर्वपूर्वोच्छेदो वा स्यात् ।

टी० ॥ ननु स्यादेवं यदि संसर्गः स्वरूपत एव निषिध्येत, किन्तु संसर्गस्यापि संसर्ग एव निषिध्यते, तथाच न संसर्गस्वरूपविलोप इत्यत आह—। a"तस्यापी"ति । यथा घटस्य संसर्गो निषिध्यते इति घटस्वरूपं देशतः कालतश्चाक्षतं तथा संसर्गस्य संसर्गे निषिद्धे प्रथमसंसर्गस्वरूपमक्षतं स्यात्, तथाच घटवत् तत्संसर्गोऽपि निरवधिः स्यादित्यर्थः ॥ दोषान्तरमाह—। b"संसर्गानवस्थे"ति । पूर्वपूर्वसंसर्गनिषेधार्थमुत्तरोत्तरसंसर्गापेक्षणे संसर्गानवस्था स्यादित्यर्थः ॥ अथ क्वचिद्गत्वा संसर्ग एव निषेध्यो नतु तस्यापि संसर्गान्तरमिति नानवस्था, तदा यः संसर्गो निषेध्यः स स्वरूपत एव न स्यात्तन्निषेधे च तत्पूर्वः, एवं तत्पूर्वः, संसर्गो न भवेदिति पुनरपि संसर्गमात्रविलोप इत्याह—। c"शेषे"ति । यद्यपि संसृष्टो घटो यत्र निषिध्यते स संसर्गाभावः, संसृष्टनिषेधश्च घटतत्संसर्गयोर्निषेधः, तथाच घटसंसर्गनिषेधनान्तरीयको घटनिषेधः संसर्गाभावः, तदनान्तरीयकघटनिषेधोऽन्योन्याभावः—इति वैषम्यं, तथापि संसर्गप्रतियोगिकसंसर्गाभावे संसर्गाऽऽनन्त्यापत्तिरिति भावः ॥

मू० *अथ a न प्रतियोग्यनुयोगिनो(२)स्तथात्वं विरोधः, किन्तु सहभावाभावौ,ऽतः b तन्मात्रं न स्यात्, c नतु तन्मात्रमेव न स्याद् ?*,—इति चेन्न, d अनुयोगिनि प्रतियोग्यापत्तेः । * e तथाप्रमाऽभावात्कथं तथाऽऽस्ताम् ? *—इति चेन्न ।

(१) घटादयोऽपि क्वचिद्देशे काले वा न स्युरित्याकारकं दूषणमित्यर्थः ।

(२) प्रतियोग्यनुयोगिनोः (=भावाभावयोः) तथात्वं (स्वरूपभूतो विरोधो) न, किन्तु सहभावाभावः=सहानवस्थानं विरोधः, अतः तन्मात्रं=सहभावमात्रं, तयोर्भावाभावयोर्न स्यात् न तु तन्मात्रमेव=स्वरूपमेव तयोर्न स्यादिति, किन्तु स्यादेवेत्यर्थः ।

टी० ॥ ननु संसर्गतादात्म्ययोरविशेषितयोर्निषेधे सामान्यत एव तयोरुच्छेदस्तदा स्याद्यदि निषेधेन सह प्रतियोग्यनुयोगिभावो(१)विरोधो भवेत्(२), किन्तु सहानवस्थानं विरोधः तथाच यत्र संसर्गस्य तादात्म्यस्य वाऽभावस्तत्र ते न स्यातामन्यत्र तु स्यातामेवेति शङ्कते—। [a]"न प्रतियोग्यनुयोगिनोरि"ति ॥ [b]"तन्मात्रमि"ति। सहभावमात्रमित्यर्थः ॥ [c]"ननु तन्मात्रमि"ति। प्रतियोगि(३)मात्रमित्यर्थः ॥ यदि प्रतियोग्यनुयोगिभावो विरोधः प्रतियोगिना सहाभावस्य नेष्टस्तदाऽनुयोगिन्यभावे प्रतियोगिनो घटादेराप(४)त्तिरित्याह—। [d]"अनुयोगिनी"ति। यद्यपि प्रतियोग्यापत्तिर्न तदुत्पत्तिः, घटाभावे घटोत्पत्तिसामग्रीविरहात्; नापि प्रतियोगिप्रमोत्पत्तिः, अभावे प्रतियोगिमत्तया प्रमाकारणाभावात्; नापि प्रतियोगिनो वृत्तिरापत्तिः, अभावस्य संयोगसमवाययोरभावात्; अन्यथा(५)रूपरसावविरुद्धाविति तयोरन्योऽन्यस्मिन्नुत्पत्तिस्थितिप्रमयः स्युः, तथापि प्रतियोग्यनुयोगिभावो यदि न विरोधः तदा परस्परविरहरूपत्वं तयो(६)र्न स्यात् गोत्वाश्वत्वयोरिवेति भावः ॥ अनुयोगिनः प्रतियोगिमत्तया प्रमा नास्तीति कथमनुयोगिनि प्रतियोग्यापद्यतामित्याह—। "तथे"ति ॥

मू० [a]तथाप्रमाऽभावमूलकस्य विरोधस्य सहानवस्थानस्य नियमनभङ्गात्-प्रतियोग्यनुयोगिभावादन्यः कस्तयोर्विरोः स्यात्ध ? । * [b]तथा न प्रमीयमाणत्वमेव

(१) प्रतियोग्यनुयोगिभावो विरोधः = प्रतियोग्यभावयोः स्वरूपविरोधः, स चाभावः प्रतियोगिस्वरूपं न, प्रतियोगी चाभावस्वरूपं नेत्याकारकप्रतीतिसाक्षिकः। अनुयोगी प्रकृते सर्वत्राभावो ग्राह्यः।

(२) 'विरोधो भवेदि'त्यतोऽग्रे 'प्रतियोगिनः'-इति शेषः।

(३) 'प्रतियोग्यनुयोगिमात्रमि'ति तु युक्तः पाठः, उपलक्षणं वा प्रतियोगिपदमनुयोगिपदस्यापि। (४) घटादेरापत्तिस्तादात्म्येन ज्ञेया। (५) अन्यथा, सामग्र्यादिकमन्तरापि सामान्यतोऽविरुद्धत्वमादायाऽन्यस्मिन्नन्यदीयोत्पत्तिस्थितिज्ञप्त्यापादने-इत्यर्थः।

(६) तयोः= प्रतियोग्यनुयोगिनोः, प्रतियोगित्वनुयोगित्वयोर्वा।

सः *?–इति चेन्न, [c]अतिप्रसङ्गात्। * [d]नियमेन *?–इति चेन्न, जात्या नियमाभ्युपगमात्–

टी० अनुयोगिनि(१)प्रतियोगी कदाचिन्न प्रमीयते न वा कदाचिदनुयोगिसामानाधिकरण्येन प्रतियोगी प्रमीयते तत्र(२) सहभावप्रमाविरहः सहानवस्थाननियमलक्षणेन विरोधेनोपपाद्यतामनुयोगिवृत्तितप्रमाविरहोपपादनार्थं तु प्रतियोग्यनुयोगिभावलक्षण एव विरोधोऽनुसरणीयः, सहानवस्थानलक्षणस्य तत्राकिञ्चित्करत्वात्, तस्मिन्सत्यपि तादृशप्रमायाः प्रसक्तत्वेन(३)तन्नियमभङ्गादित्याह–। [a]"तथाप्रमाऽभावे"ति। नहि यस्मिन्सति यदापद्यते तदभावे तन्नियामकमिति भावः॥ ननु प्रतियोग्यनुयोगिनोः साहित्येनाधाराधेयभावेन चाऽप्रमीयमाणत्वमेव विरोधो, नतु प्रतियोग्यनुयोगिभाव इति शङ्कते–। [b]"तथा ने"ति॥ तथा न प्रमीयमाणत्व कदाचित्पटमहारजनयोरपीति तयोरपि विरोधः स्यादित्याह–। [c]"अतिप्रसङ्गादि"ति॥ ननु यज्जातीययोः कदापि तथा न प्रमीयमाणत्व तयोर्विरोधः, पटमहारजनयोस्तु कदाचिद्विशिष्टतया प्रमीयमाणत्वमेवेति नातिप्रसङ्ग इत्याह–। [d]"नियमेने"ति॥

सू० [a]व्यक्त्योरविरोधापत्तेः। * [b]तथा न(४) प्रमातुमनौपाधिकी योग्यता* ?,–इति चेत्, [c]सैव मेयगता योग्यताऽनुयोगिप्रतियोगित्वादन्या का समर्थिता स्यात्?। * [d]स्वरूपमेव ?, *–इति चेन्न,

टी० ॥ तर्हि ययोर्व्यक्त्योर्नित्यत्वानित्यत्वयोर्भावत्वाभा-

(१) अनुयोगिनि=अभावस्वरूपे, प्रतियोगी घटादिस्तादात्म्येन कदाचिन्न प्रमीयते–इत्यर्थः। (२) तत्र=तयोर्द्वयोः प्रतियोग्यनुयोगिभावसहानवस्थानलक्षणविरोधयोर्मध्ये। (३) द्रव्यगुणयोः सहानवस्थानलक्षणविरोधसत्वेप्याधाराधेयभावदर्शनेन 'ययोः सहानवस्थानं तयोराधाराधेयभावः'–इतिनियमभङ्गादित्यर्थः। यद्वा, प्रतियोग्यनुयोगिनोः सहानवस्थानलक्षणविरोधे सत्यपि प्रतियोगिन्यनुयोगी आपद्यतामित्यतिप्रसक्तत्वेन निरुक्तनियमभङ्गादित्यर्थः। (४) नञ्व्यत्यासेन तथाप्रमातुं स्वरूपाऽयोग्यतेति योजनीयम्।

वत्वयोर्वा जात्युपग्रहो नास्ति तयोर्विरोधलक्षणविरहापत्तिरित्याह–। [a]"व्यक्त्योरि"ति। नियमो यदि देशगर्भस्तदा विरुद्धयोरपि देशव्यक्त्योर्यदि कालगर्भस्तदा व्यक्त्योरतीतत्वानागतत्वयोर्विरोधो न स्याद्देशे देशाभावात्काले कालाभावादिति वार्थः। यद्वा, जात्यवच्छेदेन विरोधोपसंहारे च जात्योरेव विरोधः स्यान्नतु व्यक्त्योरित्यर्थः॥ ननु साहित्येनाधाराधेयभावेन च या प्रमा तां प्रति स्वरूपायोग्यत्वमेव भावाभावयोर्विरोध इति शङ्कते–। [b]"तथा न प्रमातुमि"ति। "अनौपाधिकी"ति, कादाचित्कीं सहकार्य्ययोग्यतां पटकुङ्कुमयोर्व्यवच्छिनत्ति॥ तथाप्रमातुं स्वरूपायोग्यता भावाभावयोर्नतु पटकुङ्कुमयोरिति प्रतियोग्यनुयोगिभाव एव विरोधः पर्यवसन्न इत्याह–। [c]"सैवे"ति। प्रमातुमयोग्यता, प्रमातुं वा योग्यता, मितिमातृगता न वक्तव्या, किन्तु मेयगता, सा च नोक्तरूपा(१)दन्येति भावः॥ ननु भावाभावयोः स्वरूपमेव विरोधो, नतु प्रतियोग्यनुयोगिभाव इति शङ्कते–। [d]"स्वरूपमि"ति॥

सू० [a]मिथः संभेदाभ्युपगन्त्रापि तयोः स्वरूपोपगमात्। *[b]तथाभूतं स्वरूपम्*–इति चेन्न, [c]तस्यैव निर्वाच्यत्वापत्तेः। [d]कश्च गोत्वाश्वत्वाभ्यां भावाभाव(२)योरेवंविधविरोधे विशेषः स्यात्? [e]सत्यां च तयोः साहित्यप्रमायां प्रकारभेदेन व्यवस्थापना किमिति कार्या? प्रमयैवाप्रमानुपगमादिति।|* [f]अथ घटादिविशेषितयोस्तयो(३)र्निषेधौ तौ, सविशेषणौ च विधिनिषेधौ न कथञ्चिद्विशेषणमनुपसंक्रम्य स्याताम्*, –इति ब्रूषे, तदपि न

टी० ॥ येनापि प्रतियोग्यनुयोगिनोः साहित्यमाधाराधेयभावो वा संभेद(४)इष्यते तेनापि तयोः स्वरूपोपगमादित्याह–।

(१) उक्तरूपात्=प्रतियोग्यनुयोगिभावात्। (२) भावाभावयोरेवंविधविरोधे गोत्वाश्वत्वाभ्यां च कः विशेषः स्यादित्यन्वयः।
(३) तयोः=संसर्गतादात्म्ययोः। (४) सम्भेदः=सम्बन्धः।

[a]"मिथ" इति । यद्वा, संयोगतदभावयोः संभेदमिच्छतापि तदुभयस्वरूपोपगमात्तन्मात्रं न विरोध इत्यर्थः ॥ [b]"तथाभूतमि"ति । यथाभूतयोः स्वरूपयोः संभेदाभावस्तथाभूतं स्वरूपं विरोध इत्यर्थः ॥ किंभूतयोः स्वरूपयोः संभेदाभावः?—इत्येव दुर्वचमित्याह—। [c]"तस्यैवे"ति ॥ यदि सहानवस्थानमेव विरोधो नतु प्रतियोग्यनुयोगिभावस्तदाह—। [d]"कश्चे"ति ॥ यदि च तथा न प्रमीयमाणत्वमेव विरोधस्तदा संयोगतदभावयोरवच्छेदभेदव्युत्पादनमफलं, तथा(१) प्रमीयमाणत्वेनैव तथा न प्रमीयमाणत्वस्य विरोधस्य प्रतिक्षेपादित्याह—। [e]"सत्यां चे"ति । यद्यपि तत्रावच्छेदभेदकथनमविरोधप्रतिपादनार्थं, नतु विरोधभञ्जनार्थं, तथापि फलतो न विशेष इति भावः ॥ संसर्गाभावान्योन्याभावौ यदि संसर्गान्योन्यप्रतियोगिकौ तदा घटादिनिषेधो न स्यादिति यदुक्तं तत्राशङ्कते—। [f]"अथे"ति । संसर्गमात्रं तादात्म्यमात्रं वा न प्रतियोगि, किंतु घटविशेषितमुभयं प्रतियोगि, तथाच विशिष्टनिषेधो विशेषणनिषेधपर्यवसन्न एवेति कथं घटादितादवस्थ्यमिति शङ्कार्थः ॥

सू० [a]तर्हि विशिष्टस्य निषेधो विशेषणस्यापि भवतीति संसर्गान्योन्यनिषेधोपि संसर्गनिषेधः स्यादेवेति पुनः स प्रसङ्गो वज्रलेपायते । *[b]अन्योन्याप्रतियोगिकसंसर्गप्रतिषेधस्तथा(२) विवक्षितः, एवमन्योन्यनिषेधोपि संसर्गाप्रतियोगित्वेन निर्वाच्यः *?—इति चेन्न । [c]एवं तर्ह्यन्योन्यसंसर्गाभावः संसर्गान्योन्याभावश्चापरा कोटिः स्यात् ।

टी० ॥ तर्हि 'स्मृतित्वसंसर्गाभावोनुभूतावि'तित्वयोक्ते स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावमादाय स्मृतावेव प्रसङ्गः कृतो मया, स सुतरां लग्नः, स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावस्य(३) संसर्गाभावत्वध्रौव्यादिति परिहारमाह—। [a]"तर्ही"ति ॥ यः स्मृतित्वसंसर्गा

(१) तथा = साहित्येन । (२) तथा = संसर्गाभावत्वेन ।
(३) स्मृतित्वसंसर्गविशिष्टान्योन्यस्य योऽभावस्तस्येत्यर्थः ।

भावः स्मृतावापादितः सोऽन्योन्यप्रतियोगिकोऽपि भवतीति नासौ संसर्गाभाव इति न स्मृतौ प्रसङ्ग इत्याह-। [b]"अन्योन्ये"ति ॥ यद्यन्योन्यप्रतियोगिकः संसर्गाभावो न संसर्गाभावस्तदान्योन्यसंसर्गाभावो न तादात्म्याभावो(१)नापि संसर्गाभाव इति तृतीया कोटिः स्यादेवं संसर्गान्योन्याभावोपीत्याह-। [c]"एवमि"ति ॥

सू० [a]किंच, एवं सति 'संसर्गाभावोऽन्योन्याभावो यो न भवति(२) स संसर्गाभावतया विवक्षितः,-इत्युक्तं स्यात्, तथाच संसर्गविशेषणं व्यर्थमिति संसर्गाभावमर्थमधिकमाकाङ्क्षता त्वयाऽन्वर्थः(३)संसर्गाभावशब्दोऽपि हारितः स्यात्, यतो(४)ऽन्योन्याभावो यो न भवत्यभावः स संसर्गाभाव इत्युक्तम् । [b]किंचा(५)नयापि वाचाऽन्योन्याभावनिषेधोऽभिधीयमानोऽन्योन्याभावेपि प्रसज्यते; न ह्यन्योन्याभावोऽन्योन्याभावो भवतीति शक्यं प्रमातुं, [c]समानाधिकरण्यं हि प्रकारभेदे सति भवति, यथा नीलमुत्पलमित्यादि, तत[d]

(१) न तादात्म्याभावः संसर्गप्रतियोगिकत्वात्, नापि संसर्गाभावः अन्योन्यप्रतियोगिकत्वादित्यर्थः । यद्यपि अन्योन्यसंसर्गाभावेऽन्योन्यं न प्रतियोगि, किन्तु प्रतियोगितावच्छेदकमेव, तथापि विशिष्टस्य निषेधो विशेषणस्यापि भवतीत्येनदभिप्रेत्यैतद्, अतो न दोषः । (२) अन्योन्याभावो यो न भवति संसर्गाभावः स संसर्गाभावतया विवक्षितः-इत्यन्वयः । (३) 'अत्यर्थम्'-इति क्वचित्पुस्तके पाठः । (४) "यतः"-इत्यारभ्य "इत्युक्तम्"-इत्यन्तः क्वचित्पाठो नास्ति, नापि च युक्तमुत्पश्यामः, तादृशपाठदुराग्रहगृहीतचेतसा तु "स संसर्गाभावः"-इत्यतः प्राग् एकमन्यत्संसर्गाभावपदमध्याहर्तव्यम् 'यो न भवत्यभावः'-इत्यस्य यो न भवति संसर्गाभाव इत्यर्थः कल्पनीयो वा, अन्यथा एकसंसर्गपदवैयर्थ्यस्योक्तस्याशाङ्कत्यप्रसङ्गः । (५) ननु एकं संसर्गपदं नोपादीयते एवेत्याशङ्कायमाह-किञ्चेति, 'अन्योन्याभावो यो न भवत्यभावः स संसर्गाभावः'-इत्युक्तावन्योन्याभावोऽप्यन्योन्याभावो न भवत्येव, उद्देश्यविधेयभावस्य प्रकारभेदनियतत्वात्, तथाचाऽन्योन्याभावभिन्नत्वात्संसर्गाभावलक्षणमन्योन्याभावे गतमित्यर्थः ।

स्तदभावादेव न तथेत्यतिप्रसङ्गः । [e]अन्यश्चान्योन्याभावेष्वेव तिष्ठन्नेव कः प्रमेयो यद्गति तथा कथ्यते? [f]अभावमात्रे त्वतिप्रसङ्गात् ।

टी० ॥ "अन्योन्याप्रतियोगिकः संसर्गनिषेधस्तथा विवक्षित" —इति वाक्यस्यान्योन्याभावान्यः संसर्गाभावः संसर्गाभाव इति पर्यवसितोऽर्थस्तत्र संसर्गप(१)दवैयर्थ्यमाह—। [a]"किंचे"ति॥ 'अन्योन्याभावो यो न भवति स संसर्गाभावः'—इत्यनयोक्त्यान्योन्याभावस्तदा व्यवच्छिद्येत यद्यन्योन्याभावो ऽन्योन्याभाव इति वक्तुं शक्यं, नचैव सम्भवति, उद्देश्यविधेयभावस्य प्रकारभेदनियतत्वादित्याह-। [b]"किचे"ति ॥[c]"सामानाधिकरण्यमि"ति ।। भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यं, प्रकृते च शब्दभेदान्न समानाधिकरण्यम्, अत एव नोद्देश्यविधेयभावोऽपीति भावः ॥ [d]"तदभावादेव न तथे"ति । प्रकारभेदाभावान्न सामानाधिकरण्यमुद्देश्यविधेयभावो वेत्यर्थः॥ ननु सकलान्योन्याभावस्वृत्तिना केनचिद्धर्मेणावच्छिन्नस्योद्देश्यत्वं स्यादित्यत आह—।[e]"अन्य"इति । तन्मात्रवृत्तेरुपाधेरप्राप्यनिरूपणात् ॥ नन्वभावत्वेनैवोद्देश्यतास्तु को दोषः? इत्यत आह—। [f]"अभावमात्रे"इति । 'अभावोऽन्योन्याभावः'—इत्यभिधाने संसर्गाभावस्याप्यन्योन्याभावत्वापत्तिः। यद्यपि 'नीलमुत्पलमि'-त्यभिधाने नीलमात्रस्य नोत्पलत्वं प्रसज्यते, तथाप्युत्पलपदव्युत्पित्सुं (२) प्रति तथाभिधाने तत्राप्यतिप्रसङ्ग एवेति भावः ॥

सू० [a]व्यक्तिविशेषे च शेषेष्वन्योन्याभावेषु संसर्गाभावत्वापत्तेः । एतच्च सर्वत्र तदन्यत्वेन (३) व्यवच्छेद्यमाने द्रष्टव्यम् । तथाहि—

[c]नाऽतत्तन्मन्यसे (४) तावन्न तत्तदपि मंस्यसे ।

(१) एकसंसर्गपदवैयर्थ्यमित्यर्थः । (२) उत्पलपदशक्तिग्रहाभाववतो बालस्य कुत्रोत्पलपदस्य शक्तिरितिव्युत्पत्तुमिच्छोर्नीलमुत्पलमित्यभिधाने नीलमात्रस्यैवोत्पलत्वं प्रसज्यते इत्यर्थः । (३)तदन्यत्वेन=अलक्ष्यान्यत्वेन । (४) यथा अतत् तत् (अघटो घटः) इति न, तथा तत् तत् (घटो घटः)

[a]सामानाधिकरण्यं हि रूपभेदमपेक्षते ॥ २९ ॥
[e]रूपान्तरेण निर्दिश्य तच्चेत्तदभिधीयते ।
ताद्रूप्येण तथापि स्यात् सैव सव्यभिचारिता ॥३०॥

[f]अपि चान्योन्याभावस्य संसर्गाभावोऽप्येवं व्यवच्छिन्नः स्यात् (१), तस्याप्यन्योन्यप्रतियोगिकत्वात् । *[g]अथान्योन्याभावस्य संसर्गाभावो नामाधिको (२) नोपेयते एवयमादाय तथा स्याद् ? *--इति चेन्न ।

टी० । ननु गुणान्योन्याभावत्वादिना प्रकारेणोद्दिश्यान्योन्याभावत्वं विधीयतां, भवति हि गुणान्योन्याभावोऽन्योन्याभाव इति तत्राह—। [a]"व्यक्तिविशेषे" इति । तथाच द्रव्यान्योन्याभावो(३) नान्योन्याभावः स्यादित्यर्थः । एतदपि व्युत्पित्सुं प्रति, अन्यथा 'घटो द्रव्यमि'त्युक्ते घटो न द्रव्यं स्यात् ॥ एवं यत्रयत्र लक्षणं तदन्यत्वेन (४)विशेष्यं तत्र तदन्तर्भावध्रौव्यमित्याह--। [b]"एतच्चे"ति ॥ उक्तमर्थं कारिकाभ्यां संगृह्णाति—। [c]"नातत्तदि"ति । 'अघटो घट'—इति यथोक्तिविरोधाद्दुर्घटवचनं तथा 'घटो घट'—इत्यपि प्रकारभेदाभावाद्दुर्घटवचनमेव॥

---

इत्यपि न, हि=यतः, सामानाधिकरण्यं रूपभेदम्=प्रकारभेदमपेक्षते इत्याद्यवार्त्तिकार्थः । नीलघटत्वादिना रूपान्तरेणोद्दिश्यतत्तत् ( घटो नील घट ) इतिवत्प्रकृते उक्तौ ताद्रूप्येण=अधिकवृत्तिना प्रमेयत्वादिना रूपान्तरेणोद्दिश्य प्रमेयः संसर्गाभाव इत्युक्तौ अन्योन्याभावादेः प्रमेयस्यापि संसर्गाभावत्वं स्यादित्यतिप्रसङ्ग इति द्वितीयवार्तिकार्थः । (१)तथाचाव्याप्तिरिति ध्येयम् । (२) अधिकः = अन्योन्याभावभिन्नः । तथा=अन्योन्याभावसंसर्गाभावस्याऽसङ्ग्रहः । (३) द्रव्यान्योन्याभाव इत्युपलक्षणं गुणान्योन्याभावव्यतिरिक्तान्योन्याभावानाम् । (४) यथा स्मृतिभिन्नं ज्ञानमनुभूतिरितिलक्षणे यत्किञ्चित्स्मृति भिन्नत्वं यत्किञ्चित्स्मृतेरपि, स्मृतित्वाभाववत्यनुभूतिरित्युक्तौ स्मृतित्वान्योन्याभावमादाय पुनः स्मृतावतिप्रसङ्गः स्मृतित्वसंसर्गाभावविवक्षायां च स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावमादाय पुनः स एव प्रसङ्गः स्मृतौ दत्तस्तथा अनुभूतिभिन्नं ज्ञानं स्मृतिरित्यादावपि यत्रयत्र लक्षणमलक्ष्यानुभूत्याद्यन्यत्वेन विशेष्यं तत्राऽलक्ष्यस्यानुभूत्यादेरन्तर्भावमादायातिप्रसङ्ग आवश्यक इत्यर्थः ।

दार्ष्टान्तिके युक्तिमाह—। [d]"सामानाधिकरण्यमि"ति ॥ [e]"रूपान्तरेणे"ति। अधिकवृत्तिना धर्म्मान्तरेण तदुद्दिश्य विधानेऽतिव्याप्तिर्न्यूनवृत्तिना चाऽव्याप्तिरित्यर्थः ॥ किंचा'न्योन्याप्रतियोगिको योऽभावः स संसर्गाभाव'-इत्यभिधानेऽन्योन्याभावस्य संसर्गाभावो न स्यादन्योन्यप्रतियोगिकत्वादित्याह—। [f]"अपि-चे"ति। यद्यप्यन्योन्याभावस्य संसर्गाभावोऽन्योन्यं न प्रतियोगि, किंतु तदभावः, स चान्योन्यस्मादन्य एव, तथापि विशिष्टस्य प्रतियोगित्वे विशेषणस्याप्यन्तर्भाव इति भावः ॥ नन्वन्योन्याभावप्रतियोगिकः संसर्गाभावो यदि भवेत्तदा तदनुपग्रहो दोषः स्यात् स एव तु नास्ति, अभावस्याप्यभावान्तराङ्गीकारेऽनवस्थानातिदि शङ्कते-। [g]"अथे"ति ॥

सू० [a]एवं तर्ह्यन्योन्याभावस्यान्योन्याभावोपि नाधिको (¹)भ्युपगन्तव्यः स्यादित्यन्योन्याप्रतियोगित्वेन व्यवच्छेदो(²)पि संसर्गाभावस्य त्वदभिमतस्य कथं स्यात्? व्यवच्छेदस्य निषेधार्थत्वात्(³)। * [b]अथ माभूदधिकोसौ स्वरूपमेव तु तथेष्यते इति तदा-दायैव व्यवहार एष निर्द्दोषः? *,-इति चेत्, [c]तर्ह्यन्योन्याभावसंसर्गव्यतिरेकेपि (⁴) तुल्यमेतत्।

टी० ॥ अन्योन्याभावस्याभावान्तरानभ्युपगमे संसर्गाभावलक्षणे तद्व्यवच्छेदार्थमुपात्तस्यान्योन्याप्रतियोगित्वस्य विशेषणस्य फलाभावाद्वैयर्थ्यम्, अन्योन्याभावव्यवच्छेदस्यान्योन्याभावात्मकत्वात्, तस्य च त्वयाऽनभ्युपगमादिति परिहरति—। [a]"एवं तर्ही"ति ॥ नन्वन्योन्याभावव्यवच्छेदकेन संसर्गाभावलक्षणे विशेषणेनान्योन्याभावानात्मा व्यवच्छेदो न

(१) अधिकः = अन्योन्याभावभिन्नः। (२) व्यवच्छेदः, अन्योन्याभावात् व्यवच्छेदो व्यावृत्तिरन्योन्याभाव इति यावत्। (३) निषेधार्थत्वात् = अन्योन्याभावस्वरूपत्वात्। (४) संसर्गव्यतिरेके = संसर्गाभावे।

क्रियते, किंतु व्यवच्छेद्यो व्यवच्छेदश्च स एवान्योन्याभाव इति न वैयर्थ्यमित्याशङ्कते-। [b]"अथे"ति ॥ तर्हि अन्योन्याभावसंसर्गाभावोऽप्यन्योन्याभावस्वरूपमेवेति तदात्मकसंसर्गाभावानुपग्रहे दोषस्तद्वस्थ एव व्यवच्छेद्याभावो वा अन्योन्याभावस्यापि स्वप्रतियोगिसंसर्गाभावरूपत्वादिति परिहरति-। [c]"तर्ही"ति ॥

मू० [a]अपिच, 'अन्योन्यप्रतियोगिको न भवत्यभावो यः स संसर्गाभावः'-इतिवदताऽन्योन्यप्रतियोगिकेऽभावे निषिध्यमानेऽन्योन्यात्मकोऽसा (१) वभावोऽभ्युपगतः स्यात्, द्वयोर्निषेधयोः सुन्दोपसुन्दतया(२)ऽन्योन्यस्यैव स्थैर्यापत्तेः; तथाच सत्यन्योन्यस्मिन्निर्विशेषणे जगदेव प्रविष्टमिति संसर्गाभावत्वेन विवक्षितस्य जगदात्मतायां सिध्यन्त्यामन्योन्याभावात्मतापि स्यादिति व्यर्थो विशेषणप्रयासो हासायेति सविशेषणेऽप्यविशेषणवत् प्रसङ्ग इति महत्कौतुकम् । * [b]ननु 'घटाभवो न भवति स्तम्भः'-इत्युक्ते किं स्तम्भो घटात्मा विहितो भवति(३)? तत्कस्य हेतोः ? तद्धि तथा स्यात् यदि घटस्तदभावश्चेत्येव जगत्स्यात्, यदा तु स्तम्भादिरप्यपरा कोटिरस्ति तदा कथं स्याद् ? इत्युक्तप्रसङ्गानवकाश इति * ? ।

(१) असौ = संसर्गाभावः । (२) सुन्दोपसुन्दतया = परस्परं विरोधितया, अन्योन्याभावाभावे अन्योन्यस्यैव स्थैर्य्यापत्तेः, अभावाभावस्य भावरूपत्वादित्यर्थः । सुन्दोपसुन्दौ द्वावादिदैत्यौ राजानौ नर्मदातीरे तपश्चेरतुः, तदुपघातार्थं जगत्स्रष्ट्रा काचित्सुराङ्गना प्रस्थापिता, तां दृष्ट्वा कामसंतप्तौ ममेयं ममेयमिति परस्परं जघ्नतुरितीयं गाथा सुन्दोपसुन्दयोः पुराणप्रसिद्धा । (३) "नैव भवति"-इति शेषः ।

टी० ॥ 'अन्योन्याभावो न भवत्यभावो य' इतिवाक्ये नञ्द्वयश्रवणादन्योन्यं यद्भवति स संसर्गाभाव इत्यर्थपर्यवसाने जगत एवान्योन्यत्वात् संसर्गाभावत्वं प्रसक्तं, जगदन्तर्गतस्यान्योन्याभावस्यापि च संसर्गाभावत्वमिति यद्व्यवच्छेदाय विशेषणमुपात्तं तस्यैव सङ्ग्रह इति कौतुकमित्याह–।[a] "अपिचे"ति । यद्यपि 'अन्योन्यप्रतियोगिको न भवत्यभावो य' इतिवाक्याद्यत्राभावेऽन्योन्यप्रतियोगिकत्वं धर्मो नास्ति स संसर्गाभाव इत्यर्थः प्रतीयते, तथाच, भवत्येवान्योन्याभावव्यवच्छेदः, तस्यान्योन्यप्रतियोगिकत्वात्, सुन्दोपसुन्दन्यायस्तु समानाधिकरणयोरेव निषेधयोः, तथाचाप्रतीयमानार्थखण्डनमपि कौतुकमेव, तथापि लक्षणवाक्यस्य यद्ययमर्थ(१)स्तदैवं खण्डनमिति भावः । एवम् अन्योन्याभावो न भवत्यभावो यः स संसर्गाभाव'–इत्यत्रापि यत्राभावेऽन्योन्याभावत्वं नास्तीत्यर्थः, इति(२)नैतत् खण्डनमुचितं, तथाप्यन्योन्याभावो न भवतीत्यन्योन्याभावानात्मा भवतीत्यर्थस्तथाचान्योन्यात्मत्वपर्यवसानमेवेत्यर्थः । अत्रैव शङ्कते–।[b] "ननिव"ति । 'घटाभावो न भवति स्तम्भ' इत्यत्र यथा स्तम्भस्य न घटात्मत्वं तथा 'ऽन्योन्याभावो न भवति संसर्गाभाव' इत्यत्रापि संसर्गाभावस्य नान्योन्यात्मत्वं, किंतु संसर्गाभावत्वमेव, केवलमन्योन्याभावानात्मकत्वमात्रं तत्र प्रतीयते इति शङ्कार्थः ॥

मू० [a]नैवम् । यथा घटतदभावाभ्यामन्या वस्त्रादिकमप्यस्ति कोटिस्तथान्योन्यतदभावाभ्यां नान्या कोटिः संभवति, निर्विशेषणान्योन्यमध्ये जगत एव प्रवेशात्; [c]तदात्मनोऽपि(३)निषिध्यमानत्वे तन्निषेधात्मके तदात्मनि जगत्प्रवेशात् । [e]न हि

(१) लक्षणवाक्यस्य यद्यप्रतीयमान एव–'अन्योन्याभावाभावरूपः संसर्गाभावः'–इत्याकारकोऽर्थोऽभिप्रेतः स्यात्तदैवं खण्डनं श्लिष्टतरमित्यर्थः । (२) इतिशब्दो हेतौ । (३) तद् जगद्रूपमात्मा स्वरूपं यस्यान्योन्यस्य स तदात्मा, तस्य (अन्योन्यस्य तादात्म्यस्य वा) । तन्निषेधात्मके=अन्योन्याभावनिषेधात्मके ।

(१)घटः पटात्मेत्यनेन घटस्वरूपादन्यस्तदात्मा विहितः स्यात् । [d]यदि तु तादात्म्यं नामाभेदाख्यो धर्मः कश्चिदिष्यते, स घटपटाद्यधिकरणतया निषिध्यते, तदा संसर्गाभाव एव स्यात् । तस्मान्निर्विशेषणतादात्म्यान्तर्भूतं जगदिति कोट्यन्तराभाव(२)इति ।

टी० ॥ [a]"मैवमि"ति । यत्र प्रतियोगितदभावाभ्यां तृतीया कोटिस्तत्राभावाभावो न प्रतियोगी, इह तु न तथेत्यन्योन्याभावनिषेधोऽन्योन्यमेवेति परिहारार्थः ॥ नन्वन्योन्याभाव इति सञ्ज्ञामात्रं, नत्वस्यान्योन्यं प्रतियोगि येन तदभावनिषेधेऽन्योन्यपर्यवसानं स्यात्, किंतु तादात्म्यं तस्य प्रतियोगीति नोक्तदोष इत्यत आह—। [b]"तदात्मन"इति । तादात्म्याभावो न भवति योऽभावः स संसर्गाभाव इतिकृतेपि पूर्ववन्निर्विशेषिततादात्म्यसम्बन्नजगदन्तर्गततादात्म्याभावरूपत्वं संसर्गाभावस्य पतितमिति तदेव कौतुकमित्यर्थः । "तदात्मनोपि निषिध्यमानत्वे"इति, घटः पटात्मा न भवतीत्यनेनैव प्रकारेणान्योन्याभावस्य प्रतीयमानत्वे इत्यक्षरार्थः ॥ ननु 'तादात्म्याभावो न भवति संसर्गाभाव' इत्युक्ते तादात्म्यस्वरूपं कथं संसर्गाभावस्स्यादित्यत आह—। [c]"नही"ति । सुन्दोपसुन्दन्यायेन नञ्द्वयागते तादात्म्यं संसर्गाभाव इति पर्यवसाने निर्विशेषितत्तच्छब्दस्य जगत्परत्वे संसर्गाभावस्य जगदात्मत्वमेव स्यात् यथा घटः पटात्मेत्यत्र पटस्य घटात्मत्वमित्यर्थः ॥ ननु तादात्म्यनिषेधो नान्योन्याभावो येन तन्निषेधस्तदात्मा स्यात्, किंतु तादात्म्यस्य घटादिनिष्ठधर्मस्य निषेधस्तथा च तन्निषेधो जगद्धर्मो भवेन्नतु जगदिति न तदन्तर्गतान्योन्याभावात्मत्वं संसर्गाभावस्येत्यत आह—।[d]"यदि त्वि"ति ॥

(१) नहि घटः पटात्मा—इत्यनेन विहितस्तदात्मा (=तादात्म्यमन्योन्यं वा ) घटस्वरूपादन्यः स्यादित्यन्वयः ।

(२) कोट्यन्तराभावः, तादात्म्यान्तर्गतं जगदितिकोटितः कोट्यन्तरस्य शङ्कनीयस्याभाव इत्यर्थः ।

